❀ अनुक्रमणिका ❀

प्रकरण	विषय	पृष्ठाङ्क
१	हिन्दी अनुवाद के विषय में दो शब्द	क १
२	निवेदन	क ६
३	समर्पण	क ९
४	श्री प प बालकृष्ण की ब्रह्मविद्या पर सम्मति	क १०
५	उपोद्घात	क १२
	१ मंगलाचरण	क १२
	२ वेदान्त शास्त्र के अधिकारी पुरुष	क १३
	३ गुरुभक्ति और श्रद्धा	क १४
	४ वेदान्त विचारों में विपर्यस्त धारणाएँ	क १५
	५ शंकर भगवान् के ग्रन्थ	क १६
	६ श्री शंकराचार्य पर अयोग्य दोषारोपण	क १७
	७ शांकर ग्रन्थों का अध्ययन	क २०
	८ श्री शंकराचार्य का अवतारकार्य	क २१
	९ बौद्ध सम्प्रदाय की प्रभाविता	क २२
	१० श्री शंकराचार्य के शिष्य प्रशिष्य	क २३
	११ अद्वैत विज्ञान की विशेषताएँ	क २५
	१२ श्रुतिमाता की अमर प्रतिज्ञा	क २७
	१३ *परब्रह्म की अद्वितीय कारणता*	क २७
	१४ विपर्यस्त धारणाओं का विशेष स्वरूप	क २९
	१५ सत्यमिथ्या की विचित्र उलझन	क ३०
	१६ सेक्युलर प्रजातन्त्र शासन और सनातन हिन्दू धर्म	क ३३
	१७ वेदान्त शास्त्र की महनीयता और आधुनिक भौतिक विज्ञान की प्रगति	क ३८

❀ शुद्धिपत्र ❀

मुद्रण की अशुद्धियों से बचने के लिये, हर सम्भव प्रयास किया गया। हैदराबाद राज्य हिन्दी प्रेस के प्रधान व्यवस्थापक, श्रद्धेय पण्डित प्रियबन्धु जी ने इस दिशा में बड़ा परिश्रम किया। परन्तु खेद है, कि उनकी सजग एवं तीक्ष्ण दृष्टि को भी इस मुद्राराक्षस से कुछ हार ही खानी पड़ी।

प्रथम तो विषय ही गहन, संस्कृत भाषामय, और पुस्तक का हस्त लिखित अनेक संस्कृत ग्रन्थों के उद्धरणों से भरा हुआ, ऐसी दशामें संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ अक्षर संयोजकों को, बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। तथापि उन्होंने और विशेषतः उपर्युक्त पण्डितजी ने जो मुझे मनोनिवेश तथा निरलसता से सहायता दी, उसके लिये मैं उनका बहुत ऋणी हूं।

दूसरों को वंचित और चकित कर देना यही प्रायः अशुद्धियों का स्वभाव रहा है। अर्थात् जो नज़र में आगयीं, एसी अशुद्धियाँ नीचे दिखायी गयी हैं।

[संकेत, ऊ० = ऊपर से — नी० = नीचे से]

पृष्ठ	पंक्ति संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
क. २८	नी २	दष्टि	दृष्टि
क. २२	ऊ ६	बन्धा	कन्या
क २२	ऊ ११	उसक	उनक
क २३	नी ८	सका	सका।
क २४	ऊ ७	विश्रवि	विश्रुत

पृष्ठ	पंक्ति संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
क २१	ऊ ११	वृ (२-१-१)	वृ (२-१-२०)
क २९	नी १०	कर्तृव	कर्तृत्व
क ३०	ऊ ६	अविद्या	अविद्या
क ३५	नी १	देख	देखे
४	ऊ १२	उत्तिष्ठोनिष्ठ	उत्तिष्ठोत्तिष्ठ
९	नी ७	सौआग्य	सौभाग्य
१०	नी २	छीन	छिन
११	ऊ ४	था	या
,,	नी १	बेपवाही	बेपरवाही
१२	ऊ ४	कार्यों	कार्यो
१४	ऊ ७	धर्तो	धर्मो
२३	नी. ९	वाह्य	बाह्य
२९	ऊ ८	करपना	कल्पना
३२	नी. १४	वि रागना	वि-रागता
३६	नी १२	दाशनिक	दार्शनिक
४०	नी ११	शाक्तमान	शक्तिमान्
४३	नी ३	शक्ति की	शक्ति को
४७	नी ३	प्रतिवादक	प्रतिपादक
,,	नी ६	उसी को	उसी के
५०	ऊ १२	१-१-२	१-१-२०
५७	ऊ १२	किय	किया
,,	ऊ. १४	प्रातिमा	प्रातिभ
५९	ऊ ६	१-४, ६	१-४-६
६०	ऊ ८	महतत्त्व	महत्तत्त्व

पृष्ठ	पंक्ति संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
६०	ऊ १२	उत्पन्न	उत्पन्न
,,	नी ७	सोल्हा	सोलह
६१	नी १३	विद्वयनादि	विद्वयनादी
६२	नी ३	आभिहित	अभिहित
६३	ऊ ११	पर ब्रह्म	परब्रह्म
६९	नी ५	अकर्त्त	अकर्तृ
७३	नी ९	शतत	शतश
७५	ऊ ५	शुद्ध वेतन	शुद्ध चेतन
८२	ऊ १०	महपप्पा	महापाप्मा
८२	ऊ १३	(४–७)	(४-४ ७)
८३	ऊ ३	प्रतिदान	प्रतिपादन
८८	नी ५	ज्योतिलिंग	ज्योतिर्लिंग
१०६	नी ११	छां (६–२)	छां (६-३-२)
१११	ऊ ९	जव	जब
१२०	ऊ ८	१२२	१०६
१२६	ऊ ४	१–१–२२	१–१–२०
१३२	ऊ ७	मतव्य	मतव्य
१३३	नी २	जता	जाता
१५०	नी ३	अनघ	अनन्त
१५२	ऊ. ३	श्लोक ३६	श्लोक १६
१५३	ऊ ७	परमात्म	परमात्मा
,,	नी ३	ब्रह्म कारण	ब्रह्म, कारण
१५६	ऊ ५	सत्कायवाद	सत्कार्यवाद
१६४	नी. ५	अनुच्छेद	परिच्छेद

पृष्ठ	पंक्ति संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
१६५	नी ७	थ्रति	श्रुति
१६८	ऊ ८	द्वत	द्वैत
१७०	ऊ ६	भ्रन्ति	भ्रान्ति
१८१	ऊ ८	उयकारक	उपकारक
१८०	नी ८	में	के
१९२	ऊ १०	अग्नीनाम्	अनग्नीनाम्
२०५	ऊ ६	द्वैवी	दैवी
२०७	ऊ. १	अध्याल्य	अध्यात्म
२३०	नी ९	फ्द्द	फेद्द
२३४	ऊ १२	परश्रु	परशु
२३४	नी ४	प्रकाएण	प्रकरण
२३६	नी ७	जनो ने	जना के
२४२	ऊ ११	इहैं	इ हैं
२५१	नी ३	शिक्षा	शीक्षा
२५७	ऊ. ३	तं (२-९)	तै (२-६)
२६०	नी ७	अतएव	अतएव
३०१	नी ९	मूध्नें	मूर्ध्नि
३३७	ऊ ११	(२९)	(२६)
३३८	ऊ ०	(२९)	(२६)
३४५	ऊ ९	फ्लुटोनियम्	प्लूटोनियम्

❀ संक्षिप्त चिन्हों के सङ्केत ❀

अ०	=	अध्याय	गी०	=	गीता
आ०	=	आरण्यक	छां०	=	छान्दोग्य उ०
उ०	=	उपनिषद्	तै०	=	तैत्तिरीय उ०
ऋ०	=	ऋग्वेद	पं०	=	पंचदशी
ऐ०	=	ऐतरेय उ०	बृ०	=	बृहदारण्यक उ०
क०	=	कठ उ०	ब्र० सू०	=	ब्रह्म सूत्र
के०	=	केन उ०	मां०	=	माण्डूक्य उ०
कौ०	=	कौषीतकी उ०	मु०	=	मुण्डक उ०

श्वे० = श्वेताश्वतर उ०

आत्मविज्ञान

(१) हिन्दी अनुवाद के विषय में दो शब्द

इस पुस्तक में, **अद्वैतविज्ञान** के दो प्रबन्ध सगृहीत किये गये हैं, पहला है **'ब्रह्मविद्या** और उसके चतुर्दिक् उत्पन्न **अविद्यारण्य'** और दूसरा **'ईशावास्य** उपनिषद्'। पहला प्रबन्ध लगभग ढाई वर्ष हो गये, महाराष्ट्र भाषा में प्रथम प्रकाशित हो चुका था। उस पर कतिपय वन्द्य महात्माओं ने हृदयग्राही सम्मतियाँ प्रकट कीं। महाराष्ट्र के प्रथित यश **केसरी** पत्र के आदरणीय ज्ञान वृद्ध सम्पादक श्रीयुत ज स करन्दीकर जी ने, अपने पत्र की दि १७ नवम्बर १९५० की सख्या म, इस प्रबन्ध की उत्तेजना पूर्ण समालोचना की है। अब यह प्रबन्ध विशेष परिष्कारों तथा परिवर्द्धनों के साथ, **हिन्दी** भाषा में, वेदान्त प्रेमी सज्जनों के सम्मुख उपस्थित किया जाता है। दूसरा प्रबन्ध, अपनी एक विशेषता रखता है। इसमें ईशावास्य उपनिषद् की व्यापक दृष्टि से पर्यालोचना करने का प्रयास किया गया है, और साथ ही, उसका सरल सुबोध हिन्दी भाषानुवाद भी दिया गया है।

अनेक शताब्दियों की पराधीनता की धूम में, हमारी प्रिय मातृ भूमि को अनेक कष्टतम विपत्तियों का अनुभव करना पड़ा, जिसकी लम्बी कहानी हृदय को दहलानेवाली है। अन्त में कोई डेढ़ शताब्दी तक इस देश पर अँगरेजों का आधिपत्य रहा, जिसमें पहले शासनों की अपेक्षा, स्वास्थ्य, सुविधा, सुव्यवस्था इत्यादि कारणों से, शान्ति और सुरक्षा तो, कहीं अधिक मात्रा में बनी रही, परन्तु इनकी कठोर शोषण नीति के कारण, जनता में असहायता और दारिद्य ही बढ़ता रहा। प्रजा में निर्बलता तथा पारस्परिक दुर्भावनाओं को प्रोत्साहित कर देना, यही इनके कपट राजकारण का मूल मन्त्र रहा, जिसके फलस्वरूप, इन्होंने अपनी सामन्तशाही की भरकम परिपुष्टि की, और अपने देश तथा जाति के लिये, अपारमेय लाभ उठा लिया। परन्तु काल की बलिहारी विचित्र

रही, अन्तरराष्ट्रीय विरुद्ध परिस्थितियों के कारण, इनको भी भारतवर्ष को छोड़ जाना पड़ा। इस कारण हमको स्वायत्तता तो मिल गयी पर फिर भी, अपनी अमेद्य नीति के अनुसार इन भद्र पुरुषों ने, जिन जिन झगड़ा और पचड़ों के विषा को यहा उपस्थित कर रखा सभी विचारवान् पुरुष जानते हैं।

अब हमको इस प्रश्न पर गम्भीर विचार करना है, कि हमारे प्रिय देश का क्याकर ऐसा अनुकम्पनीय दुर्भाग्य रहा, कि उसकी जनता अनेक शताब्दियों से भेड़ बकरियाँ बन गयी, और आपत्तियों पर आपत्तियाँ ही सहती गयी ? गत इतिहास की चिन्तनशीलतासे पर्यालोचना करने पर यही प्रतीत होता है, कि अपनों के हाथों ही यह देश नष्ट भ्रष्ट हुआ है। अन्यों पर दोषारोपण करना, केवल मूर्खता का राग है। जिस देश के भीतर दीमक न लगी हो उसके किले को कोई बाहरी शत्रु नष्ट नहीं कर सकता। हमने जो धर्म के सम्बन्ध में, विशेषतः राजकारण की दृष्टि से, अक्षम्य अपराध किये हैं, उसी का घोर अभिशाप हमको भोगना पड़ रहा है। अतएव हमारा सब प्रथम कर्तव्य है कि, इन प्रमादों को हम कोसों दूर रखें। Eternal vigilence is the price we have to pay for our Liberty हमारे स्वराज्य की सुरक्षा के कारण हमको, क्या प्रान्तीयता, क्या जातीयता क्या भाषा सम्बन्धी, सभी सङ्कीर्ण भावों को होम देना आवश्यक है। एवं हर दृष्टि से हम स्वाधीनता के सच्चे प्रहरी बनने चाहिये।

महाराष्ट्र के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि परकीयों के आक्रमणों और उत्पीड़नों के भीषण काल में, देश धर्म, और समाज की रक्षा के अर्थ, उसने अथक पुरुषार्थ किये हैं। जब धर्म पर कठोर अत्याचार हो रहे थे, जब सैकड़ों राज्य सिंहासन डावाडोल होगये थे, हिन्दू प्रजा का कोई त्राता न था, ऐसी दुरवस्था में, अकथनीय विपत्तियाँ सहते हुए जिस लोकोत्तर उत्साह और पराक्रम से महाराष्ट्र के आद्य स्वराज्य प्रतिष्ठापक वीरश्रेष्ठ महाराजा **शिवाजी** ने, परकीयों की प्रबल सेना के विरुद्ध लोहा लिया, और पीड़ित प्रजा का उद्धार किया, पढ़ कर नसों में बिजली दौड़ जाती है। इनकी जीवनी अनेक रोमाञ्चकारी घटनाओं से भरी पड़ी है। केवल सोलह वर्ष की आयु में इन्होंने

अपनी शासन मुद्रा बनाली थी, जिसपर 'प्रतिपच्चन्द्रलेखेव वर्धिष्णुर्विश्ववन्दिता शाहसूनो शिवस्यैषा मुद्रा भद्रा विराजते' ऐसा उत्तेजना पूर्ण भावावेश अङ्कित कर दिया था। सारे भारत में एक प्रबल **हिन्दवी स्वराज्य** की संस्थापना हो, यही उनका प्रभावोत्पादक ध्येय रहा। सन १६४६ में, अपने एक पत्र में, वे लिखते हैं —'हमारे आद्यकुल देवता स्वयम्भू **शिव** जी ने, हमको अबतक सुयश दिया है और भविष्यत् में, निश्चय वे हमारे मनोरथों की परिपूर्ति **हिन्दवी स्वराज्य** की प्रतिष्ठा में करेंगे, (प्रकट है, कि) ऐसे राज्य की संघटना, यही श्रीजी की दृढ मनीषा है'।

इस आभामय काल में, महाराष्ट्र की इस नव चेतना के साथ स्वनामधन्य **समर्थ** रामदास बने हुअे थे। इन्हीं की प्रभाविताने देश के अनेक धुरन्धर नेता और वीर पुरुष इसी राजनैतिक ध्रुवतारक की ओर आकृष्ट हो गये। श्री ब्रह्मेन्द्र स्वामी, श्री गोविन्द दीक्षित इत्यादि बहु संख्य साधु पुरुषों ने भी 'हिन्दूपद पादशाही' के उच्च उद्देश्य को शुभाशीर्वाद दिया। इतना ही नहीं, उसकी सिद्धी के लिये हर सम्भव प्रयत्न किये। आगे चलकर स्वराज्य की प्राण प्रतिष्ठा हुई। इसके उपरान्त महाराष्ट्र में अनेक शूर वीर पुरुष तथा राजकारण प्रवीण नेता उत्पन्न हुअे, जिनको, स्वराज्य विस्तार के लिए, कितना प्रचण्ड राष्ट्रीय संग्राम और आत्म बलिदान करना पड़ा, इतिहास के तत्वज्ञ जानते हैं। क्या महाराष्ट्र में और क्या महाराष्ट्र के बाहर, इन पराक्रमी पुरुषों की जो आव भगत हुई, उसका प्रमुख कारण, इन पुरुषों में 'एक छत्री हिन्दवी स्वराज्य' की उच्च भावना स्फुरद्रूप थी, यही था, और उनके प्रबल प्रयत्न उसी दिशा में होते रहे। इसका सिद्ध प्रमाण अनेक ऐतिहासिक घटनाओं तथा राजकीय पत्र व्यवहार से मिलता है। परन्तु कराल काल की विडम्बना थी, कि असंख्य विषम परिस्थितियों के कारण, उनको अपने उद्देश्य की परिपूर्ति से वञ्चित ही रहना पड़ा।

एक महाराष्ट्र की ही यह बात नहीं, इस देश के अनेक प्रान्तों सूरमा पुरुषों ने, और विशेषत उदार चरित राजपूतों ने अपनी अपनी

के अनुरूप देश भक्ति की उदात्त कामना से ध्यानीय पराक्रम किये हैं जो ज्वलन्त नक्षत्र की भाँति इतिहास में चमकते दिखाई देते हैं। क्यों कि हिन्दुस्तान की एकात्मता यह कोई अजनबी बात नहीं है। प्रागैतिहासिक काल से यह चली आई है हमारे धार्मिक सङ्कल्पों में संस्कारों में इतिहास पुराणों में, प्रत्युत भौगोलिक स्वयं सिद्ध मर्यादाओं से भी इसी एकात्मता की निर्विवाद सिद्धि होती है। अतः उसकी सुरक्षा करने में कोई भी प्रान्त, जाति या समाज, पश्चात् पद नहीं होगा।

उपर्युक्त विचारों से राष्ट्रभाषा का प्रश्न अशेष महत्ता रखता है। २६ जनवरी १९५० को स्वतन्त्र भारत का संविधान प्रारम्भ हुआ। इसमें शासनासीन राष्ट्रभक्तों ने हिन्दी भाषा को सिंहासन पर अधिष्ठित कर दिया है। अब देश की सब प्रधान भाषाओं का उसे नेतृत्व करना है। ऐक्य भावना को सुदृढ़ चिरस्थायी बनाने में राष्ट्रभाषा का कितना प्रभावोत्पादक हाथ रहता है सभी जानते हैं। राष्ट्र के नवनिर्माण में हम को ऐसा संगठित होना है, कि जिससे जनता की सारी कर्तृत्व शक्ति नवचेतना से सुसम्बद्ध हो कर देश की सर्वांगीण उन्नति की ओर निरत हो। इस नव चेतना को प्रबुद्ध करने के लिए तदनुकूल साहित्य का निर्माण भी आवश्यक है। किसी भी क्रान्ति की सफलता, उन साहित्यकारों की साधना पर निर्भर है, जिनकी वाणी में राष्ट्र की भावना साकार हो उठती है। पर इसको सच्चा धर्म और सच्चे तत्त्वज्ञान का अधिष्ठान परमावश्यक होता है।

हम भूलना नहीं चाहिये कि भारतवर्ष की सच्ची आत्मा आत्मविज्ञान है जिससे भाषायता, प्रान्तीयता आदि संकीर्ण भावों को घूँघट ले कर देश में उमड़ने का हम जो भय लगा हुआ है, आप से आप नष्ट हो जाएगा। आत्मविज्ञान का ध्येय विश्वबन्धुत्व है, जो इस देश के लिए अति प्राचीन रहते हुए भी चिर नवीन तथा स्फूर्ति जनक है। हिन्दी साहित्य सेवियों का अब कर्तव्य है कि वे, विविध विषयों पर अपने अपने साहित्य को, इतना समुज्ज्वल बनाएँ, कि उससे, इस ऊँचे आदर्श की सुव्यक्तता हो। इसी साधना से राष्ट्र भाषा समृद्ध और व्यापक हो सकती है।

इस पुस्तक का **आत्मविज्ञान** से साक्षात् सम्बन्ध है इसके द्वारा लेखक को, अपने बहु संख्य प्रेमी भाइयों की सेवा करने और हिन्दी वेदान्त साहित्य की अभिवृद्धि में अल्पसा योगदान करने का जो सुअवसर प्राप्त हुआ है, उसी में वह अपनी आन्तरिक तुष्टि का अनुभव करता है। उसकी मातृ भाषा **महाराष्ट्री** है, और प्रसन्नता की बात है, कि इस व्यापक अभिधान को भविष्यत् म **हिन्दी** वाणी ही अपनी प्रभाविता से सार्थक करने वाली है। लेखक ने हिन्दी भाषा का कुछ अभ्यास तो कर लिया है, पर उसके चिर कालिक अवगाहन का लाभ, उसे नहीं हुआ है। इस लिए उसक प्रेमी मित्र विद्वन्मान्य श्री रामनिरञ्जन पाण्डेय M A L L B हैदराबाद यूनिव्हर्सिटी के हिन्दी के प्राध्यापक और साहित्य वेदान्त शास्त्री जी ने इस पुस्तक की भाषा को सुधारने में जो उल्लेखनीय सहायता की, उसके लिए वह उनका सदाके लिए ऋणी है।

लेखक

म दा गाडगील

(२) निवेदन

भारत वर्ष में **अध्यात्म विद्या** का विषय अत्यन्त प्राचीन है। इसका मूल वेदों में और उपनिषदों में पाया जाता है। इस विद्या की जितनी पवित्रता और महानता मानी गई है, उतनी दूसरी किसी विद्या की नहीं।

अध्यात्म विज्ञान का प्रतिपादन और व्यापक रूप से निरूपण, संस्कृत तथा इस देश की सैकड़ों प्राकृत भाषाओं में प्राचीन काल से होता चला आया है और वर्तमान काल तक, यानि कोई ३०/४० साल के पूर्व तक, इस विषय का विचार, ऊहापोह और चर्चा, जनता में होती रही है। परन्तु अब दशा कुछ विपरीत सी हो गई है। उसकी ओर से, क्या सुशिक्षित, क्या अशिक्षित, सभी लोगों में उदासीनता ही छा गई है। इस दशा के कारण भी वैसे ही हो चुके हैं। वास्तव में देखा जाए तो **आत्मविज्ञान, तत्त्वदर्शन, अध्यात्मविद्या** इन शब्दों के उच्चारण मात्र से ही, ऐसे ऊँचे सिद्धान्तों की कल्पना होती है, जो गम्भीर और सूक्ष्मदर्शी विचारों से उज्ज्वल और उद्बोधक हों। परन्तु प्रवचन या ग्रन्थ निरूपण इन शब्दों से, क्लिष्ट पारिभाषिक शब्दों की भरमार, 'अयं घट अयं पट अवच्छिन्नावच्छेदकत्व भाव' इस प्रकार की जोशीली चर्चा, पद वाक्यार्थों की खींचातानी, इत्यादि दृश्य ही आँखों के सामने उठ खड़े होते हैं, और अन्त में कोई सफलता या समन्वय भाव नहीं दिखाई देता। प्रमाण प्रमेय सम्बन्ध इत्यादि विषयक जो वाद प्रतिवाद होते हैं, उनमें आधुनिक शिक्षितों को तथ्य दृष्टि की अपेक्षा काल्पनिकता का ही प्राधान्य दीख पड़ता है।

इससे सन्देह होता है, कि क्या हमारे दार्शनिक सिद्धान्त भी कोई कल्पना प्रसूति रूप हैं? रज्जुसर्प और शुक्तिरजत के दृष्टान्त, जो इन निरूपणों में बाहुल्य से दिये जाते हैं, क्या वे ही हमारे सिद्धान्तों पर अपना बदला तो नहीं चुका रहे हैं? सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर यही प्रतीत होता है कि

हमारी प्रतिपादन और निरूपण प्रणाली में ही कुछ खलबली हो गई है, कुछ मन्य मिथ्या विचारों का मिश्रण हो गया है। प्रकट है, कि जिस प्रतिपादन पद्धति से बुद्धिशील श्रोतृवृन्द या शिक्षार्थियों का समाधान नहीं होता, मानों जिसमें 'राम' ही नहीं रहे, वह पद्धति समझ में कैसे आए और टिके भी क्यों कर ? जो वस्तु अनुपयोगी हो गई, उसका स्वयं नष्ट हो जाना अवश्यम्भावी है, यह प्रकृति का अटल नियम रहा है।

कतिपय विद्वानों का आशय है कि, अब काल का जबरदस्त परिवर्तन हो चुका है अत 'अणु पन्था वितत पुराण' (बृ ४-४-८) ऐसे केवल प्राचीन महर्षियों की अनुशासन रीति से दार्शनिक रहस्यों का हल होना दुर्घट है। इस युग में भौतिक विज्ञान शास्त्रों ने अद्भुत उन्नति की है। मानस विज्ञान शास्त्र में भी बहुत कुछ प्रगति हो गई है। इस कारण जीवात्मा, जगत् और विश्वचालक शक्ति के सम्बन्ध में जो कुछ विमर्श या अनुशीलन होना है, एकबार ही इन दो शास्त्रों की मार्गणा से होना ही उचित है।

इन दोनों आक्षेपों में कुछ सत्यता तो अवश्य है, तथापि इस उपलक्ष्य में कुछ और भी विचार हो सकता है।

काल का परिवर्तन तो हो ही गया है, परन्तु औपनिषद् तत्त्वज्ञान एक अपनी ऐतिहासिक महत्ता रखता है, जो हमें भूलना नहीं चाहिए। पुरानी अनुशासन की रीति केवल दूषित है, यह नहीं कहा जा सकता। हाँ कुछ बड़े दोष तो उसमें अनिवार्यता से घुस पड़े हैं। यदि उनको हटा दिया जाय, तो यह पद्धति उच्चश्रेणी की और गम्भीर न्यायनिष्ठ हो सिद्ध होगी।

गहरा असर पड़ा और उसके परिचायक चिन्ह आज भी हमारे ग्रन्थों में
भाँति. दीख पड़ते हैं, ये सब घटनाएँ जैसी उद्वेजक हैं, वैसी ही वे
विज्ञान पर विशिष्ट दृष्टिकोणों से प्रकाश भी डालने वाली हैं।

इन सब विचारों को समक्ष रख कर, अद्वैतविज्ञान के ये दो प्रबन्ध,
ीन पद्धति के अनुसार, परन्तु साथ ही उन पर आधुनिक दृष्टि डालते हुए
पुस्तक द्वारा प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

(३) समर्पण

अद्वैत विज्ञान का उदय इस भारत वर्ष में अनेक सहस्राब्दियों के पूर्व ही हो चुका था। पारदर्शी प्राचीन महर्षियों की, हमारे लिये यह एक अनमोल देन रही है। परन्तु इसकी सुरक्षा जिस सावधानी और यत्नशीलता से करना हमारा कर्त्तव्य था, हमने नहीं की। लेखक का यह प्रबल विश्वास है कि इस अक्षम्य उपेक्षा के कारण, हमको अतीत काल में धार्मिक सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्रों में घोरतर उपद्रव और विप्लव सहने पडे।

अब केवल परमात्मा के अद्‌भुत घटना चक्र से इस देश में पहली बार प्रजातन्त्र स्वराज्य का श्रीगणेश हो गया है। इस सुअवसर को भी यदि हम खो बैठे तो हमारे दुर्भाग्य की सीमा न रहेगी। केवल हमारे सर्वांगीण उत्कर्ष के लिये नहीं, तो सारे संसार में शान्ति समृद्धि की संस्थापना के लिये हमारा प्रधान कर्त्तव्य है, कि धर्म और तत्वज्ञान के विषय में अतीत इतिहास में, हमने जो घोर प्रमाद किये हैं, उनको अब हम जड से हटा दें, और इन प्राचीन तत्वों की फिर से सुप्रतिष्ठा करें।

इस दृष्टि से यह हार्दिक प्रयत्न, पूज्य पितृ चरणों को वन्दन करते हुए 'ब्रह्मार्पण' अर्थात् जनता जनार्दन की सेवा में समर्पित किया जाता है।

म. दा. गाडगील

श्री. प. प. स्वामी कालकृष्ण पुरी

(मध्य प्रदेश रायगढ)

की

ब्रह्मविद्या पर सम्मति

'ब्रह्मविद्या और उसकी चारों ओर आनिर्भूत अविद्यारण्य' इस प्रबन्ध को पढने के बाद, इस संबन्ध में, मैं कुछ लिखूं ऐसा प्रबन्ध लेखक का अनुरोध देख कर, मैं निम्न कतिपय शब्द लिखने का प्रयास करता हूँ। मैं इस विषय का विज्ञ नहीं हूँ, परन्तु प्रबन्धान्तर्गत विचार और उनकी सप्रमाण रचना तथा युक्ति, श्रौत वाक्यानुसारिणी है, और मेरे विचारों से अधिकांश मिलती है। वास्तव में जैन और बौद्धों के शासन काल में मानवी कल्पनाओं के तर्कराज्य में प्रतिपक्षियों के प्रबल युक्तिरूपी कृष्णमेघों ने, कितना ऊँचा उडान किया था, और भारतीय औपनिषदिक तत्त्व-ज्ञान पर कैसा आच्छादन डाल दिया था इसकी थोडी कल्पना, प्रबन्ध के अन्त में दिये हुये परिशिष्टों से पाठकों को हो सकती है। उपनिषद् सिद्धान्त, और तद्विषयक् आधुनिक विद्वन्मान्य पंडितों के ग्रन्थ रूप से बार बार प्रकटित किये गये वेदान्त विचार, इनमें जो भेद है, वह इसमें स्पष्ट दिखाया गया है। वेदान्त पर अज्ञानता से जो प्रक्षेप किये जाते हैं, उनका उचित उत्तर इसमें दिया गया है। सच्ची बात तो यह है कि, वेदान्तशास्त्र,'मानव को आलसी, निष्क्रिय, कर्तव्य पराङ्मुख और उदास बनानेवाला शास्त्र

नहीं। प्रत्युत मानव-जीवन को यथोचित मार्ग दिखलाने वाला, विपत्तियों में धैर्य देनेवाला, और इस विश्व के मूलतत्वों के विषय में जो अज्ञान है, उसे निवृत्त कर आत्मस्वरूप के निःसंदिग्ध निर्णय से, अखण्ड शान्ति और सुख देनेवाला निश्चित साधन है।

परन्तु पीढियों से चली आती हुई चाली (रीतियाँ) तथा शास्त्रीय सिद्धान्त विषयक अज्ञानपूर्ण रूढ परंपराओं का जो परिणाम, हमारे मन पर पड़ गया है, वह हमको भ्रम में डाल देता है; और इस भ्रम की हद यहा तक पहुँचती है कि, फिर हम साक्षात् परमेश्वर का कहना भी सुनने को तय्यार नहीं होते।

मुझे आशा है कि, प्रबन्ध लेखक मान्यवर गाडगिल का यह सदय अन्तःकरण से लिखा हुआ निबन्ध वेदान्त जिज्ञासुओं को सच्चा मार्ग दिखानेवाला हो। अन्त में वह सर्वव्यापक ज्ञान-स्वरूप, सर्वसापेक्ष शब्दातीत, अद्वैत ब्रह्म, अपने चतुर्दिक् अपनी सत्तास्फूर्ति से ही उत्पन्न हुये अविद्यारण्य को निवृत्त कर, हम जिज्ञासु जनों पर अपना स्वरूप प्रकट करे, और शुभ प्रार्थी लेखक के परिश्रम को सफल करे, ऐसी प्रार्थना करते हुये मैं लेखनी को यहा पर विराम देता हूँ।

वर्तमान निवास
हैदराबाद (दक्षिण)
दि. १०-११-१९४६ ई.

एक परिव्राजक

[५] उपोद्घात

। अतिकल्याणरूपत्वाश्चित्यकल्याणसंश्रयात्
स्मर्तृणा वरदत्वाच्च ब्रह्म तन्मंगलं विदु ।
(उपनिषद् शान्ति पाठ)

मंगलाचरण

किसी कार्य के प्रारंभ करने के पहले परमात्मा का पूजन वन्दन या स्मरण करना, भारतवर्ष में शिष्ट संप्रदाय माना गया है। पाश्चात्य देशों में ऐसी प्रथा (धार्मिक उत्सव या सम्मेलनादि छोड़कर इतरत्र) नहीं दिखाई देती। पर हमारे यहाँ कोई भी व्यक्ति का या समाज का कार्य हो, या कोई सभा का अधिवेशन हो, बिना परमात्मा के पूजन या स्मरण के, हम एक पग भी आगे नहीं रखते। किसी कार्य का 'श्रीगणेश' करना इस का अर्थ ही प्रारम्भ करना रूढ हो गया है। कॉंग्रेस जैसी राजनैतिक सभाओं में भी हमारी परतन्त्रता के काल में मङ्गलाचरण की प्रथा थी और वह नमन वेद, कुरान, अवेस्ता, और बाइबिल आदि धर्म ग्रन्थों के आधार से किया जाता था। परन्तु पाश्चात्यों के बड़े बड़े अधिवेशनों में या कार्य कारिणी सभाओं में अथवा संगठन समितियों में ईश्वर का वन्दन या स्मरण नहीं हुआ करता वर्तमान काल में 'युनायटेड नेशन्स ऑर्गनायज़ेशन' नाम की साठ राष्ट्रों की जो अपूर्व जागतिक महत्ता रखनेवाली सभा अमेरिका में प्रस्थापित हुई है, और जिसके अधिवेशन न्यूयॉर्क या अन्य शहरों में हुआ करते हैं, और जिसका महान उद्देश्य जगत् में जितनी हो सके उतनी शान्ति और समता स्थापन करने का है, उसके प्रारंभिक अधिवेशन में भी, किसी राष्ट्र नेता को परमात्मा का स्मरण हुआ सा प्रकाशित नहीं हुआ है। ग्रन्थों के निर्माण में भी यही दशा है। ग्रन्थारम्भ में न कहीं 'श्री' है न 'नम'। परन्तु इन लोगों को अपनी कृतियों तथा अनेक व्यवसायों में जैसी सफलता होती है, प्राय हमें नहीं होती। हम को तो विघ्नों की भरमार झेलनी पड़ती है। 'श्रीगणेशजी सदा सहाय' कहने को

तो हैं हम, पर विजय होती है उन लोगों की जो उनको जानते तक नहीं। तो स्वाभाविक ही प्रश्न होता है कि ऐसा क्यों ? मर्म यही है कि, यदि हम किसी काम को सौहार्द से, सत्य निष्ठा से और विवेक दृष्टि से करें, तो हजार हिस्से उस में यश निश्चित ही मिलता है। और यदि कदाचित् सफलता लाभ न हो, तो भी घबड़ाने की कोई बात नहीं, पुनश्च सम्पूर्ण शक्ति लगा कर विमर्श के साथ प्रयत्न करना चाहिये, चाहे आरम्भ में मंगला चरण किया हो, या नहीं। बड़े ठाट का मंगल और स्वस्ति वाचन कराके, अब हम परमात्मा के कुछ ऋणी नहीं, इस वृत्ति से, सौहार्द आदि गुणों की उपेक्षा कर कार्य करने लगे तो, सिद्धि हाथ नहीं आ सकती। परमात्मा को मंगल-आचरण अर्थात् सदाचरण प्रिय है। स्तोत्रों की भरमार कैसे प्रिय हो सकती है ? मंगल का अभिप्राय, ईश्वरनिष्ठा और सत्यनिष्ठा की प्रतिज्ञा है। जिन की ऐसी मनोभूमिका सुसिद्ध है। उनका प्रत्येक शब्द मंगलमय है। उनको अलग शाब्दिक मङ्गल पाठ की आवश्यकता नहीं। **श्रीमच्छंकराचार्य** ने ब्रह्मसूत्र भाष्य के प्रारंभ में इशनमन नहीं किया, परन्तु कई पण्डित गण उनके कुछ प्रारंभिक शब्दों को लेकर, उन्होंने ईश नमन बराबर किया है, ऐसा सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। यह तात्कालिक रूढ विचारों का परिणाम है। विवेक दृष्टि से ऐसे आग्रह की कोई अपेक्षा नहीं। सर्व साधारणत यह ध्यान में रहे कि यदि हमें उन्नति की आकांक्षा है तो हमारी ईश्वरनिष्ठा अविरत बनी रहनी चाहिये और प्रसग २ पर नमन आदि करना तो उचित ही बात है क्योंकि उसी से हमारा आध्यात्मिक बल बढता जाता है।

वेदान्त शास्त्र के अधिकारी पुरुष

वेदान्त शास्त्र के विषय में भी हमें ईश्वरनिष्ठा की अत्यन्त आवश्यकता है, जो सत्यनिष्ठा से किसी प्रकार पृथक् वस्तु नहीं है। वेदान्त शास्त्र पढ़ने के अधिकारी कैसे हों, इस सबंध में साम्प्रदायिक ग्रन्थों में बड़ा विस्तृत वर्णन हुआ करता है। शमदमादि षट्क के साथ साधन-चतुष्टय सम्पन्नता इत्यादि का गम्भीर प्रतिपादन देख कर, सम्मति होती है कि, ऐसा पुरुष एकान्त सत्यनिष्ठ सच्चरित्र, परायण सब पर प्रेम रखने वाला, तथा बुद्धिशाली ...

आवश्यम्भावी है । वर्णन विस्तार तो लग भग ज्ञानी पुरुष का ही दिखलाइ देता है। परन्तु अभ्यासक तो दूर रहे, ये लक्षण बडे २ पण्डितों में भी कठिनाइ से पाये जाते हैं । गत सहस्र वर्ष के इतिहास में भारत वर्ष पर जो परकीयों ने आक्रमण किये और उपद्रव ढहाये, उसके कारण देश मे कहीं शान्ति नहीं थी । अत ऐसे महानुभावों की हमारे समाज में विरलता ही रही । न कोइ धर्म का शासक था न विद्या का पुरस्कर्ता। ऐसी अवस्था में वेदान्त विषय पर लिखनेवाले कतिपय ही निकले यही बडी बात है । और उन में यदि अधिकार सम्पन्नता न हो, तो कोइ आश्चर्य की बात नहीं । यह समय की बलिहारी है, यहां किसी की निन्दा करने का उद्देश नहीं है, परन्तु पाठक विचार कर सकते हैं कि जब कोइ अनधिकारी लेखक, ग्रन्थ लिखने बैठते हैं, तो क्या २ करते हैं। उनके प्रयास यही होते हैं, कि पुराने ग्रन्थ जो उन को उपलब्ध हों। उनको प्रथम इकठ्ठा कर पढ़ लें और प्रतिपादित विषयों की टिप्पणियाँ बनालें । और फिर अपने उद्दिष्ट ग्रन्थ के विभागों की कल्पना कर, उन में सब बातें निविष्ट कर दें तो बन गया ग्रन्थ ! अब उसमें योग्यायोग्यता का विचार न्यायनिष्ठुर दृष्टि से कौन करे ? विरोधी बातों का समन्वय, या बुद्धिमत्ता से निषेध भी कौन करे ? अर्थात् ग्रन्थ में विसगतता रह जाती है और साधारण जनों को 'ऐसाभी है और वैसाभी है' ऐसा कहने का अवसर प्राप्त होता है ।

गुरु भक्ति और श्रद्धा

ऐसे ग्रन्थ और लग भग इसी प्रकार के गुरु मिल जाने पर छात्रगण बडी दुविधा म पड जाते हैं ! 'गुरूक्त वेदान्त वाक्यार्थ अवश्यम्भावित्व निश्चय' ऐसी 'श्रद्धा' शब्द की व्याख्या ग्रन्थों में लिखी हुइ है । पर एसी दृढ भावना रखते हुए भी, सच्चा अर्थ अपनी सूक्ष्म बुद्धि को स्पष्टतया प्रतीत होना अनिवार्य है, यह मर्म ध्यान में ही नहीं आता । मध्यकाल में हमारे देश में ऐसे तथा कथित गुरुजनों का एक भारी स्तोम मच गया था । **श्रीसमर्थ रामदास स्वामी** ने एस गुरुओं की बडी कडी खबर ली है (देखिये उनके 'लघु काव्य' जो धूलिया के सत्कार्योत्तजक सभा ने शालिवाहन शके १८६१ (इ स १९३९) में प्रकाशित किये हैं ।) गुरु के विषय में —

। गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वर
गुरु साक्षात्परब्रह्म, तस्मै श्रीगुरवे नम ।

इसका सत्य अर्थ परब्रह्म ही ब्रह्मदेव विष्णु और महादेव हैं। तथा वे ही हमारे साक्षात् गुरु हैं। परन्तु इस के विपरीत हमारे यहां वाले गुरु ही परब्रह्मादि सब कुछ हैं, ऐसा अर्थ किया जाता है। वेदान्त शास्त्र की दृष्टि से संसार का कोई भी गुरु परब्रह्म नहीं है। हाँ, 'बाधसामानाधिकरण्य' की एक पारिभाषिक रीति वेदान्त शास्त्र में मानी गयी है, उससे सारा जगत् ही ब्रह्मरूप कहा जाता है। पर इसमें तो कोई गौरव गरिमा की बात नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है। कि, गुरुमहिमा के सम्बन्ध में गत काल में हमारी धारणाएँ अतिरंजित हो गयी थीं, और उसका अवशेष बहुत जगह आज भी पाया जाता है। 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इस गुरुवाक्य पर दृढ़ विश्वास हो गया तो पूरा काम बन गया, ऐसा भ्रम प्रचलित हो गया है। 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' यह तो ठीक है। परन्तु श्रद्धा और ज्ञान पर्याय शब्द नहीं हैं। केवल वाक्य की सत्यता का दृढ़ विश्वास क्या करेगा? उससे सम्यग्ज्ञान कैसे हो? ज्ञान के लिये तो प्रयास करने होते हैं। गुरु के सामने अपनी सब शंकाएँ खुले अन्तःकरण से रखनी पड़ती हैं, और ऊहा पोह तथा विचार विमर्श के बाद ही सम्यग्ज्ञान का उदय हो सकता है।

वेदान्त विचारों में विपर्यस्त धारणाएँ

खेद की बात है कि वेदान्त साहित्य में अनेक प्रबन्ध, ऐसे भी लिखे गये हैं जिन में दोषान्वित कल्पनाओं की संकीर्णता दिखाई देती है। इसके परिणाम स्वरूप उपर्युक्त श्रद्धावाले बहुसंख्य साधक प्रस्थान त्रयी के मौलिक सिद्धान्तों से दूर भटक गये हैं। इसी आशय की सम्मति स्वर्गीय महामहोपाध्याय डॉ० गंगानाथ झा भूत पूर्व चान्सलर इलाहाबाद विश्व विद्यापीठ, ने भी प्रकट की है। अपने 'शांकर वेदान्त' नामक ग्रन्थ के पृष्ठ २३४ पर वे लिखते

Shankaracharya and his teachings very much misunderstood by even well

well intentioned scholors They have also been unduly extended and mis applied by his unthinking followers

दूसरे एक लेखक जिनका नाम Mr E P Horwitr है अपने 'वेद और वेदान्त नामक पुस्तक के पृष्ठ २१३ पर लिखते हैं —

At present Aryan idealogy is spineless a peal without the orange an empty word a war whoop an imitation gem Adwaita has become a toy and te hnical hobby of the learned a new revivalist will come may-be next century from Red Russia ?

इस पुस्तक के प्रथम प्रबन्ध पर, ऐसा प्रबल दोषारोपण किया गया था कि उसमें श्रीशकराचार्य जी के मौलिक सिद्धान्तों के विरोधी किम्बहुना द्वैत सम्प्रदायिक विचारों का ही प्रतिपादन किया गया है। इसका कारण यह है, कि हमारे समाज म औपनिषदिक अद्वैत सिद्धान्त के विरोधी अनोखी धारणाएँ प्रश्रय पा गयी हैं। और इसीलिए सत्य प्राचीन तत्त्व आज हमें अजब और नये मालूम हो रहे हैं। वास्तव में प्रस्तुत लेखक ने कोइ अपूर्व दार्शनिक तथ्य का रहस्योद्घाटन नहीं किया है। सनातन ब्रह्मकारणता सिद्धान्त अर्थात् चिद्विलास-पक्ष का ही उसने स्पष्ट रीति से समर्थन किया है। श्रुतिप्रामाण्य को कहीं नहीं त्यागा है। जगद्विख्यात महामना स्वामी विवेकानन्द ने जिन श्रौत सिद्धान्तों के गम्भीर निरूपणों से पश्चिम के गण्य मान्य विद्वानों को आश्चर्य कम्पित कर दिया था, वे ही इन प्रबन्धों के विषय बने हुए हैं। वर्तमान दिगन्त विश्रुत कीर्ति सर्वेपल्ली सर राधाकृष्णन् जो भारत के सौभाग्य से आज हमारे उपराष्ट्रपति हैं, उनकी भी यही उच्चतम विवेक प्रणाली रही है। बङ्गाल के अनेक मेधावी सज्जन इन्हीं मतों के समर्थक हैं।

शङ्कर भगवान् के ग्रन्थ

लेखक श्रीशङ्कराचार्य का परमभक्त है। उनके नाम पर सैकड़ों प्रबन्ध अनेक शताब्दियों से चले आये हैं। परन्तु अन्वेषकों की यही अभिमति है कि उनमें से उनके बनाये

प्रबन्ध बहुत ही अल्प हैं। 'इति श्रीमच्छंकराचार्य विरचितम्' ऐसा अन्त में रहना यह कोई उनकी कृति का एकान्तिक गमक नहीं। बहुतसे तो सम्भवतः उनके पांच, छः पीठों पर विराजे हुए परिव्राजकों के हो सकते हैं। नहीं तो उनके भक्तिपूर्ण शिष्यों ने गुरुमहात्म्य को बढ़ाने की सद्भावना से अपनी ही कृतियां, उनके नाम से विख्यात करायी हों तो असम्भव नहीं। देखना यह है कि, इन प्रबन्धों में कहीं मूलगामी विरोधी प्रतिपादन है क्या? यदि है, तो उनमें से, एक ही पक्ष उनका हो सकता है, और दूसरा किसी अन्य का। उपासना मार्ग के सम्बन्ध में अथवा तार्किक ऊहापोहों में कभी कदाचित् विरोध दिखाई दे, परन्तु तात्त्विक प्रतिपादनों में कोई भी विद्वान् व्याघात दोषों को नहीं होने देगा। फिर श्रीमदाचार्य की तो बात ही अलग है। जो ब्रह्मसूत्र भाष्य ग्रन्थ, उनके नाम पर प्रसिद्ध है, वह तो उन्हींका होने में सन्देह नहीं है। क्योंकि उसपर भारी वाद प्रतिवाद हो चुके हैं। जिन उपनिषदों के भाष्य पर, श्री सुरेश्वराचार्य के वार्तिक हैं, श्रीमदाचार्य विरचित ही हैं। शेष ग्रन्थ, जिनमें उपर्युक्त ग्रन्थों से मिलता जुलता प्रतिपादन है, उन्हीं के हो सकते हैं। परन्तु इस सबन्ध में निश्चितता से कौन क्या कहेगा।

श्री शंकराचार्य पर अयोग्य दोषारोपण

उनपर जो दोषारोपण किया जाता है, उसका कारण यही है कि आज उनके आशय के समझने में हमें कठिनाइयाँ प्रतीत हो रही हैं। उनका **मायावाद**, अज्ञान कारणता वाद है, या बौद्धों जैसा **भ्रम** अथवा **प्रतिभास** वाद है, ऐसा समझा जा रहा है! विमर्श की बात है, कि जिन्होंने अपने ब्रह्म सूत्र भाष्य में अनेक प्रतिद्वन्द्वियों के विरोध में अपनी अतुलनीय प्रतिभा से, ब्रह्मकारणता सिद्धान्त प्रतिष्ठित कर दिया, वे भ्रान्ति कारणता को क्यों कर मानेंगे? मान्य है कि इस संसार में, भ्रान्ति का अस्तित्व विपुल मात्रा में दिखाई देता है, पर उससे भ्रान्ति कारणता या प्रतिभासवाद सिद्ध नहीं होता। यह वाद जिसका दूसरा नाम **निरालम्ब** वाद है, बौद्ध सम्प्रदाय का है, जिसमें अखिल बाह्य पदार्थों को भ्रम रूप माना गया है। इसका खण्डन ब्रह्म सूत्र 'नाभावः उपलब्धेः' (२-२-२८) के

में उन्होंने किस प्रज्ञा प्रकर्ष से शंकर भगवान् ने किया है देखते ही बनता है। अनुपद में ही 'वैधर्म्याच न स्वप्नादिवत्' (२-२-२९) इस सूत्र के भाष्य में उन्होंने जगत् स्वप्न नहीं है ऐसा स्पष्टरूप से निर्णय ही दे रखा है। उनका मिथ्यात्व सिद्धान्त, या विवर्तवाद' भ्रमवाद नहीं है। वह तो श्रुतिप्रोक्त 'मृत्तिकेत्येकमत्यम्' वाला **'सत्कार्यवाद'** है, जिसका पर्याप्त विवेचन आगे प्रकरण (४१) पृष्ठ १४६ पर किया गया है।

उनपर और भी एक प्रबल आरोप है, कि उन्होंने सन्यासाश्रम को अकारण अतिरंजित स्थान दे कर देश भर में अकर्मण्यता और आलस्य को बढ़ावा दिया, जिससे समाज की अपरम्पार हानि हुई है। इसमें सन्देह नहीं कि गुँसाईं बैरागियों के जत्थे के जत्थे और अन्य व्यसनी बेकारों की संख्या इस देश में जितनी अधिक मात्रामें मिलती है। उतनी संसार भर के किसी देश में नहीं मिलेगी। पर इस दुरवस्था का उत्तर दायित्व **शंकर** भगवान् पर नहीं डाला जा सकता, उनका समय तो बहुत थोड़ा था। उनके बहुत पहले से ही यह दुर्दशा चली आयी है जिसका कारण बौद्ध सम्प्रदायिकता और कोई छः सात शताब्दियों की उनके शासन की धूम रही है। इसी का व्यापक प्रभाव हमारे सनातनी पण्डितों पर पड़ने से इस विचित्र **अकर्तृता** और **अकर्मण्यता** की समृद्धि हो गई, जिसका पर्याप्त विवरण इस पुस्तक के प्र० (३०)परिच्छेद (२) पृष्ठ ६१ और प्र० (३९) पृष्ठ पर किया गया है।

बहुत से वेदान्त के अभ्यासकों में यह धारणा रूढ हो गई है, कि श्रीशंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य के प्रस्ताव में जो **अध्यास** के विषय पर हृदय ग्राहिणी चर्चा की है उसमें उन्होंने 'भ्रमकारणता वाद' की ही सिद्धि की है। इस असमञ्जसता का कारण, योग्य अध्ययन का अभाव, यही है। ऊपर पहले ही बताया गया है कि जिन्होंने अपनी अतुलनीय प्रज्ञा से ब्रह्मकारणता सिद्धान्त को अपने भाष्य में यत्र तत्र सर्वत्र प्रमाणित कर रखा है, वे उसी के खण्डन को क्यों प्रस्तुत होंगे? **अध्यास** भाष्य एक छोटासा तत्त्वग्राही मार्मिक निबन्ध है, जिसका उल्लेख आगे पृष्ठ ६४ पर किया गया है। इसमें

उन्होंने मनोविज्ञान के ऊँचे स्तर से मानव स्वभाव की मीमांसा... बताया है, कि हमारी बुद्धि अनेक जन्मार्जित संस्कार तथा वास... कारण, किसी विषय को निष्पक्षपात और यथार्थता से देखने के लिए वत ही असमर्थ है। फिर इन सबको बढ़ावा देनेवाला हमारा जन्मजात अहमाव है, उससे तो अधिक ही हमारी दुरवस्था हो जाती है। अर्थात् कल्पित पूर्वग्रहों के बिना हम किसी विचार या व्यवहार को प्रस्तुत ही नहीं होते। वे लिखते हैं—'देहेन्द्रियादिषु अहं ममाभिमान हीनस्य प्रमातृत्वा नुपपत्तौ प्रमाणप्रवृत्त्यनुपपत्ते —न च अनध्यस्तात्मभावेन देहेन कश्चिद्व्या-प्रियते—तस्माद्विद्यावद् विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणिच पश्वा-दिभिश्चाविशेषात्'

शंकर भगवान् ने यहां मनोविज्ञान का एक मार्मिक तथा व्यापक नियम बताया है, और उनका आशय कदापि यह नहीं है कि इस कल्पितता तथा दुर्बलता को पहचानने वाले और उसपर विजय पानेवाले कोई भी पुरुष यहां हो नहीं सकते। परन्तु अनेक वेदान्त शास्त्र के अभ्यासक और पण्डित इसी को लिए बैठे है, कि जहाँ प्रमातृत्व अर्थात् प्रमाण प्रमेय व्यवहार आ गया, वहाँ भ्रान्ति का रहना अवश्यम्भावी है, भले ही ये व्यवहार शुक मुनीन्द्र या याज्ञवल्क्य योगीन्द्र जैसे ज्ञानी पुरुषों के क्यों न हो? ऐसा असम्बद्ध अर्थ लगा कर ये भद्र व्यक्ति 'भ्रमकारणता' की सिद्धि करने पर उतारू होते हैं। इस ऊँची दार्शनिकता के सामने श्रीमद्भगवद्गीता का सारा 'कर्माकर्म विवेक' 'ज्ञानकर्म सन्यास योग' गुणातीत पुरुषों का आचरण 'यस्य नाहं कृतो भावो' (अ १८ श्लो १७) इत्यादि इत्यादि वचन, एवं समूचा तत्त्वज्ञान तुच्छ हो जाता है। शंकर भगवान् को स्वप्न में भी कल्पना नहीं हुई होगी, कि उनके कतिपय अनुयायी गण उनके प्रतिपादनों का ऐसा विपरीत अर्थ लगाएँगे। क्या स्थितप्रज्ञ पुरुषों के व्यवहार प्रमाण प्रमेय युक्त होते ही नहीं? अथवा जो होते हैं, वे सब भ्रान्ति पूर्ण होते हैं? यह श्री. एन्. अनन्त. नारायण सा नमूना है।

जब हम श्रीशंकराचार्य के ग्रन्थ पढ़ते हैं, तो हमको उनका यथार्थ अभिप्राय समझने के लिए, निम्न बातों पर ध्यान देना अत्यावश्यक होता है:—

ंकर ग्रन्थों का अध्ययन

) उनके समय में यद्यपि बौद्ध धर्म और सम्प्रदायों की हीन दशा हो गयी थी, और बौद्ध राज्य भी नष्टप्राय हो गये थे, तथापि अनेक शताब्दियों से प्रचलित बौद्ध तत्वज्ञान और विचारों का प्रभाव जनता पर बना ही रहा। 'सर्वं क्षणिकं क्षणिकं, सर्वं दुःखं दुःखं सर्वं शून्यं शून्यं' इन्ही सिद्धान्तों की भ्रान्तिजनक छाप जनता पर रही। यों देखा जाय तो दुःखों का प्रकोप किस काल में नहीं रहता है ! सुख तुरन्त ही भूला जाता है, पर दुःख दीर्घकाल तक दिल में चुभता ही रहता है ! आज भी यही दशा है और आगे भी वैसी ही रहने वाली है।

महात्मा बुद्ध ने जरा मृत्यु ताप और दुःख इन पर विशेष जोर या था, अर्थात् इनसे छुटकारा पानेके लिये त्याग और संन्यास ये ही व्यर्थ साधन हैं, यही भावना जनता में प्रबल रही। शंकर भगवान् ने ध्यात्म विद्या के प्रचार के लिये इससे लाभ उठा लिया; परन्तु इस सम्बन्ध उन्होंने धर्म मर्यादा की उपेक्षा, कहीं भी नहीं की।

२) इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने अपना कर्त्तव्य अध्यात्म विज्ञान के प्रचार कार्य में ही सीमित करलिया था, तथापि धर्मसंस्थापना के लिये भी उनका कार्य अनुपमेय रहा यह निर्विवाद है।

(४) **अद्वैत विज्ञान** के अनेक सिद्धान्तों में [१] **ब्रह्मकारणता** और [२] **सत्कार्यवाद**, ये दो असाधारण महत्ता रखते हैं। इन्हीं की नींव पर उनका सारा प्रतिपादन अधिष्ठित है। अन्त्योक्त सिद्धान्त का पर्याप्त विवेचन आगे प्र० (४१) पृष्ठ १४६ पर किया गया है। इसके मूल-तत्व और परिभाषा, यदि न समझ लें तो ब्रह्मसूत्र भाष्य का मर्म हृदयगम करने में कठिनाई अनुभव होती है।

श्री शंकराचार्य का अवतार कार्य

धर्म का परित्राण देश की सुरक्षा और परिपालन के लिये 'सन्यास निष्ठ आत्म विज्ञान तथा कर्मयोग' की कितनी महत्ता है, इसका प्रतिपादन, संक्षेप से क्यों न हो, जितना उत्तेजना पूर्ण शब्दों से श्री शंकराचार्य ने भगवद्गीता के चौथे अध्याय के प्रस्ताव में किया है, वैसा सम्भवत किसी अन्य भाष्यकार ने नहीं किया है।

श्रीमद्भगवद्गीता में जहाँ सन्यास का प्रतिपादन आया है, वहाँ वर्णाश्रम धर्म विहित सन्यासाश्रम की प्रतिष्ठा रखते हुए, अन्य आश्रमियों को उन्होंने **कर्मफल त्याग** का आदेश दिया है, स्वरूपत **कर्मत्याग** का नहीं। गीता माता की दृष्टि से त्याग शब्द का अर्थ ही ईश्वरार्पण बुद्धि से अपने अपने कर्त्तव्योंपर नित्य प्रति निर्भर रहना है। इस में द्विविध लाभ की प्राप्ति होती है, (१) **कर्म सिद्धान्त** के अनुसार कर्म अपने फल को तो निश्चय ही उत्पन्न कर देता है जो ईश्वरार्पण किया जाता है परन्तु (२) *त्यागी पुरुष* को आध्यात्मिक उन्नति रूप फल की भी अवश्य प्राप्ति होती है, जिसके निमित्त वह अपनी आत्मिक उन्नति पथ पर अग्रसर होता चला जाता है।

ध्यान में रखने की बात है कि श्रीशंकराचार्य ने अनधिकारी व्यक्तियों को अपनी मनगढन्त साधनाओं के पीछे जगल अथवा पहाड़ों की खाक छानने का उपदेश नहीं किया है। अत उन पर देश में आलस्य को बढावा देना अथवा भ्रान्तिवाद को फैलाना इत्यादि जो दोषारोपण किया जाता है, वह

केवल अज्ञानता का परिचायक है। उनकी जीवनी ही इसके निराकरण के लिये पर्याप्त साधन है। बत्तीस वर्ष के छोटे काल में इस मेधावी दार्शनिक शिरोमणि ने वह महान् कार्य कर दिखाया जो इस संसार के बड़े बड़े धर्म प्रणेताओं में अभूत पूर्व है। केवल अठारह वर्ष की आयु में अनेक अमर भाष्यों की रचना करना, तथा इस विशाल भारत का पर्यटन ऐसे काल में जब यातायात के साधनों की कोई भी सुविधाएँ न थीं, कन्धे पर कन्था धारण करते हुए, पाद चारी करना, स्थलों स्थलों पर वाद प्रतिवाद करते हुए स्वमत की सत्स्थापना, वेदबाह्य बौद्धों तथा उद्दण्ड दीक्षाधारी कापालिकों को परास्त कर देना, देश की चारों दिशाओं में अद्वैत विज्ञान प्रचारक मठों की स्थापना करना, और उनके लिये 'मठाम्नाय' का विधान बना देना इत्यादि कार्य, कोई साधारण बात नहीं है। उनकी यह प्रवृत्तिपरता और अलौकिक कार्य कुशलता, उसके उच्चतम उद्देश्यों पर भाष्य रूप हैं। ऐसे महापुरुष अनेक शताब्दियों में क्वचित ही होते हैं। और अबतक के इतिहास में वे अनन्वयालङ्कार के उदाहरण बने हुए हैं।

बौद्ध सम्प्रदाय की प्रभाविता

आज दिन जनता में बुद्ध सम्प्रदाय तथा बौद्ध तत्त्वज्ञान के विषय में कौतूहल की भावना उत्पन्न हुई है। हमारे प्रिय राष्ट्र पुरुषों ने हमारी राष्ट्रीय ध्वजा पर अशोक धर्म चक्र को प्रतिष्ठित कर दिया है, जिससे इस जिज्ञासा में समादर का भाव भी सम्मिलित हो गया है।

इस में सन्देह नहीं कि, शाक्यमुनि गौतम एक लोकोत्तर चरित्र, त्यागधन पुरुष हो गये हैं, उनके लोक कल्याण के सदुद्देश्यों पर दो मत नहीं हो सकते। उनके अनथक प्रयत्नों से और दैवी सम्पत्ति भरे उपदेशों से आर्य संस्कृति की परिपुष्टि ही हो गयी है। पर साथ ही उन की परम्परा में जो अनुयायी गण उत्पन्न हुए, उन्होंने तत्त्वविज्ञान के क्षेत्र में जो नवीन विचार धाराएँ प्रवर्तित कर दीं, उनसे अनेक अविरचित कल्पनाओं को बढ़ावा मिलगया। इस के परिणाम स्वरूप देश में अनेक क्षेत्रों में एक भ्रान्ति सी फैल गयी जिस से

हमारी बहुत हानि हो गई है। तत्त्वज्ञान के विषय में जो उद्भ्रान्त धारणाएँ हमारी बुद्धि पर छा गई है, उनका विवरण इस पुस्तक में अनेकों स्थलों पर किया गया है। परन्तु हमारी इस दुर्दशाग्रस्तता का उत्तर दायित्व बौद्ध सम्प्रदाय पर है, ऐसा कदापि इस लेखक का आशय नहीं है। तत्कालीन धर्मप्रेमियों तथा क्षत्रिय नरेशों का यह कर्तव्य था कि प्राचीन तत्त्वविज्ञान तथा सनातन धर्म की सुरक्षा करें। पर खेद की बात है कि, यह उन से नहीं बन सका। अतः देश की दुरवस्था की जिम्मेवारी हम पर ही आपन्न होती है।

इसमें सन्देह नहीं कि ग्रन्थ प्रणयन की मर्यादा तक बौद्ध तत्त्वज्ञान तथा सम्प्रदाय के अनेक विचारों का पर्याप्त मात्रा में परीक्षण और खण्डन अपने समय के अन्यतम विद्वान कुमारिल भट्ट ने अपने ग्रन्थों में कर दिया है। इस के अनन्तर श्री शंकराचार्य ने अपने ब्र. सू. भाष्य तथा अन्य ग्रन्थों में, अपनी अनूठी शैली तथा प्रबल युक्ति प्रमाणों से बौद्ध सिद्धान्तों की निःसारता सिद्ध कर रखी है। परन्तु यह सब विचारोच्च दृष्टि के खण्डन और ऊहापोह, ग्रन्थों के अन्दर ही रह गये, इनका प्रभाव सर्व साधारण जनता पर न हो सका। प्रथम तो साक्षरता का प्रमाण ही इस देश में अत्यल्प रहा है, और उसमें ब्रह्म सूत्रों की गीर्वाण भाषा पढ़ने और समझने वाले तो बहुत ही अल्प थे। फिर आपत्ति यह रही कि **शंकर** भगवान् का काल ही इतना थोड़ा रहा कि उन को अद्वैत विज्ञान के प्रचार के लिये जितना अवसर मिलना आवश्यक था उस का कुछ अंश भी न मिल सका फलतः सारे देश में बौद्ध सिद्धान्तों की प्रभाविता ही जड़ जमाये रह गयी।

श्री शंकराचार्य के शिष्य प्रशिष्य

इसका विचित्र परिणाम यह हुआ की **श्रीशंकराचार्य** के अपने शिष्य प्रशिष्यों में ही ऐसे व्यक्ति उत्पन्न हुए जिन्होंने प्राचीन औपनिषदिक सिद्धान्तों को त्याग कर 'अज्ञान कारणता' 'भ्रम कारणता' और 'भेदाभेद वाद' को ही स्वीकार और पुरस्कृत कर दिया, जिसका विशेष विवेचन आगे प्रकरण (३०) परिच्छेद (२) के अन्तिम विभाग में किया गया है। इन पण्डितों के

नाम यह है —(१) 'सक्षेपशारीरक कर्ता सर्वज्ञात्ममुनि (ई स ८००) (२) भामती व्याख्या कर्ता श्रीवाचस्पति मिश्र (ई स ८५०) (३) सिद्धान्त बिन्दु कर्ता श्रीमधुसूदन सरस्वती (ई स (१५६५) (४) सिद्धान्त मुक्तावली कर्ता पण्डित प्रकाशानन्द (ई स १५६५) और (५) महाभारत के ख्यातनाम टीकाकार श्री नीलकण्ठ (ई स. १६१०) इनके अतिरिक्त प्राकृत ग्रन्थकार तो विपुल सख्या में हो गये हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि प्रथम और तृतीय ग्रन्थकार भारत वर्ष में विश्रुति कीर्ति विद्वन्मूर्धन्य पण्डित हो गये, जिन्होंने अपनी अतुल प्रज्ञासे ब्रह्मकारणता सिद्धान्त का बडी दृढता से समर्थन किया है। परन्तु साथ ही परब्रह्म भ्रान्त होता है यह भी लिख दिया है। बहुत पण्डितों का कहना है, कि ऐसा उनका आशय कदापि नहीं हो सकता। परन्तु समझ में नहीं आता कि क्या वेदान्त शास्त्र इतना दिवालिया हो गया था कि इन पण्डितों को ऐसे घृणित शब्दों का व्यवहार करना अनिवार्य हो गया? इन दूषित शब्दों का परिणाम यह हुआ है, कि साधारण अभ्यासक तो दूर, बड़े बड़े पण्डित भी इस भँवर में आ गये हैं और यही हमारा सिद्धान्त है ऐसा निरर्गल प्रतिपादन करते हैं।

ऊपर की नामावली में विद्वद्रत्न श्रीवाचस्पति मिश्र का भी नाम है। इनका मत उपर्युक्त पण्डितों का विरोधी है, परन्तु इन्होंने भ्रान्ति कारणता का एक तीसरा ही राग आलापा है, जिसे सुन कर विज्ञ पाठक दान्तों तले अँगुली दबा लगे। इनके व्याख्याकार श्री अमलानन्द अपनी वेदान्त कल्पतरु' टीका में, स्पष्टतया लिखते हैं —

> । स्वशक्त्या नरवत् ब्रह्म कारण शंकरोऽब्रवीत्
> जीवभ्रान्तिनिमित्त तत् बभाषे भामतीपति ।
> (देखिये ब्र सू, २-१-२० पर उनकी टीका)

कहना न होगा कि इस घोषणा में एक ऐसे प्रवीण विद्वान् की आत्मा बोल रही है, जिन्होंने ब्र. सू. शांकर भाष्य तथा भामती व्याख्या का'आद्योपान्त

परिशीलन किया है। यह एक ही नहीं, पचासों मेधावी पुरुषों को प्रतीत हो रहा है कि श्रीशङ्कराचार्य के शिष्य प्रशिष्य ही उनके सिद्धान्तों से दूर भटक गये हैं ! इस सम्बन्ध में अधिक विवेचन आगे किया जाएगा।

अद्वैत विज्ञान की विशेषताएँ

वैदिक अद्वैत तत्त्वज्ञान के सम्बन्ध में प्राय साद्योपान्त विवेचन इस पुस्तक में किया गया है। तथापि कतिपय मौलिक विशेषताएँ यहां पर लिख देना आवश्यक प्रतीत होता है। ध्यान में रहे कि यह विज्ञान द्वैत रूप प्रपञ्च के अभाव का प्रतिपादन नहीं करता। अपि तु बताता है कि उसकी ब्रह्म की सत्ता के बिना, कोई स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं है। बीसियों स्थलों पर 'ब्रह्म व्यतिरेकेण अभाव यही मर्म के शब्द लिखे रहते हैं। सू (२-१-१) 'स यथोर्णनाभि सृजते गृह्णते च' के भाष्य में दिखाया गया है, आत्मव्यतिरेकेण वस्त्वन्तराभावात् प्राणादेस्तत्र एव निष्पत्ते'। ब्रह्म अधिष्ठान है, और अखिल तत्सृष्ट प्रपञ्च उसी पर अध्यस्त है। अधिष्ठान शब्द कि व्याख्या ही 'आत्मन सर्वाधिष्ठानत्व नाम अध्यस्तस्य सत्ता स्फूर्तिप्रदत्वम्', है, दे पृ ७७। इसीको 'अध्यस्तस्य अधिष्ठानसत्ता अतिरिक्त सत्ता अनङ्गीकारात्' इन शब्दों से उद्घोषित किया जाता है। यही इस विज्ञान के **सत्कार्यवाद** की नींव है, (दे पृ १४६) जिसे भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र

> । यच्चापि सर्व भूतानां बीजं तदहमर्जुन
> न तदस्ति विना यत स्यान्मया भूत चराचरम् ।
> (भ गी अ १० श्लोक ३९)

इस श्लोक से इंगित कर रहे हैं। रहस्य यह है कि कोई कार्य अपने कारण से पृथक् नहीं रहता। अतएव यहां, अनन्त विवर्त रूप तथापि व्यवहार क्षम पदार्थों का अभाव है यह बात नहीं है, परन्तु वे क्षणांश के लिये भी परब्रह्म की सत्ता तथा स्फुरण से, विलग नहीं रह सकते। यही अनन्य का मर्म है।'

सत्कार्यवाद को समझाने के लिये जैसा बीज वृक्ष का उदाहरण दिया जाता है, वैसा ही समुद्र का भी दिया करते हैं। बिना समुद्र के जैसे ज्वार, हिलोर, लहरे, तरंग इत्यादि नहीं हो सकते, और न वे कभी पृथक हैं, यही दृष्टान्त है। स्मरण रहे कि दृष्टान्त, जड़, स्थूल रूप है, परन्तु परमात्मा की लीला शक्ति अद्‍भुत और अपारमेय है। उसमें जडता का नाम तक नहीं है। इसीलिये जड़ प्रपच जो अनृत या मिथ्या कहा गया है। उसका और परब्रह्म का **एकत्व** नहीं है पर **ऐतदात्म्य** अवश्य है, दे पृ १०८। यहां के प्रत्येक पदार्थ की आत्मा परब्रह्म है। वह अग्नि के भीतर है और जल के भी भीतर है, पर वह वहां जलती नहीं, या भीगती नहीं। भ्रान्त पुरुष के अन्दर भी है पर वह भ्रान्त नहीं होती और न वह कभी निद्रा या मोहवश ही होती है।

तत्त्व शब्द का साक्षात् अर्थ **तत्ता** याने कारणता है। जो पदार्थ जिसकी कर्तृता से, जिन जिन कारण द्रव्यों उपकरणों तथा क्रियाकलाप व्यवहारों की सहायता से बनता है, वे सब उसके **तत्त्व** समझे जाते हैं। उदाहरण के लिये, घट कलश कुम्भ शराव आदि नानाविध प्रपच के तत्त्व, मृत्तिका, जल, दण्ड, चक्र, कुम्हार और उसके सब उपकरण और व्यवहार होते हैं। इन सब का यथार्थ ज्ञान ही एतद्विषयक तत्त्वज्ञान कहलाया जाएगा। ठीक इसी प्रकार यह विराट प्रपच, इसके अनन्त जीव, जीवाणु, देव, देवतादि लोक और इनकी उत्पादक, नियामक तथा सहारक शक्तियां, इन सबका कारण, चाहे वह एक हो, दो हो, दस हो या हजारों की सख्या मे हो, उनका यथार्थ ज्ञान ही तत्त्वज्ञान कहलाता है। इस के सम्बन्ध मे दर्शन कारों में भारी मत भेद है। कोइ अभाव को कारण मानते हैं, कोई अज्ञान को, कोई पच या चार सूक्ष्म भूतों को, कोई अनन्त परमाणुओं को, कोई दो को याने पुरुष और प्रकृति को, या शिव और शक्ति को, इत्यादि इत्यादि। कारणों के भी उपादान, समवाय, सघात निमित्त, उपकरण, क्रियाकलाप इत्यादि भेद माने गये हैं। **अद्वैत विज्ञान** का सिद्धान्त है कि आप चाहे उतने भेद मान लीजिये उन सब की, विलिन रहते

हुए, उत्पत्ति स्थिति तथा संहार, अपने संकल्प मात्र से, करनेवाला एकमेवा द्वितीय परम कारण परब्रह्म है।

> । शिवं ब्रह्म विदुः शान्तम् अवाच्यं वाग्विदामपि
> स्पन्दशक्ति तदिच्छा स्याद् दृश्याभासं तनोति सा ।

दे पृ ५२. इसी को परब्रह्म की 'अभिन्न निमित्तोपादान कारणता' या 'ब्रह्म कारणता' का सिद्धान्त कहते हैं। इस का यथेष्ट विवेचन प्र० २८, २९ और ३० में किया गया है।

श्रुति माता की अमर प्रतिज्ञा

अद्वैत विज्ञान की एक महत्वपूर्ण तथा मर्मग्राही **प्रतिज्ञा** है — 'एकेन विज्ञानेन सर्वं विज्ञातं भवति' जिसका उल्लेख पृष्ट २, १३६, २०० और २०८ पर किया गया है। दूसरे दर्शनकार इस अथाह सृष्टि यंत्र के अनेक तथा नानाविध कारणों को मानते हैं, परन्तु अद्वैत दर्शन परब्रह्म को ही 'एकमेवाद्वितीय' कारण मानता है। अतएव इस एक का यदि सम्यग्ज्ञान हो, तो इस जगत् के सभी तत्त्वों का सुन्दरता से ज्ञान हो सकता है, यही मर्म की बात है। ब्र सू. 'सामान्यात्तु' (३--३२) के भाष्य में स्पष्टतया दिखाया गया है —

सर्वस्य जनिमतो वस्तुजातस्य जन्मादि ब्रह्मणो भवतीति निर्धारितम्। अनन्यत्वं च कारणात्कार्यस्य। न च ब्रह्म व्यतिरिक्तं किंचिदजं संभवति 'सदेव सोम्य' (छा ६-२-१) इति अवधारणात्। एक विज्ञानेन च सर्व विज्ञान प्रतिज्ञानाच्च ब्रह्म व्यतिरिक्त वस्त्वस्तित्वमवकल्पते ।

आवश्यकता नहीं है। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवा द्वितीयम्' (छा ६-२ १) के भाष्य में 'अद्वितीय' शब्द का अभिप्राय **शंकर** भगवान् बताते हैं — सद् व्यतिरेकेण सत **सहकारि कारण** द्वितीय वस्त्वन्तर प्रतिषिद्धयते 'अद्वितीय मिति'।

ब्रह्म सूत्र (२-१-२५) के भाष्य म उन्होंने प्रतिपादन किया है, कि चेतनमपि ब्रह्म अनपेक्ष्य बाह्य साधनम् ऐश्वर्य विशेष योगात् अभिध्यान मात्रेण स्वत एव जगत् सृक्ष्यति'। 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्र मसौ विघृतौ तिष्ठत ' बृ (३-८-९) के भाष्य में, भगवान् **शकर** बताते हैं — 'न अस्य अक्षरस्य प्रशासन द्यावा पृथिव्यौ अतिक्रामत — अव्यभिचारि हि तस्मि यत् द्यावा पृथिव्यौ नियते वर्तेते।

बृ ४-३-१ के भाष्य मे भी वे लिखते हैं —निरुपाधिको निरुपाख्यो नेति नेतीति व्यपदेश्य साक्षादपरोक्षात्सर्वान्तर आत्मा ब्रह्माक्षरमन्तर्यामी प्रशास्ता औपनिषद पुरुष विज्ञानमानन्द ब्रह्म। भ गी अध्याय ८ श्लोक ३ 'अक्षरं ब्रह्म परमम्' पर व्याख्या लिखते हुए श्री मधुसूदन सरस्वती भी स्पष्टतया लिखते हैं —'सर्वोपाधि शून्य सर्वस्य प्रशासितृ कृत्स्नस्य प्रपचस्य धारयितृ, अस्मिश्च शरीरेंद्रिय सघाते विज्ञातृ, निरुपाधिकं चैतन्य तदिह ब्रह्म इति विवक्षितम्।

शंकर भगवान् ने अपने अनेक ग्रन्थों में सेकड़ों स्थलो पर निस्सन्दिग्ध शब्दों से शुद्ध निर्गुण 'नेति नेति' स्वरूप परब्रह्म की ही प्रभावी कारणता प्रतिपादन की है। उस को ईश्वर या मायोप हित या शबल या वासुदेव या नारायण कहने से वह कोई अलग अशुद्ध या प्रतिबिम्ब रूप वस्तु नहीं होती।

परन्तु बड़े अचम्भे की बात है कि **अद्वैत विज्ञान** के इन मौलिक तत्वों के विरोध में, अनेक मध्यकालीन और अर्वाचीन पण्डितों ने परब्रह्म की कारणता तथा निरंकुश प्रशासन को ही एक दम उड़ा दिया है। वे कहते हैं कि उनका परब्रह्म वैशेषिकों जैसा एक केवल **सत्सामान्य** है जिसमें किसी प्रकारकी विशेषता ही नहीं है। ध्यान में रहे कि इस कल्पना का स्पष्टतया निषेध शंकर भगवान ने पहले ही किया है। दे पृ ४२

साम्प्रदायिक विपर्यासों का विशेष स्वरूप

"मान्य है कि परब्रह्म अशेष विशेष विरहित है, अर्थात् इसका अभिप्राय यही है, कि परब्रह्म निरवयव निर्द्रव्य एकरस होने से उनमें नैयायिकों के पारिभाषिक धर्म धर्मि भाव, या शेष शेषि भाव, या गुण गुणि भाव वाले या गुणा प्रकृति सम्भवा' (गी १४-५) ऐसे आवागमनवाले कोई गुणधर्म नहीं हैं (दे पृ ५०,५१,) परन्तु उनकी स्वरूप भूत असाधारण विशेषताएँ, याने **नित्यत्व शुद्धत्व बुद्धत्व सृष्टि स्थिति संहार कर्तृत्व प्रशासकत्व नियन्तृत्व** जो अखिल प्रपञ्च से व्यावर्तक विशेषण हैं, वे उनके नहीं हैं यह कहना अद्वैत विज्ञान को खो बैठना है!"

इस पर प्रश्न होता है कि यदि परब्रह्म को कर्तृत्व मान लिया जाय तो उसे भोक्तृत्व सुखित्व दुःखित्व भी क्यों न मान लिया जाए? इसका उत्तर यह है कि जगत् में दिखने वाला कर्तृत्व उनको है ऐसा तो कोई अज्ञ पुरुष भी नहीं कहेगा। वे तो सदा ही आप्त काम हैं। परन्तु त्रिलोक को उत्पन्न करने वाला कर्तृत्व, आकाश और काल को भी प्रतुत करा देने वाला सामर्थ्य, त्रिलोकातित परब्रह्म का ही हो सकता है, न किसी कपोल कल्पित **अनादि अज्ञान** या तदुद्भूत किसी पदार्थ का!

नहीं होतीं । निषेध जो किया जाता है वह **केवल विशेषणों** का किया जाता है स्वरूप भूत विशेषणों अथवा लक्षणों का नहीं । पर तु दुर्भाग्य से निगुणता और निर्विशेषता का अर्थ निर्लक्षणता म किय जारहा है ! और इसी म अपनी दार्शनिक ध य धन्यता मानी जारही है, इसकी क्या औषधि हो सकती है ?

सत्य मिथ्या की उलझन्

परब्रह्म के सृष्टिकर्तृत्व सामर्थ्य को श्रुतिया म मायाशक्ति प्रकृति' या 'अविद्या कहा गया है दखिये परिशिष्ट (उ) क्रमाङ्क (३) इस के सम्बन्ध म प्राय निम्न तीन प्रश्न हुआ करत हैं —

(१) क्या ये माया या अविद्या शक्ति भ्रम रूपा हैं या निर्भ्रान्ता हैं ?

(२) क्या ये किसी बाह्य पदार्थ से आइ हुइ आगमापायी शक्तिया हैं या निजी हैं ?

(३) क्या ये परमार्थ सत्य हैं या मिथ्या हैं ?

प्रथम प्रश्न का उत्तर है कि किसी शक्ति को भ्रान्त नहीं कहा जा सकता । जगत् में विद्युच्छक्ति गुरुत्वाकर्षण शक्ति अग्नि शक्ति एसी अनक शक्तियाँ हैं । इनका उपयोजक ही भ्रान्त या अभ्रान्त हो सकता है । अथात माया स्वय भ्रान्ता नहीं है और न उसका स्वामी परमात्मा । मा य है कि इस विराट विश्व के अनन्त पदार्थ इन्हीं से बने हुए हैं, जिन म जीवात्मा के मनोधर्म यान काम क्रोध लोभ मोह भ्रम प्रमाद अज्ञान ये भी हैं परन्तु इनका स्थान मन के अन्दर ही है बाहर कहीं नहीं । (द १८१)

दूसर प्रश्न का उत्तर है कि ये परब्रह्म की निजी शक्तियाँ हैं औपाधिक किसी बाह्य पदार्थ की नहीं हैं । सिद्धान्त यही है कि किसी भी उपाधि का परमात्मा में विकृति उत्पन्न करने की शक्ति ही नहीं है ।

तीसरा प्रश्न बड़ा मार्के का है। इस में पेंच यह है कि यदि ये शक्तियाँ परमार्थ सत्य हों, तो परब्रह्म एक सत्य, और ये शक्तियाँ भी सत्य, ऐसी द्वैतापत्ति आ जाती है। और मिथ्या कहें तो परमात्मा का सृष्टि कर्तृत्व ही उन्मूलित हो जाता है। उत्तर है कि ये स्वरूप भूता शक्तियाँ हैं जिनका अन्तर्भाव परमात्मा के अखिल व्यावर्त्तक विशेषणों में ही हुआ है जैसे **सत्त्व चित्त्व आनन्दत्व शुद्धत्व मुक्तत्व** इत्यादि, जो किसी दृष्टि से द्वैत रूप नहीं हैं (दे पृ ७१) फिर **सत्** का अर्थ ही **सर्वशक्ति** है (दे पृ ४२) भले ही उसका विकास सामयिकता से होता रहे। श्वे ३. में इस सामर्थ्य को *अविद्या तथा विद्या कहा गया है। अर्थात् इन को या इन को भी प्रस्तुत करा* देने वाली **सद्रूपा** शक्ति को किसी दृष्टि से मिथ्या नहीं कहा जा सकता।

इसी प्रकार की आपत्ति 'अविद्यानिवृत्ति' रूप मोक्ष के सम्बन्ध में भी की जाती है। यदि वह पारमार्थिक हो, तो द्वैतापत्ति होती है और यदि मिथ्या हो, तो मोक्ष ही सिद्ध नहीं होता। इस का शास्त्र सिद्ध उत्तर यह है कि 'अविद्या निवृत्ति' ब्रह्म स्वरूपा है ठीक इसी प्रकार, प्रकृति माया, अविद्या ये शब्द, कोई पराई स्वतन्त्रा शक्ति को नहीं इङ्गित कर रहे हैं, परब्रह्म की निर्विशेष स्वरूप भूता शक्ति अर्थात् चैतन्य कारणता को ही बताते हैं, दे प्र (२८) पृष्ठ ४१ **अद्वैत सिद्धान्त** को किसी दूसरे की कारणता तो दूर रही, सहकारि कारणता भी नितान्त अमान्य है। क्षण भर के लिये यदि मान्य भी किया जाए कि ये स्पन्दशक्ति ईक्षण इत्यादि, जागतिक हैं, तो भी इन को अपनी स्वाधीनता से उत्पन्न और सञ्चालित करनेवाला एकमेवाद्वितीय कारण परब्रह्म है, जैसा कि उपर्युक्त ब्र सू 'सामान्यात्तु' में स्पष्टतया निर्णय दिया गया है। 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' (श्वे ६-१८) '*इस प्रकार भले ही ब्रह्माजी इस सृष्टि की रचना करें, मूल कारणता परब्रह्म की* ही है, इसमें कण मात्र सन्देह नहीं हो सकता। इन पण्डितों का कहना है कि परब्रह्म को इस विश्व प्रपञ्च की खबर तक नहीं है, इस की उत्पत्ति स्थिति

सहार करनेवाला एक **साभास** अज्ञान नामक पदार्थ है। प्रकट है कि यह 'अज्ञान कारणता' वाली कल्पना इन्होंने बौद्ध सम्प्रदाय से ली है और केवल अपने को उससे अलग दिखाने के लिये उसके पीछे **साभास** यह उपपद लगा दिया है।

इस निराधार कल्पना की यथेष्ट समालोचना प्र (४५) पृ १७८ पर की गई है। 'अज्ञान' का अर्थ ज्ञान का अभाव। यह कोई पदार्थ नहीं है। जैसा अन्धकार कोई, धुआँ या कुहरा, जैसा पदार्थ नहीं है, प्रकाश के अभाव को ही अन्धकार पुकारते हैं, ठीक इसी प्रकार ज्ञान के अभाव को ही अज्ञान कहते हैं। अर्थात् उस से कुछ भी उत्पन्न नहीं हो सकता। विक्षेपों को उत्पन्न करनेवाला मन है। अज्ञान का स्वरूप निद्रा में अच्छी तरह प्रतीत होता है। जब निद्रा हटती है उसी समय चञ्चल मन, अनेक विक्षेपों को उत्पन्न करता रहता है। अत स्पष्ट है कि जैसी अल्पज्ञता यह एक मनोधर्म है वैसी विक्षेप शक्ति भी एक मनोधर्म है, भले ही वह ज्ञान या ज्ञानाभाव से कम या अधिक हो।

फिर दूसरी बात यह है कि ये मनोधर्म मन के अन्दर ही रहते हैं बाहर कहीं त्रिलोक मे नहीं हैं। रज्जुसर्प भ्रान्त पुरुष के मन के भीतर है, बाहर कहीं भी नहीं है। ऐसी सीधी-सादी तारतम्य दृष्टि को छोड कर, असत्वापादक आवरण और अभानापादक आवरण इन दोनों को अज्ञान ही उत्पन्न करता है और ये दोनों जाकर परब्रह्म को अवृत और धूमिल करते हैं, ऐसा सिद्धान्त कर लेना, विचित्र उलझनों को उत्पन्न कर देना है। दोनों आवरण हमारी अल्पज्ञता के पर्याय शब्द हैं और इन का व्यापार कहीं भी बाहर नहीं है। एवं 'ब्रह्मणि अज्ञान नाशाय' इस का अर्थ हमारी बुद्धि में जो ब्रह्म विषयक अज्ञान है उस को हटाना है। प्रत्यगात्मा को या ब्रह्म को या किसी अन्तर या बाह्य पदार्थ को, लिपट कर ढँकनेवाला यह कोई द्रव्यमय आच्छादन है, ऐसी बात ही नहीं है।

इसी प्रकार अन्त करण को एक द्रव रूप पदार्थ समझ कर, जल की जैसी नालियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार उसके वृत्ति रूप परिणाम बन कर, बाहर चन्द्रमा या सूर्य देवता तक जा पहुँचते हैं और वहाँ पर रहने वाले हमारे अज्ञान जन्य आवरण को भङ्ग करते हैं, इत्यादि इत्यादि स्वत मन गढन्त कल्पनाओं की समालोचना प्र (३८) पृ ११३ पर की गई है। स्वप्न में हम बनारस या मद्रास गये, ऐसा प्रतीत होता है, परन्तु शास्त्रकार बताते हैं कि हम पुरीतत् नाडी के भीतर ही स्वप्न को देखते हैं। जाग्रत अवस्था में हम कहते हैं कि मेरा मन कलकत्ता गया या लन्दन गया, पर वास्तव में हमारे मन के अन्दर जो तद् तद् विषयक संस्कार हैं, उन्हीं को हम जगा कर देखा करते हैं। तात्पर्य मनो वृत्ति बाहर गयी यह एक भाषिक प्रयोग है, वृत्तियों का सारा व्यवहार मन के अन्दर अन्दर ही होता है, बाहर कहीं नहीं।

वेदान्त ग्रन्थों में वृत्ति व्याप्ति और फल-व्याप्ति में जो दृष्टान्तों द्वारा विभिन्नता दिखलाने की चेष्टा की जाती है, यथार्थ ज्ञान की दृष्टि से शोभय नहीं हो सकती ! जहाँ प्रथम है और द्वितीय नहीं ऐसा व्यावहारिक उदाहरण नहीं मिल सकता।

वैसे ही सामान्य ज्ञान और विशेष ज्ञान में जाति व्यक्ति का सम्बन्ध मानना, वैशेषिकों की कल्पना है, जो अद्वैत सिद्धान्त को अमान्य है। द. परिशिष्ट (उ) क्रमाङ्क २१ तथा पृष्ठ ४२.

इन अयथार्थ धारणाओं के फल-स्वरूप क्या क्या उलझनें अद्वैत वेदान्त साहित्य में घुस गई हैं उन का विवरण इस पुस्तक में भूरिश किया गया है परन्तु कुछ मजे की बातें संक्षेपत यहाँ पर दिखलाई जाती हैं।

(१) त्रिकाल दर्शी महर्षियों ने जो परब्रह्म का तटस्थ लक्षण किया है, उस को ये पण्डित गण नहीं मानते !

(२) इनका यह भी मत है कि परमात्मा या जीवात्मा में कर्तृत्व का नामतक नहीं है। जो कुछ कर्तृता यहाँ दीख पड़ती है, भ्रान्ति जन्य है! इस विचित्र धारणा का पर्याप्त खण्डन प्र॰ (३९) पृ. १२३ तथा प्र (४०) पृ. १३१ पर किया गया है।

(३) परमात्मा में कर्तृत्व सामर्थ्य या कर्तृता तो दूर, उनमे ज्ञातृत्व ही नहीं है, ऐसा भी प्रतिपादन साम्प्रदायिक पुस्तकों में पाया जाता है! और यही न्याय जीवात्मा के सम्बन्ध में भी माना गया है! बृहदारण्यक श्रुति (३-८-११) स्पष्टतया कह रही है.—'अदृष्टं द्रष्टृ अश्रुतं श्रोतृ...... नान्यदतो ऽस्ति विज्ञातृ'। ब्र. सू. (१-१-५) के भाष्य मे आचार्य लिखते हैं:—'यस्य हि सर्वविषयावभासनक्षमं ज्ञानं नित्यमस्ति, सो ऽसर्वज्ञ इति विप्रतिषिद्धम्'। परन्तु ये भद्र पुरुष अपने मन. कल्पित परब्रह्म को द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, साक्षी; नहीं मानते! औपनिषद् विज्ञान परब्रह्म के साक्षित्व को नित्य तथा अक्षुण्ण मानता है परन्तु ये लोग उसका त्रिकाल अभाव मानते हैं! इनके तत्वज्ञान से परब्रह्म में द्रष्टृत्व * ज्ञातृत्व प्रेरकत्व सत्तास्फूर्ति प्रदत्व ईक्षण साक्षित्व या समझना ही नहीं है!

(४) हमारी प्राचीन भारतीय संस्कृति तथा सनातन धर्म, परब्रह्म के अवतार रहस्य को पूर्णतया मानता है। कुछ अंशावतार होते हैं और कुछ पूर्णावतार माने गये हैं। **श्रीकृष्ण** भगवान् को महर्षि तथा पारदर्शी महात्माओं ने परब्रह्म का पूर्णावतार प्रमाणित किया है। महान् महान् साधु सन्तों ने उन को साक्षात् ब्रह्मरूप माना है। श्रीमद्भगवद्गीता मे वे स्वयं बताते हैं कि 'अक्षरादपिचोत्तम' (१५-१८) ऐसा परब्रह्म मैं हूँ; 'मत्त · परतर नान्यत्'

---

* इस विषय में विशेष विवेचन पृष्ठ ३०२ पर किया गया है। जीवात्मा के सम्बन्ध मे पर्याप्त विचार प्र (४७) पृष्ठ १९१ पर किया गया है, परन्तु जीवन्मुक्ति के सम्बन्ध में कतिपय श्रौत प्रमाणों का विचार रह गया था, वह पृ. २९८ पर किया गया है।

(७-७) 'अहं कृत्स्नस्य जगत प्रभव प्रलयस्तथा' (७-६) 'कल्पादौ विसृजाम्यहम्' (९-७) विसृजामि पुन पुन ' (९-८) 'परित्राणाय साधूनाम् .. धर्म सस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे' (४-८) इत्यादि । परन्तु यदि परब्रह्म में ज्ञातृता या लक्षण भूत विशेषताएँ नहीं हैं, और वह केवल एक **सत्सामान्य** ही है, तो फिर ये सब अनन्तानन्द निलय भगवान् के वचन नितान्त अलीक हो जाते हैं ! इन पण्डितों के विचित्र सिद्धान्तों के अनुसार उन को स्पष्ट रूप से उद्घोषित कर देना आवश्यक था, कि 'मैं केवल **'साभास अज्ञान'** का बनाया हुआ एक पुतला हूँ । और यदृच्छा से मुझ में कुछ विद्या ज्ञान शौर्य वीरता आदि गुण आए हैं, परन्तु परब्रह्म परमात्मा का मेरी या इस जगत् की तनिक भी खबर नहीं है ! अर्थात् मैं परब्रह्म नहीं हूँ। यह अखिल ब्रह्माण्ड एक **अनादि अज्ञान,** अथवा एक अनादि मूढ जीव ने अपनी **अद्वितीय भ्रान्ति** से बनाया है, और मुझसे भी उसी ने उत्पन्न किया है !!

प्रेमी पाठक गण समझ में नहीं आता कि यह क्या तत्त्वज्ञान है या कोई अरेबियन नाइट की कहानी है ?

एसी औपनिषदिक विज्ञान की विरोधी तथा युक्ति, तर्क और औचित्य विहीन धारणाएँ, अद्वैत सिद्धान्त के नाम पर शांकर मतानुयायियों में जैसी प्रश्रय पा गयीं, देख कर बुद्धि हैरान होती है । अत एव स्वर्गीय विद्वन्मूर्धन्य डॉ गगानाथ झा की उक्ति, जिस का उल्लेख पहले ही किया गया है, का स्मरण हुए बिना नहीं रहता। वास्तव में इन विक्षिप्त मतों को, केवल बता देना ही उनका पर्याप्त खण्डन है । तथापि इस सम्बन्ध में और भी जो मनने की बातें हैं, उन की समालोचना परिशिष्ट (उ) पृ ३०९ क्रमांक (२) के गयी है, जिसे प्रेमी पाठक गण अवश्य देखें ।

परमात्मा की असीम कृपा से अब हमारी प्रिय जन्म-भूमि के क्षितिज पर स्वतन्त्रता के बाल-सूर्य की सुनहरी किरणों का दर्शन हो गया है। पहली बार इस देश में जनता के लिये जनता द्वारा जनता के शासन का श्री गणेश हुआ है। प्रायः सभी गणतन्त्र राज्यों में, अल्पसंख्यकों की समानता और सुरक्षा की समस्या बड़ी जटिल और चिन्ता जनक हुआ करती है। फिर अंगरेज शासकों की

सेक्युलर प्रजा-तंत्र शासन और सनातन हिन्दू धर्म

'Divide and rule' की कुटिल नीति के कारण इस देश में इस समस्या ने मानों सदा के लिये एक भयानक आतङ्क उत्पन्न कर रखा है। इसके कारण हमारे कर्णधार नेताओं को अति विकट कठिनाइयों का सामना करना पड़ा और प्रजा को भी अनेकों विप्लवों का अनुभव करना पड़ा। इस करुणा-जनक स्थिति की पुनरावृत्ति न हो इसी लिये हमारे शासनासीन नेताओं ने भारत के आधिराज्य को Secular Government के तत्त्वों पर प्रतिष्ठित कर दिया है। भारतीय संविधान में न्यायनिष्ठा, स्वाधीनता, समानता, और विश्व-बन्धुता, ऐसी राज्य शासन की चार आधार शिलाएँ स्पष्ट रूप से स्वीकृत की गयी हैं। इसमें सन्देह नहीं कि यदि इन उच्च उद्देश्यों के अनुसार राज्य यन्त्र चलाया जाए, तो वह एक बड़े अभिमान तथा भूषण की वस्तु होगी। हिन्दू धर्म को ऐसे सन्मार्ग गामी तत्त्वों से यत्किंचित् भी विरोध नहीं हो सकता। राजनैतिक जगत् की कौन कहे धार्मिक जगत् में भी ऐसे और इन से ऊँचे आध्यात्मिक आदर्शों का पुरस्कार हिन्दू धर्म ने पुरातन काल से किया है। मानों इन सब उदार भावों की वह प्रतिमूर्ति है—पराdevता है। 'राजनैतिक सेक्युलॅरिटी' एक आदर्श रूप मन्तव्य है, जो हिन्दू धर्म का महत्त्वमय अंग होने से। वह उसका हार्दिक परिपोष ही चाहता है, विनाश नहीं।

गम्भीर और शान्त चित्त से विचार करने का विषय है कि, जिस धर्म ने अपने आध्यात्मिक अनुभव तथा परिणति के कारण, नानाविध सम्प्रदायों को आत्मसात् कर लिया है, वह धर्म सङ्कुचित दृष्टि वाला अथवा कट्टर पंथी कैसे कहा जा सकता है? यह तो विरुद्ध बात होती है। हिन्दू धर्म की समन्वय

क्षमता तथा उदार हृदयता सुविख्यात है। कौन नहीं जानता कि इस धर्म की मौलिक रहस्यमय पुस्तक श्रीमद्भगवद्गीता है? और क्या वह सकीर्णता दर्शिवाली है ऐसा कोई भी विचारी पुरुष मान रहा है? वह तो एक उदात्त विश्व धर्म की शिक्षा देने वाली अनुपमेय पुस्तक है, किसी एक जाती या वर्ग के लिये परिसामित नहीं है। स्वर्गीय राष्ट्र पुरुष महात्मा गान्धी जी की भी यही अभिमति थी। वे अपने को सनातनी हिन्दू बतलाते थे और रामराज्य के हार्दिक अभिमानी थे। सनातन धर्म के प्राचीन पारदर्शी मनीषी पुरुषों की भी ऐसी ही दृष्टि रही है। कतिपय बातों में कुछ विभेद रहना यह तो मानव स्वभाव सुलभ बात है। और इतना भी मतस्वातन्त्र्य को स्थान न देना, मानवी बुद्धि को लोहे के साथ में जकड़ देना है जो समाज के लिये कभी हितदायक नहीं हो सकता। वैचारिक स्वतन्त्रता की दृष्टि से देखा जाए तो हिन्दू धर्म में सभी प्रकार के मनुष्यों के लिये प्रगति पथ के आयोजन बने बनाये हैं यहाँ तक कि अनीश्वरवादी दर्शनों को भी इस धर्म में स्थान है। वे अहिन्दू नहीं कहलाते।

यह तो जानी हुई बात है कि, धर्म भेदों और मत भेदों के नाम पर जितना लूट मार छीना झपटी बलात्कार और प्राणहत्या दूसरे देशों में हुई है, उसकी शतांश सी इस भारत वर्ष में नहीं हुई है। और जो कुछ हुई है वह भी प्रायः आततायी आक्रामकों के धर्मोन्माद और अत्याचारों की प्रतिक्रिया रूप में हुई है। गत दो सहस्र वर्ष का इतिहास इन बातों की पूर्ण रूप से साक्षी दे रहा है।

धर्म का नाम लेकर जो दूसरों पर भीषण अत्याचार और उपद्रव ढहाते हैं, उनको आप कॉम्युनल या कट्टर पंथी कह सकते हैं। हिन्दू धर्म में एक भी सम्प्रदाय या पंथ ऐसा नहीं है जो कॉम्युनल कहलाया जा सके।

हिन्दू धर्म की शान्ति शीलता बन्धु भाव और सर्व व्यापकता के आदर्शों से उसके सभी सम्प्रदाय प्रभावित हो गये हैं। हमारे पास जो सब से बड़ा

बहादुर सम्प्रदाय है, वह सिक्खों का है। उस का ज्वलन्त इतिहास स्पष्ट रीति से बता रहा है कि, उसके सारे पराक्रम और पुरुषार्थ देश और धर्म की सुरक्षा के उद्देश्य से हुए हैं धर्मोन्माद के कारण नहीं।

हिन्दू धर्म के विषय में पश्चिम बंगाल के भूत पूर्व गव्हर्नर मेधावी विद्वान् डॉ कैलासनाथ काट्जू जी, ने जो सुन्दर लेख लिखा है और जो मद्रास के 'हिन्दू' पत्र के २४ सितम्बर १९५१ के अङ्क में पृष्ठ ४ पर छापा गया है, विचार पूर्वक पढ़ने के योग्य है। हार्दिक प्रसन्नता की बात है कि, आज सर्व श्री काट्जू जी भारतीय शासन के गृहमन्त्रि पद को अलङ्कृत कर रहे हैं।

हिन्दू धर्म एक विवेक प्रधान विश्व धर्म है। जो आगन्तिक उलझनों से विचलित नहीं होता। 'अशोक चक्र' के लिये उसके विशाल हृदय में समादर का स्थान है। भगवान् बुद्ध ने जो इस देश में अद्वितीय सुधार का काम किया उसके लिये सनातन हिन्दू धर्म में उनको विभूति रूप अवतारों में स्थान दिया है। महात्मा बुद्ध के सदुपदेशों का परिपालन जितना इस देश ने किया है, उतना दूसरे देशों ने नहीं किया है। यह मर्म की बात स्व महात्मा गान्धी जी ने अनेक बार बतायी है। 'सत्यमेव जयते' नानृतम्' (मु उ ३–१–६) यह तो एक चिरन्तन अबाधित सिद्धान्त है। अत इस उच्चतम दृष्टि से सर्व सनातन हिन्दू धर्मियों का कर्तव्य है कि, वे अपने अल्प संख्यक भाइयों की सुयोग्य सहायता तथा सुरक्षा करें। केवल राजनीतिक धरातल पर ही नहीं, प्रत्युत हिन्दू धर्म की पताका समुज्वल रखने का यही एक अनिन्द्य सुन्दर मार्ग है।

हिन्दू धर्म की आत्मा वेदान्त शास्त्र है, जो सभी संकीर्ण स्वार्थी विचारों को जघन्यता की दृष्टि से देखती है।

मानव समाज के आद्यतम काल में जब मही मण्डल के यावत् प्रदेश, अविद्या-अन्धकार में प्रकाश पाने की लालसा से इधर उधर भटकते फिरते थे, उस काल में यह आर्य देश सभ्यता और सुख शान्ति की उन्नत अवस्था में था। मानो वह प्रकृति नटी की मधुर लीला का रमणीक उद्यान था। इसका निर्विवाद आभास हमे वैदिक वाङ्मय से मिलता है। वेदों में अनेक सुन्दर स्तोत्र मन भावन कथाएँ और साहित्यिक दृष्टि के आभामय वर्णन बहुल स्थानों पर पाये जाते हैं, जिससे पता चलता है कि उस प्राचीन तम काल में आर्यों के निवास स्थान में धन धान्य, सन्तति, सम्पत्ति, और सुख शान्ति का सुराज्य था। आध्यात्मिक संस्कृति की भी अच्छी सम्पन्नता थी। वैदिक वाङ्मय में इस सूक्ष्म दृष्टि की विचारधाराएँ और उदात्त प्रभामय उत्प्रेक्षाएँ बहुत उपलब्ध होती हैं, जो पाठकों के हृदयों को सुधाप्लावित कर देती हैं।

वेदान्त शास्त्र की महनीयता और आधुनिक भौतिक विज्ञान की प्रगति

अखिल विश्व विस्तार किसी कपोल कल्पित आवरण विक्षेप शाली भाव रूप अनादि **अज्ञान** की बनाई हुई भ्रान्त वस्तु नहीं है। वह परब्रह्म परमात्मा की अपनी लीला मात्र से उत्पन्न हुआ एक अद्भुत चमत्कार है। अर्थात् उसमें अनेक रहस्यमय पहेलियाँ हैं जिनको सुलझाने के निमित्त जगत् के अनेक गण्य मान्य विद्वानों ने श्लाघनीय प्रयत्न किये हैं। पर आश्चर्य जनक बात है, कि बिना किसी भौतिक विज्ञान शास्त्र की सहायता के, केवल अपनी प्रतिभा शक्ति के बल पर पारदर्शी महर्षियों ने अनेक सहस्त्राब्दियों के पूर्व इस परमोच्च आत्मतत्त्व की रहस्य ग्राहिणी गवेषणा की, और उसका निश्चित रूप से वेदों तथा उपनिषदों में मर्मस्पर्शी वर्णन लिपि बद्ध कर दिया। दे पृ १५२, १५३, तथा २२८। यह बात जैसी कौतूहल जनक है, वैसी ही हमारे लिये एक गौरव की वस्तु है।

इसमें सन्देह नहीं कि आधुनिक वैज्ञानिकों की प्रखर बुद्धि से, गत दो शताब्दियों में भौतिक शास्त्रों में आश्चर्य जनक प्रगति हो गई है। एक

शताब्दि के पूर्व तक, विज्ञान विशारद, जिन सम्भावनाओं के स्वप्नों तक के देखने का साहस न कर सकते थे उनका ज्ञान अब दैनिक व्यवहार-जग में व्यापक हो चुका है, और कहा नहीं जाता कि निकट भविष्यत् में क्या क्या चकाचौन्ध उत्पन्न करा देनेवाली बातें हमको अनुभव करने को मिलेंगी। ज्ञान का क्षेत्र चिर नवीन बना रहता है। जैसे जैसे हम उस में अग्रसर होते हैं, नव विस्मय और नवस्फूर्ति प्राप्त करते हैं और वह क्षेत्र और ही विस्तृत होता जाता है। ज्ञान के विद्यार्थी यही अनुभव करते हैं कि वे अभी ज्ञान के तटपर हैं, और ज्ञान का महासिन्धु तो उन के सामने बड़ी दूर तक फैलता हुआ चला जा रहा है।

विश्व किरण (Cosmic rays) के सम्बन्ध में विदित हुआ है कि उसमें सृष्टि के मूल द्रव्यों के निर्माण की शक्ति है। और आज यह सृजन व्यापार इस धरती से लग-भग ११ मील के अन्तर पर आकाश में अविराम गति से चल रहा है। वर्तमान काल के रशिया के ज्योतिर्गणित विशारद वी जा फेसेनकोव्ह का अनुशोधन है, कि विश्वाकाश में आज भी नये तारकों का सृजन हो रहा है। यह कैसी विस्मयजनक घटना है? दे. दैनिक 'हिन्द' पत्र दि १२ मई १९५०

प्रवीण दृष्टि विद्वानों का अनुमान है कि, भौतिक शास्त्रों की अद्भुत गवेषणाएँ हम को उसी उच्चतम अद्वितीय आत्मज्योति की ओर बरबस लिये जा रही हैं, जो इन सब शक्तियों का उद्गम स्रोत है। अन्ततः यदि हम उसी निदान को पहुँचे जिसको प्राचीन मुनि महर्षि अपने प्रातिभ ज्ञान से पहुँचे थे, तो यह एक अत्यन्त आश्चर्यकारी और आनन्द जनक बात होगी प्रतीत तो यही हो रहा कि भविष्यत् में अद्वैत विज्ञान ही सर्वाभिमत होनेवाला सिद्धान्त है।

का अनुभव करना पड़ा था, वैसा ही अपनों के हाथों ही, बौद्धिक पराधीनता का भी हमें अनुभव करना पड़ा है, जिसका दु ख पहले की अपेक्षा कहीं अधिक हुआ करता है। अब स्वतन्त्र भारत के मगलमय प्रभात में यदि हम इस भूल भुलैयाँ के कुहर जाल को हटा देने के अभिलाषी हैं तो हमें उस दिशा म प्रयत्नशील होना आवश्यक है। यह बात हमारे सूक्ष्मदर्शी मेधावी पुरुषों के लिए कोई कठिन नहीं है। विचाराच दृष्टि से यदि अध्ययन तथा अनुशीलन किया जाए तो प्रतीत होगा कि औपनिषदिक तत्त्व विज्ञान एक आभामय समन्वय सिद्धान्त है जिसमें सर्व प्रकार की विसङ्गतियों और विप्रतिपत्तियों का परिहार है। 'आनन्दाद्ध्येव खलु इमानि भूतानि जायन्ते' (तै० उ० मृ० अ० ६) इस तत्त्व से पृथक होने से, हम अनेक विक्षेपों में उलझते गये हैं और जा रहे हैं। अद्वैत साधना इन समस्त प्रतिबन्धों को चीरती हुई, दु खों से दूर करती हुई, साधकों को इस आनन्द रूप विश्राम-भूमि को पहुँचा देती है। जो जितेन्द्रिय पुरुष निरलस भाव से शास्त्रोक्त मार्गद्वारा अपनी सम्पूर्ण मलिनता को दूर कर शुद्ध रूप हो जाता है, और सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर लेता है, केवल वही इस ज्योतिर्मय चिरन्तन स्वरूप का दर्शन कर सकता है, और उसी को उस की सुस्निग्ध आह्लादमय कृपा धाराओं म रममाण होने की सफलता प्राप्त होती है। यही हमारे ऋषियों, मुनियों, मनीषियों के मनन चिन्तन और भजन का केन्द्र बिन्दु रहा है। यही सब से ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, और प्रेष्ठ अक्षर **परब्रह्म** है।

म दा. गाडगील

प्रथम प्रबन्ध

ब्रह्मविद्या

और

इसके चतुर्दिक् उत्पन्न अविद्यारण्य

। दृश्यते त्वग्रयया बुद्धया
सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ।

(कठोपनिषद् १-३-१२)

[प्रवीण दृष्टि पुरुषों को अपनी कुशाग्र बुद्धि द्वारा, आत्मज्ञान अवश्य प्राप्त हो सकता है]

ब्रह्मविद्या

और, उसके चतुर्दिक उत्पन्न

अविद्यारण्य

तम्ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशम्
मुमुक्षुर्वै शरणमहम् प्रपद्ये ।
(श्वे. उ. ६-१८)

(६) *ब्रह्मविद्या*

'ब्रह्मविद्या' शब्द भारतीय तत्त्वविज्ञान का बोधक है। विषय तो अत्यन्त गहन है, पर संक्षेपत कहा जा सकता है कि जीव जगत् और इनकी धारक, पोषक संचालक और नियामक शक्ति ब्रह्म, इन तीनों के तत्त्वार्थ ज्ञान को ब्रह्मविद्या अथवा तत्त्वविज्ञान कहते हैं। अर्थात् इसमें अन्तर्भुक्त नाना विध समस्याए आती हैं, उनका तत्त्व-ज्ञान भी विज्ञान कहलाता है। उदाहरणार्थ इस विश्व की उत्पत्ति, स्थिति, लय कैसे होती हैं? इसके अन्दर जो अनन्त पदार्थ हैं, उनका उपादान कारण क्या है ? क्या वह नित्य है या अनित्य है ? जीव क्या पदार्थ है ? इसका जन्म, चेतनत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, मरण, इन सबका क्या रहस्य है ? मोक्ष क्या वस्तु है ? प्राणिमात्र को स्वाधीनता की स्वभाव से ही अभिलाषा क्यों रहती है ? मानव के हृदय में उदात्त भाव कैसे उत्पन्न होते हैं ? और क्या उनको उत्प्रेरणा प्रदान करने वाली शक्ति भी कोई कहीं है ? इन गहन प्रश्नों और इनके अतिरिक्त और भी अनेक जागतिक प्रमाण प्रमेय कर्म और कर्म फलव्यव-हार, किस अद्भुत शक्ति के अबाधित और अविकृत सामर्थ्य के आश्रय से चल रहे हैं ? इत्यादि अनेक बातों के सुयोग्य और निश्चित उत्तर तत्त्वज्ञान की सार्वभौम भित्ति पर से ही दिए जा सकते हैं, ऐसा दृढ विश्वास इस भारतवर्ष में वैदिक काल से चला आया है।

'एकेन विज्ञानेन सर्वं विज्ञातं भवति' (छा उ ६-१-३) ऐसी ब्रह्मज्ञान की महनीयता प्राचीन ऋषियों ने बतायी है। इस उपनिषद् में जो अध्यात्मविज्ञान का प्रस्ताव किया गया है वह इसी सिद्धान्त पर कि ब्रह्मविद्या ही सब विद्याओं में उच्चतम है। मानो उनका मूल स्रोत है। यदि वह साध्य हो तो अन्य विद्याएँ बिना प्रयास के प्राप्त हो सकती हैं। इस सम्बन्ध में इसी उपनिषद् में महर्षि आरुणि के सुपुत्र श्वेतकेतु की मनोमुग्धकर कथा दी गयी है जो पढ़ने योग्य है। अर्थात् ऋषियों का यह अनुभव रहा है कि आत्म-विज्ञान के बल पर निःश्रेयस तो प्राप्त होना ही है वरन् इहलोक में भी अभ्युदय और उन्नति प्राप्त हो सकती है। वैदिक वाङ्मय में इसके दृष्टान्त भी दिए गये हैं। ऋग्वेद के कौषीतकी उपनिषद् में बतलाया गया है कि इन्द्र और असुरों के सङ्ग्राम में इन्द्र ने जब तक आत्मज्ञान का सम्पादन नहीं किया था, तब तक उसका पराभव होता रहा। किन्तु आत्मज्ञान होते ही उसने असुरों का पूर्ण पराभव किया और समस्त देवगणों का स्वाराज्य एवं श्रेष्ठ आधिपत्य प्राप्त कर लिया—"स यावद्ध वा इन्द्र एतमात्मानं न विजज्ञे तावदेनमसुरा अभिबभूवु। स यदा विजज्ञेऽथ हत्वाऽसुरान्विजित्य सर्वेषां देवानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येयाय।" (२।१०) इससे यह ज्ञात होता है कि आत्मज्ञान के सम्बन्ध में हमारी जो कल्पना है, श्रुति का अभिप्राय उसकी अपेक्षा कहीं अधिक और गम्भीर है। श्रुति की दृष्टि से ब्रह्मविद्या मोक्ष देने वाली तो है ही पर उससे देश में सुराज्य की स्थापना भी हो सकती है और सब लोगों को शान्ति एवं सुख की प्राप्ति होती है।

(७) ब्रह्मविद्या का जागतिक उत्कर्ष से सम्बन्ध

श्रीमद्भगवद्गीता का भी यही महत्व का आदेश रहा है। जहाँ सर्वनाश के भय को माथे में ले कर दारुण युद्ध का प्रसंग उपस्थित है, वहाँ पर ब्रह्मज्ञान के उपदेश की प्रयोजनीयता का रहस्य हमको इसीलिए नहीं समझ पड़ता है कि इस विषय के सम्बन्ध में हमारी कल्पनाएँ विपर्यस्त हो गयी हैं। देखिए श्रीमच्छङ्कराचार्य इस सम्बन्ध में क्या सम्मति रखते हैं। गीता अ ४ श्लोक १ पर भाष्य लिखते हुए वे निःसंदिग्धता से

बताते हैं – इस अध्यायद्वयेनोक्त योग (ज्ञान निष्ठा लक्षण ससन्यास कर्म योगो–पाय यस्मिन् वेदार्थ परिसमाप्त तम्) विवस्वन आदित्याय सर्गादौ प्रोक्तवानहम् जगत्पालयितृणा क्षत्रियाणां बलाधानाय। तेन योगबलेन युक्ता समर्था भवन्ति ब्रह्मपरिरक्षितुम्। ब्रह्म क्षत्रे परिपालिते जगत् पालयितुमलम्' इससे स्पष्ट है कि **संन्यास योग** का परमोच्च उद्देश्य रखनेवाला प्राचीन आर्य तत्त्वज्ञान स्वराज्य और जागतिक न्यायनिष्ठ अभ्युदय के विपक्ष में नहीं है, प्रत्युत उसका परिपोषक है। मर्म यह है कि जब स्वराज्य का मन्दिर आत्मविद्या की उदात्त एव सुदृढ नींव पर उठाया जाता है तभी उसमे दैवी सम्पत्ति का उत्कर्ष, विश्वबन्धुत्व, आर्तत्राण, सर्वात्मभाव, एव प्राणिमात्र में हित तथा प्रगति का सरक्षण-सवर्द्धन हो सकता है, और ऐसे श्रेष्ठ तत्त्व पर आधारित आचरण ही विश्वधर्म एव ध्रुवा नीति हो सकते हैं। केवल अपनी जाति के स्वार्थमय हितों के लिए जनता या अन्य लोगों पर आक्रमण करना और सत्ता स्थापित करना जुल्म है, अत्याचार है,। इस नीति से जय प्राप्त होगी और कुछ समय तक वह टिकायी भी जा सकेगी, परन्तु उसमे वास्तविक सुख, शान्ति और प्राणिमात्र के कल्याण की प्राप्ति सम्भव नहीं है।

इन्द्र ने जिस आत्मविद्या को प्राप्त किया, वह प्राणिमात्र का कल्याण सिद्ध करने वाली थी और अर्जुन को जो बतलायी गयी, वह भी यही थी। अर्जुन में ऐसी सर्वात्मभाव की विशाल दृष्टि यदि पहले से ही होती, तो वह आर्तत्राण तथा विश्वधर्मरक्षण के लिए होनेवाले युद्ध से पराङ्मुख हो ही न सकता। इसी बात को, क्या "यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव" यह वाक्य नहीं बतला रहा है? अत हमारे वैदिक साहित्य में ब्रह्मविद्या एव राजनैतिक अभ्यु-दय का जो समीकरण किया गया है, वह रोचक नहीं, यथार्थ है।

कुरुक्षेत्र के सग्राम में अर्जुन के हृदय में मोह वश अकर्मण्यता का भाव जगने पर यदि उसको केवल युद्ध के लिए ही प्रस्तुत कराना होता, तो उसे—मथरा ने जैसे कैकेयी को दिया था, वैसा—उपदेश कर सकना सहज था। 'सम्राट् दशरथ की मरणासन्न दशा हो तो भी कोई चिन्ता नहीं, सुकुमार रामचन्द्र जी को

चौदह वर्ष तक वनवास भोगाने में भी क्रूरता या पाप नहीं है, राजनीतिक-शास्त्र में भला पाप और पुण्य क्या ? अपने प्रिय पुत्र भरत को जैसे भी हो राज्य मिल जाए, बस यही माँ का वास्तविक उदात्त प्रेम और यही उसका वर्तमान निर्घृण कर्तव्य है।' इसी प्रकार का अर्जुन को भी उपदेश दिया जा सकता था। 'अरे! प्रिय अभिमन्यु को दिव्य पराक्रमी पुत्र होगा और वह इस भरतभूमि का एकछत्र सम्राट् होगा। तेरे सब भाई अल्पायु हैं, केवल तेरी ही भरपूर आयु है और इन्द्र को भी दुर्लभ ऐश्वर्य तुझे यहाँ भोगने को मिलेगा, यह मैंने प्रथम से ही निर्णीत कर रखा है। अतएव तुझे लड़ कर विजय प्राप्त करनी ही चाहिए और इसीलिए भीष्म, द्रोण को तो जाने दे युधिष्ठिर का काँटा भी निकाल बाहर करना पड़े तो भी घबराने का काम नहीं है। राजनीतिक क्षेत्र में पाप पुण्य की काल्पनिक भीति ले कर बैठ जाना मानसिक दुर्बलता है। अत 'उत्तिष्ठाग्निष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चय' इत्यादि । परन्तु ऐसा उपदेश नितान्त अन्याय्य होता था। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी का उपदेश तो आत्मविद्या की उदात्त भूमिका पर से ही हो सकता है और वह जगत् की शान्ति, स्वास्थ्य एवं कल्याण के ही लिए है, रोचक नहीं, यह नि सन्दिग्ध सत्य है।

(८) दैवी सम्पत्ति और देश की प्रगति

भारतीय युद्ध से लेकर अब तक जो प्रचण्ड कालखण्ड व्यतीत हुआ, उसमें भारतवर्ष में अनेक परिस्थितियाँ, आक्रमण, युद्ध, और धार्मिक, सामाजिक, आन्दोलन हो गये। उनमें जो एक तत्त्व दृष्टिगोचर होता है, वह यह है कि प्राचीन संस्थाएँ जाकर नयी आयेंगी, प्राचीन रीत-भात, आचार प्रक्रिया ह्रास हो कर नवीन आयेंगी, प्राचीन राजव्यवस्था मिट हो कर नयी आयेगी अर्थात् अल्पांश में ही क्यों न हो, नवीन में दैवी सम्पत्ति की वृद्धि होनी चाहिए। "तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्" (पुरुष सूक्त) यह कहने का मुअवसर तभी आता है, जब प्राचीन धर्म अरुचिकर, त्रासदायक, उद्वेजक हो जाता है और नवीन में समाज की किसी किसी विषय में सुविधा, सुख एवं आनंदत्राण की योजना होती है। दैवी सम्पत्ति केवल ग्रन्थगत, कल्पना या मनोगत, निष्क्रिय धर्म नहीं है, अपितु उसका प्रभाव समाज की धार्मिक तथा

श्रेयोन्वित प्रगति पर पड़ना चाहिए। सर्वात्मभाव या सर्वभूतहित अत्यन्त उच्च कोटि की बात है यह सत्य है, किन्तु इसका आरम्भ निम्न विषयों में से ही क्षणशः-कणशः **दैवी सम्पत्ति** के आधार पर ही होता रहता है और इस सम्पत्ति तथा आत्मविद्या का कैसा आत्यन्तिक अविनाभावसम्बन्ध है यह वेदान्त के अभ्यासी जनों को नये सिरे से बतलाने की आवश्यकता नहीं है। जिन्हें आज हम प्राचीन धर्म कहते हैं, वे भी किसी समय नये और अत्यन्त इष्ट सुधार सम्पादित करनेवाले थे और इसीलिए समाज के नेताओं ने उनको अपनाया। परिवर्तित स्थिति में वे योग्य नहीं रहे, अतः उन्हें एक ओर हटा देना ही इष्ट हो गया। यह विषय स्वतन्त्र और व्यापक है, यहाँ उसका संक्षिप्त दिग्दर्शन कराकर इतना ही कहना है कि ऐतिहासिक दृष्टि से भी हम भारतीयों का जब जब उत्कर्ष हुआ है, तब-तब वह **दैवी सम्पत्ति** अर्थात् आत्मविद्या के ही आश्रय और बल पर हुआ है यह बात अत्यन्त महत्वपूर्ण है। संसार के अन्य देशों की परिस्थितियों की बात में यहाँ से अन्तर है, वहाँ अनेक परिवर्तन भयङ्कर रक्तपात के बाद आसुरी प्रयत्न से हुए हैं, किन्तु इस पुण्यभूमि भारत की बात कुछ और है।

भारतीय युद्ध के उपरान्त सम्स्थापित गीताधर्म कालान्तर में लुप्त हो गया। "स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप" इस उक्ति का फिर से अनुभव प्राप्त हुआ और देश दुर्गति में फँस गया। अर्जुन को धर्मनाश, वर्णसाङ्कर्य, कुलक्षय एवं देशहानि होने का जो भय हो रहा था, वे सभी दुष्परिणाम प्रत्यक्ष घटित हुए, किन्तु अर्जुन के बताये हुए कारणों से नहीं।

(९) मीमांसा सम्प्रदाय का प्रभाव

आत्मविद्या का ह्रास होने से अनेक विचित्र विचारों की धूम मची। मनुष्य का मन ही कुछ ऐसा बनाया गया है कि उसमें किसी किसी समय विचित्र विचारों का तूफान उत्पन्न हो जाया करता है और इससे मनुष्य समाज का कभी कभी मानों विनाश हो जाता है। जड़वाद, वास्तववाद, फ्रॉइड के विचारों के झोंकों का सबको अनुभव है ही। कभी-कभी इन विचारों को बड़ा विकराल स्वरूप प्राप्त होता है। ऐसी ही स्थिति उस समय हुई। मीमांसक कहने लगे कि "अरे!

कोई ग्रन्थकार क्या इसलिए कोई ग्रन्थ लिखता है कि पढने के बाद उसे आल्मारी में बन्द करके रख दिया जाए ? नहीं, ग्रन्थ का उपदेश व्यवहार में आना चाहिए। मनुष्य को अपने कर्तव्य कर्मों का आचरण अवश्य ही करना चाहिए केवल विचार कह कर क्या उनकी पूजा करनी है ? जब साधारण ग्रन्थ के सम्बन्ध में ऐसी बात है, तब हमारे अपौरुषेय ग्रन्थराज वेद का उद्देश्य तो यही है कि मनुष्य अपने अभ्युदय के लिए निरन्तर कर्म करता रहे। यह स्पष्ट है कि विचारों का तात्पर्य प्रत्यक्ष कर्मों में ही हुआ करता है। अत "वेदा हि यज्ञार्थमिह प्रवृत्ता" यह सिद्धान्त ठीक है। यज्ञयागादि श्रौतस्मार्त कर्म अपनी आयु भर करते रहना और उनके द्वारा अपना इह-पर अभ्युदय अवश्य सिद्ध करना, यही हमारा तत्त्वज्ञान है। क्रिया के अतिरिक्त वेदों में और जो जो बातें आयी हैं, वे सब निरर्थक हैं—"आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्" (मीमांसा-सूत्र १-२-१) श्रुति में जो वर्णन आता है कि परमात्मा ने सृष्टि उत्पन्न की इ० वह भी सत्य नहीं है। सृष्टि स्वयम्भू है, उसे किसी ने भी उत्पन्न नहीं किया है—"न कदाचिदप्यनीदृश जगत्।" वेद का तात्पर्य सृष्टि बतलाने में नहीं है।" इस प्रकार की वैचारिक असावधानी की आँधी शुरू हो जाने पर दूसरी बात समझता ही कौन है। कर्मकाण्ड का महत्त्व बढ गया। क्या आपको वर्षा की आवश्यकता है ? कीजिए कारीरि इष्टि, वृष्टि होनी ही चाहिए। धन धान्य, पशु पुत्र, पौत्र, का लाभ, विष एव भूत की बाधा मिटाने के, शत्रुनाश के प्रयोग आदि आदि मानव को जो जो इष्ट है, उन्हें सिद्ध कर लेने का वेद एक विश्वकोष (एन्साइक्लोपीडिया) है। निश्चयपूर्वक स्वर्ग भी प्राप्त करा देंगे ऐसे प्रभावशाली प्रयोग जब वेदों में हैं, तब फिर मनुष्य की साधारण आवश्यकताओं या उसके हाथ से होने वाले छोटे पातकों अथवा महापातकों की तो बात ही क्या ? ये पातक कर्मप्रयोग से चटपट नष्ट हो जाते हैं और ईश्वर भी अधिक क्या देगा! साथ ही उसे मानने की आवश्यकता ही क्या है ? ऐसा विचारचक्र एक बार चल पड़ने पर उसे कौन रोके ?

कर्मकाण्ड का पारस हाथ में है इस दृष्टि से हम स्वतन्त्र हैं। हमारा कोई शासक ही नहीं है, ऐसी धारणा बन जाने पर स्वैराचार, अत्याचार और

दुराचार बढ़े इसमें आश्चर्य ही क्या ? जब किसी देश में किसी एक विचित्र विचार की आँधी चल पड़ता है, तब उसको ऐसे काल्पनिक एवं अतीन्द्रिय आधार तथा धर्म के अगत्य आवरण की अपेक्षा हुआ करती है। मीमांसक प्रबल तर्कवादी थे। उन्होंने मानो सिद्ध कर दिखाया कि उनके नास्तिक विचारों को प्रत्यक्ष वेदों का ही आधार है। ऐसे निरीश्वर वाद का समाज पर जो परिणाम होना था वही हुआ। समाज के जो नेता ब्राह्मण पहले से ही नीतिभ्रष्ट हो गए थे, भ्रान्तिचक्र में रँगे। इससे क्षत्रिय तेजोहीन हुए और वैश्य तथा शूद्र अपने-अपने धर्मों से च्युत हो गए। बौद्ध ग्रन्थों में ऐसे वर्णन आते हैं कि ब्राह्मण अपने ब्राह्मण्य से च्युत हो गए। तात्पर्य इस प्रकार देश की बड़ी हानि हुई जनसमाज दुराचार का बलि हुआ। अतः इस बिगड़ी तह को फिर ठीक करने के लिए पहले जैन धर्म और बाद बुद्ध धर्म की स्थापना हुई वह भी दैवीसम्पत्ति के बल पर हुई। यह लोग कोई पराये-विदेशी-नहीं थे। आर्य संस्कृति में से ही यह विचार-क्रान्ति उत्पन्न हुई और नीतिप्रधान आचार विचारों की भित्ति पर ही इन दोनों मतों का प्रसार बड़ी तेजी से हो सका। बुद्ध धर्म ने जो प्रगति की वह तो इतिहास में अभूतपूर्व है। वह केवल हिन्दुस्तान में ही नहीं फैला, सीलोन, ब्रह्मदेश, स्याम जावा, सुमात्रा, चीन और जापान देशों में भी व्याप्त हो गया। उसके उपदेशक यूनान मिश्र और अलेक्जेंड्रिया तक पहुँच गए। और उसकी यह व्यापकता बिना किसी अत्याचार के या जोर जुल्म के हुई! परन्तु काल की अनिवार्य परिक्रमा में बुद्ध सम्प्रदाय के भी ह्रास के दिन आ गए। उसमें अनेक तान्त्रिक प्रक्रियाएँ प्रश्रय पा गईं। मतमतान्तर उत्पन्न हुए। नीतिपूर्ण विचार भी क्षणिक और भ्रमपूर्ण मान लिए गए। फलस्वरूप अपव्यवहार और भ्रष्टाचार आरम्भ हुए। भिक्षु-भिक्षुणियों के संघों में अनाचार इतना बढ़ गया कि भिक्षुणी नाम वेश्या का वाचक हो गया। जनता इन बातों से ऊब उठी और फिर पुराने सनातन धर्म की ओर प्रवर्तित हो गई। इसी समय स्वधर्मनिष्ठ पराक्रमी राजन्य उत्पन्न हुए। मगध और कन्नौज में बड़े बड़े राज्य स्थापित हुए। महाराजा चन्द्रगुप्त (द्वितीय) अर्थात् विक्रमादित्य तथा हर्षवर्धन के शासनों में श्रौत स्मार्त धर्म का पुनरु-

हो गया। प्रसिद्ध विद्वान कुमारिल भट्ट ने बौद्ध मत का बड़ी चातुरी से खण्डन किया।

(९) भगवान शङ्कराचार्यजी का अवतार

शीघ्र ही आगे **श्रीमच्छङ्कराचार्य जी** का अवतार हुआ। इन्होंने जो प्रचण्ड कार्य किया वह इतिहास में अनुपमेय है। बहुत ही थोड़े समय में केवल अपनी अलौकिक प्रतिभा के बल से अत्यन्त शान्ति के साथ उन्होंने सनातन धर्म और अद्वैत तत्त्व सिद्धान्त की पुनः प्रतिष्ठा की। वर्तमान, प्राच्य और पाश्चात्य विद्वान् भी उनकी बुद्धिशालिता की बड़ी प्रशंसा करते हैं। तत्वज्ञान के विषय में इन्होंने सतर्क रहने की मार्मिक चेतावनी दे रक्खी है। अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में वे लिखते हैं कि इसका अध्ययन और पठन बहुत ही चिन्ताशीलता से तथा एकनिष्ठा से होने की आवश्यकता है। यदि इस विषय में पर्याप्त सजगता तथा सावधानी न रक्खी जाए तो विचारों में अनेक हेत्वाभास और दिग्भ्रम उत्पन्न होते हैं. जिनके कारण निःश्रेयस तो दूर रहा साधक अनेक अनर्थों के जाल में जा गिरता है। उनके शब्द यह हैं:—

एवं बहवो विप्रतिपन्ना युक्तिवाक्यतदाभास समाश्रयाः सन्तः। तत्रा विचार्य यत्किंचित्प्रतिपद्यमानो निःश्रेयसात्प्रतिहन्येत अनर्थं च इयात् (ब्र. सू. भाष्य १-१-१)

अतीत काल में इस देश के विद्वानों की विचारप्रणाली और साधन-पद्धति व्यक्तिगत उत्कर्ष में ही अधिक प्रयुक्त होती थी, पर जैसा कि ऊपर प्राचीन वैदिक वाङ्मय से बताया गया है, यही सजगता का न्याय, राष्ट्र के अभ्युन्नति की दृष्टि से भी चरितार्थ होता है। राज्यशासन के लिए अत्याव-श्यक है कि अपने तत्वज्ञान की सुरक्षा का पर्याप्त प्रबन्ध रक्खा। यदि उसी में अनेक उलझनों को स्थान मिला तो फिर नानाविध अन्तर्विवाद उत्पन्न होते हैं जिनसे समाज को अनर्थ परम्परा झेलनी पड़ती है। श्रीशङ्कराचार्य का

काल बहुत ही थोड़ा रहा। उनके अनन्तर यही बात हुई। अध्यात्म-ज्ञान का लोप हुआ, धर्मग्लानि उत्पन्न हुई, ब्राह्मण्य नष्ट हुआ, स्वार्थलिप्सा ईर्ष्या, कृतघ्नता आदि दुर्गुण बढ़ गए। अन्तःकलह और संघर्ष के कारण क्षत्रिय राजन्यगण हतप्रभ और निर्बल हो गए। इसका परिणाम परकीयों के विप्लवकारी आक्रमणों में प्रकट हो गया। इस उपलक्ष्य में महाराष्ट्र के साधुश्रेष्ठ **समर्थ रामदास** ने अपने दासबोध नामक ग्रन्थ में लिखा है:—

ब्राह्मण बुद्धीपासून चेवले आचारापासून भ्रष्टले ।
गुरुत्व सांडून झाले शिष्यशिष्यांचे ॥३१॥
कित्येक दावलमलकास जाती कित्येक पीरास
भजती कित्येक तुरुक होती आपुले इच्छेनें ॥३२॥
हें ब्राह्मणांस कळेना त्यांची वृत्ति वळेना ।
मिथ्या अभिमान गळेना मूर्खपणाचा ॥३५॥
राज्य नेले म्लेंच्छ क्षेत्रीं गुरुत्व नेलें कुपात्रीं
आपण अरत्रीं ना परत्रीं कांहींच नाहीं ॥३६॥
ब्राह्मणास ब्रामण्यानें बुडविलें विष्णुनें श्रीवत्स
मिरविलें त्या विष्णुनें शापिलें परशुरामें ॥३७॥
आम्हीही तेचि ब्राम्हण दुःखे बोलिलों हें वचन
वढिलें गेले ब्रामणी करुन आम्हां भोंवते ॥३८॥
आतांच्या ब्राम्हणीं काय केले, अन्न मिळेना
ऐसें झालें। तुम्हीं बहुताचे प्रचीतीस आलें
किंवा नाहीं ॥३९॥ (दासबोध १४-७)

(१०) श्री समर्थ रामदास स्वामीजी का अवतार

भारतवर्ष का बड़ा सौभाग्य था कि ऐसे समय उपरि कथित ओजस्वी साधु-पुरुषने जन्म लिया। इन्होंने सम्यग्ज्ञान तथा धर्म-निष्ठा की तह फिर से प्रतिष्ठित करने का प्रबल प्रयत्न किया। इसी काल में अद्भुत पराक्रमी महाराज **श्री शिवाजी** प्रकट हुए। उनकी सहायता करने वाले

अनेक प्रतापी वीर उत्पन्न हुए। इन सबों ने देश को फिर से अभ्युदय सूर्य का दर्शन कराया।

परन्तु फिर भी हमने अपने राज्य की सुरक्षा नहीं की। दैवी सम्पत्ति की अवहेलना ही विपत्तियों की जन्मदात्री हुआ करती है। ब्रह्मविद्या तो दूर ही रही व्यावहारिक तारतम्य को भी हम खो बैठे। राजन्य वर्ग में परस्पर द्वेषाग्नि तथा स्वार्थी अभिलाषा प्रबल हो गई, जिससे देश विप्लव में फिर से डूब उतरा। परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजी राज्य का जूआ हमारी गर्दन पर जो सवार हुआ वह कोई डेढ सौ साल तक वहीं अचल जमा रहा। उसको हटा देने के कारण हमारे अनेक दूरदर्शी मेरुदण्ड नेताओं ने और बहुसंख्य पराक्रमशाली देशभक्तों ने भीष्म प्रयत्न किये पर कोई सफलता लाभ हमें नहीं हुआ। प्रत्युत अन्त तक किसी को क्षीण प्रत्याशा भी नहीं हुई कि अंग्रेज यहाँ से सचमुच ही चल बसेंगे? पर यह अनहोनी बात हो गई जिसका कारण समय की बलिहारी अर्थात् भौगोलिक राजकारणों के गहरे चक्र हो गये। पर फिर भी अपने शासन को छोड़ते समय अंग्रेजों ने हमारे विनाश के निमित्त कैसे षड्यन्त्र रच दिये देखते ही बनता है। ऐसी अवस्था में भी वे इसी फिराक में रहे कि किसी तरह फिर से भारत पर कब्जा जमाया जाए। इसलिये उन्होंने इधर उधर जाति द्वेष की अग्नि को सुलगा कर तीव्र कलह भड़का दिये। फलतः देश को छिन्न भिन्न होना पड़ा, उसके दोनों बाजू के बडे पंख कट गये और पाकिस्तान के निर्माण को अगतिकता से मान्यता देनी पड़ी। इतना ही नहीं, भारतवर्ष के सैंकड़ों संस्थानिकों को मनचाही स्वायत्तता का आमिष दिखा कर चिरकालिक झगड़ों की सामग्री जुटा दी। और तिस पर कमाल तो यह कि अपने स्वातन्त्र्य प्रदान के प्रास्ताविक भाषण में लॉर्ड माउन्टबैटन ने साफ तरह आघोषणा भी कर दी कि यह हमारी Open deplomacy है! इसका परिणाम जो होना था वही हो गया। देश में हिन्दू मुस्लिम जनता में भयानक झगड़े, लूटमार और स्त्रियों पर अत्याचार हुवे। असंख्य मनुष्यों की हत्या हुई। देश का सारा शृंगार छीन गया, अन्त में केवल परमेश्वर की कृपा से दैवी सम्पत्ति के द्वारा ही शान्ति की प्रस्थापना हो सकी, जिसका अपूर्व श्रेय

स्व० महानुभाव गान्धी जी को है। काश्मीर और हैदराबाद की भीषण समस्याओं में भी हिन्दू स्वराज्य को **दैवी सम्पत्ति** के प्रभाव से ही अब तक यश मिला है और भविष्य में भी अवश्य मिलता जाएगा। दैवी सम्पत्ति का अर्थ निर्बलता या पोंगापन या निरीहता नहीं है। वह बलवानों की अहिंसा एवं विकारिता से रहित न्यायनिष्ठ शासनशक्ति है। एक अनूठी धुरा नीति है जिसकी प्रभाविता राजकीय तथा अन्य क्षेत्रों में सदा'बनी रहती है। यदि हम इस पर दृढ़ता से निर्भर रहें तो भारतीय स्वराज्य का भविष्यत् इतिहास समुज्ज्वल होने में कोई सन्देह नहीं है।

कहने का आशय यह है कि भारतवर्ष का अब तक का इतिहास हमें स्पष्ट रूप से शिक्षा दे रहा है कि जब जब हमने आत्मविद्या अर्थात् इसकी गुण भूता **दैवी सम्पत्ति** की उपेक्षा की, लोकभ्रमों को प्रश्रय दिया, प्रमाद तथा अत्याचार किए, तब तब हमारा अध पतन ही होते गया और घोर दासता ही हमको भोगनी पड़ी। इसके विपरीत जब जब हमने गीता धर्म का परिपालन किया 'स्वे स्वे कर्मणि' डटे रहें और तत्त्व विज्ञान पर निर्भर रह तब तब देश का अभ्युदय ही होते गया।

दैवी सम्पत्ति एक ऐसा आशीर्वाद है जो व्यावहारिक अभ्युदय के लिए उतना ही उपकारक है जितना वह पारमार्थिक निःश्रेयस के लिए है। इस सम्पत्ति का अध्यात्मविद्या से अति निकट और घनिष्ट सम्बन्ध है, क्योंकि उसीने इसको सत्तास्फुरण तथा महत्ता प्रदान की है। इसी से वह मोक्षसिद्धि की अव्यर्थ साधना स्वीकृत की गई है।

(१२) महाविद्या और अज्ञानारण्य

पर शोक की बात है कि हम इस सम्बन्ध में गम्भीरता से विचार नहीं करते। बौद्ध साम्प्रदायिक विकृत सिद्धान्तों के दीर्घ कालीन प्रचार से जनसाधारण के विचारों में अविद्या का एक झाड़ झखाड़ उमड़ गया है। **दैवी सम्पत्ति** के अर्थ भोलापन निर्द्वन्द्वता बेपरवाही निरुद्यमता इत्यादि

कुछ विचित्र से हो गए हैं। वास्तव में **दैवी सम्पत्ति** में बुरे भले का तारतम्य ज्ञान, बुद्धिचातुर्य, अन्तःकरण का शुद्ध सात्विक भाव, न्याय निष्ठता और कर्तव्यदक्षता इत्यादि अनेक सद्गुणों का समावेश है।

। प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्विकी।

भगवान् अनन्तानन्दनिलय के इस अभिप्राय से दैवी सम्पत्ति में निर्णायकता और कार्यदक्षता का अन्तर्भाव अवश्य है। केवल नेत्रों से आँसू बहाना यह सात्विकता का लक्षण नहीं बन सकता। सत्त्व में यदि ज्ञान और बल का अभाव हो तो उसे सत्त्व कहना ही अयोग्य है। दुर्जनों की दुष्टता को पहचान कर उनका न्यायान्वित शासन करने में कोइ हिंसा नहीं, प्रत्युत सत्त्वगुण का सामर्थ्य और प्रभाव ही है। मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र जी ने रावण से भयानक युद्ध कर उसे मृत्यु के घाट पर उतार दिया। उस समय भी वे अपनी सात्विकता से कण भर भी विचलित नहीं हुए थे। 'समोहं सर्व भूतेषु नमे द्वेष्योस्ति न प्रिय' (गी० ९-२९)। ऐसी घोषणा करने वाले कृष्णचन्द्र कुरु युद्ध को धर्मपरित्राण के अर्थ चलाते हैं, यह सत्त्वबल की ओजस्विता का उदाहरण है। इसे स्वीकार करने में हममें से अनेकों को जो घबराहट-सी होती है वही हमारे मिथ्या ज्ञान का निर्विवाद परिचय देती है।

हिंसा और अहिंसा का सम्बन्ध बुद्धि की कलुषितता और विशुद्धता से है, दण्ड पद्धति या शासन व्यवहार से नहीं है। बुद्धि ही यदि उन्मादों से और विकारों से भरी हो तो, चुप बैठना भी हिंसा रूप हो सकता है। और बुद्धि यदि न्यायनिष्ठ बनी रहे तो उसके सब कार्य अहिंसा रूप ही हैं। यदि ऐसा न मान्य किया जाय तो, देश के सब न्यायालय बरखास्त कर देने पड़ेंगे। कार्यों के व्यवहार तो जड रूप हैं। हिंसा और अहिंसा के भाव बुद्धि में देखने हैं, बाह्य कर्मों में नहीं। हमारे साध्य पवित्र होने चाहिए वैसे साधन भी। परन्तु साधनों की विशुद्धता का आभास हमें बुद्धि से ही मिलेगा बाह्याकारों से अथवा कर्मों के बाह्य स्वरूपों से नहीं।

इसपर यह आपत्ति की जाती है कि ऐसे उपदेशों से स्वार्थपरायण लोगों को मनचाही बातें करने का अवसर प्राप्त होता है और वह दुराचारी हो जाते हैं। उत्तर यह है कि यथार्थ विवेकनिष्ठ उपदेश कभी अनर्थकारी नहीं हो सकता। दुष्टों का तो यह स्वभाव ही रहता है कि कैसा भी सुन्दर उपदेश हो वे उसको अपनी स्वार्थी दृष्टि से ही लगा लेते हैं। अथवा 'इस समय यह उपदेश परिपालन करना अयोग्य है' इतना निर्णय तो वे स्वयं ही दे देते हैं। दूसरे किसीकी सुनते ही नहीं। अर्थात् उत्कृष्ट पक्ष तो यही है कि उपदेशों के शब्द किसी दृष्टि से सत्य से निर्वासित न हों।

अन्ततः हमें यदि जागतिक विपत्तियों से पार होने की कोई अमोघ साधना है तो वह ब्रह्मविद्या है अर्थात् तदात्मगुणभूत दैवी सम्पत्ति ही है। विगत इतिहास अन्वय-व्यतिरेक दृष्टि से हमें यही बतलाता है। इन बातों को दिखलाने के लिए ईश्वर को यहाँ आकर हमारी आँखें खोलकर क्या यह बतलाने की आवश्यकता है कि अपने विगत इतिहास को देखो? प्रत्यक्ष अनुभव से जो नहीं जागते, उन्हें साक्षात् ईश्वर स्वयं आकर भी जगा दे, तो वे ओढ़ना ओढ़ कर फिर सो जायँगे। हमें ध्यान रखना चाहिए कि हमारा पुरातन इतिहास उज्वल रहा है, हमारे देश में पहले जो देवर्षि, ब्रह्मर्षि और राजर्षि हो गये हैं, वे भी दैवी सम्पत्ति और ब्रह्मविद्या की उपासना से ही अपनी इस प्रतिष्ठा को प्राप्त कर सके थे। ब्रह्मविद्या मानो अमृतरस की पुष्करिणी है और दैवी सम्पत्ति उसकी शीतल सुखस्पर्शी लहरें हैं। अथवा कहिये उसमें उत्पन्न कोमल सुन्दर सुरभि कमल के पुष्प हैं। अथवा उसपर से बहने वाली आह्लादजनक सुगन्धित वायु है। इसलिए हमको तो इसकी अधिष्ठानभूत पुष्करिणी को ही पहुँचना है। परन्तु इसका वास्तव्य ही निबिड बृहदारण्य में रहने से उसके निकट तक जाना ही बड़ा दुर्घट है। इसके चतुर्दिक् अज्ञान के विशाल वृक्ष और काँटेदार झाड़ियों की सदा गहनता रहती है। प्राचीन समय में महात्मा ऋषि-मुनियों ने इस पुष्करिणी तक पहुँचने के लिए अनेक बार रास्ते कर दिए, पर पुनः पुनः देखा जाता है तो इन रास्तों पर नवीन शब्दारण्य जमा दिखलाई पड़ता है और पता लगानेवाला थक कर

किसी इधर उधर की दूसरी गड्ढी को ही पुष्करिणी समझ बैठता है, अमृत समझ कर वहाँ का जल पीता है और इस अपनी भूल का पता उसे दीर्घ काल तक नहीं हो पाता। "शब्दजाल महारण्य चित्तविभ्रमकारणम्।" ऐसी स्थिति में वास्तविक पुष्करिणी का रास्ता ढूँढ निकालने के लिए अत्यन्त कुशल मार्गदर्शक के प्रादुर्भाव की अपेक्षा होती है। भारत के सौभाग्य से श्रीमच्छङ्कराचार्य के रूप में ऐसे प्रतिभाशाली मार्गदर्शक लगभग १२०० वर्ष हुए, अवतीर्ण हो गये। उन्होंने जैन तथा बौद्ध धर्मों के पश्चात् उत्पन्न हुए अज्ञान के प्रचण्ड वृक्ष एवं विक्षेपों की अनेक काँटेदार झाड़ियों को उखाड़ फेंका और इस पुष्करिणी का रास्ता साफ कर दिया। परन्तु दुर्भाग्य हम लोगों का कि उसके बाद के समय में उन्हीं पेड़ों और झाड़ियों में से फिर शाखाएँ फूट निकलीं, रस्ता बन्द हो गया और वेदान्तमार्गानुयायियों को फिर दिशाभ्रम हुआ। आज विद्वानों को यह प्रतीत होता है कि हम श्रीमदाचार्य के मार्ग से कोसों दूर बहक गये हैं और यथार्थ वेदान्त अत्यन्त दुर्गम हो गया है।

मूल प्रस्थानत्रयी को छोड़ कर वेन्दात की अन्य किसी भी पुस्तक को लीजिए। पहले तो उसकी भाषा ही ठीक तरह से समझ में नहीं आती। थोड़ा गम्भीर विचार करने पर यह दिखलाई पड़ता है कि जिस भाषासरणी से वेदान्त सम्बन्धी प्रमेय तथा सिद्धान्तों का इन पुस्तकों में विवेचन किया है, उनसे यथार्थ ज्ञान की अपेक्षा विपरीत ज्ञान होने की ही अधिक सम्भावना है। प्रस्थानत्रयी का अभिप्राय एक है तो इन ग्रन्थों का आशय कुछ और ही है। प्रस्थानत्रयी पर आश्रित संस्कृत भाषा में जो निबन्ध ग्रन्थ है, उनमें भी व्यामोह के स्थल हैं और वे भी एक दूसरे से बहुत से स्थानों में मेल नहीं रखते। साथ ही अर्वाचीन वेदान्त ग्रन्थों की भाषा अनेक स्थानों में इतनी अस्पष्ट और दुर्बोध हो गई है कि कुछ कहा नहीं जा सकता। 'होते हुए भी नहीं है', 'न हो कर होना', 'ब्रह्म, बिना अनुभव के अनुभाव्य है', 'बिना ज्ञान का ज्ञान', 'ब्रह्म के लिए शब्द लागू ही नहीं हो सकता, उसमें बिना निरी अस्मिता के कुछ विशेषता ही नहीं है। 'विश्व का त्रिकाल अत्यन्ताभाव' 'सत्त्वात्यन्ताभावे असत्त्वात्यन्ताभाव।' इस प्रकार की आश्चर्यजनक विरोधी

भाषा का उनमें व्यवहार होता है कि उसका अर्थ ही समझ में नहीं आता, या चाहे जैसा किया जा सकता है और यह समझा जाता है कि ऐसी जटिल भाषा जितनी अधिक हो, उतना ही उसमें तत्त्वज्ञान अधिक है! इस भाषा से एक लाभ तो होता है, वह यह कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी पूर्व धारणा के अनुसार अपने अनुकूल अर्थ कर लेता है, मुझे पूर्ण ज्ञान हो गया है ऐसा समझना है और इस तरह सभी प्रसन्न हो जाते हैं। इस से परस्पर विरोध होते हुए भी सबका इस विषय में अनायास ऐकमत्य हो जाता है कि ग्रन्थकार परमश्रेष्ठ और बड़ा मर्मज्ञ है। ऐसी स्थिति में तत्त्वज्ञान की अनेक मनोहर व्याख्याएँ लोगों ने तैयार की हैं। एक सज्जन का कहना है—तत्त्वज्ञान का अर्थ 'दस अन्धे व्यक्तियों द्वारा एक निबिड अन्धकाराच्छन्न विस्तीर्ण तहखाने के भीतर अमावास्या की रात्रि में की जानेवाली एक काली बिल्ली की खोज है, और वह बिल्ली भी ऐसी कि जो उस तहखाने में कभी गई ही नहीं। यह व्याख्या विचित्र तो है ही पर यह भी सच है कि यह हम लोगों को कुछ विचार करने की ओर प्रेरित कर रही है। एक व्यक्ति तो स्व० विष्णु वामन बापट शास्त्रि जी विरचित वेदान्त ग्रन्थों का उपयोग नींद लाने की दवा के रूप में करते थे। नींद किसी भी तरह नहीं आ रही है ऐसा मालूम पड़ते ही वे स्व० शास्त्रि जी की कोई वेदान्त सम्बन्धी पुस्तक पढ़ना शुरू कर देते थे। दो-चार पन्ने उलटते ही नींद हाजिर! इस तरह यह मजाक की स्थिति उत्पन्न हो गई है। डाक्टर लोग यदि इस औषध योजना का अपनी मेटीरिया मेडिका में समावेश कर लें, तो अनुचित न होगा। इसके सिवा वेदान्तशास्त्र विषय ही ऐसा है कि उसमें विभिन्न रूप-मत-मतान्तर होना अनिवार्य होता है। व्यवहारशास्त्र की बात ऐसी नहीं है। क्योंकि उसमें निर्दिष्ट विधानों की जाँच व्यवहार में प्रत्यक्ष देखी जा सकती है। ऐसी सुविधा वेदान्तशास्त्र में नहीं है। इस शास्त्र को भी अत्युच्च कोटि का अनुभव शास्त्र कहते हैं और यह यथार्थ भी है, किन्तु यह अनुभव अत्युच्च कोटि के "मनुष्याणां सहस्रेषु" इस कथन के अनुसार बहुत थोड़े महात्माओं को ही हो सकता है। दूसरे लोगों को ऐसे महात्मा का आश्रय करना चाहिए यह सच है, पर सच्चे महात्मा की परख किस तरह हो? हजारों लोग अनुयायी होने से माहात्म्य होता हो ऐसी बात नहीं है। वेदान्तशास्त्र की

पुस्तकें भी भिन्न भिन्न हैं। महात्मा और गुरु भी भिन्न-भिन्न हैं, शिष्यशाखा तो अत्यन्त भिन्न है। अतः तत्त्वज्ञान के सम्बन्ध में सैकड़ों विभिन्न मत अस्तित्व में आए हैं। इन सब अड़चनों में से ठीक रास्ता मिलने का एक ही उपाय है और वह पीछे बतलाए अनुसार सत्वाढ्य बुद्धि का प्रामाण्य है। "बन्ध मोक्ष च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्विकी" (गीता १८।३०) इस भगवदुक्ति का अनुसरण कर के दृढ निश्चयपूर्वक हमें अपनी बुद्धि को सत्त्वपूर्ण एवं सूक्ष्म बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। इस तरह उचित मार्ग मिलने में देर न लगेगी।

भारत वर्ष के प्राचीन धार्मिक, सामाजिक एवं दार्शनिक इतिहास के अध्ययन से यह बात समझ में आ सकती है कि इस विषय में जो लोकभ्रम और उलटी समझें आज हम लोगों में फैली हुई हैं, उनके बीज प्राचीन सांख्य, मीमांसक, वैशेषिक, भेदाभेदवादी, जैन, और विशेषतया बौद्ध मतों से आये हैं। तत्त्वज्ञान में तो बौद्ध मत के कारण बहुत विनाश हुआ है। आज हमें अपने वेदान्त में प्रस्थानत्रयी से विभिन्न और विरुद्ध जो दिखलाई पड़ता है, उसका साक्षात् सम्बन्ध इस सम्प्रदाय के मतों से जा मिलता है। यह बात अगले विवेचन से स्पष्ट हो जाएगी।

(१३) जैन और बौद्ध धर्मों का उदय

पीछे बतलाया जा चुका है कि भारतीय युद्ध के बाद कालान्तर में गीता की उज्वल शिक्षा अर्थात् ब्रह्मविद्या का लोप हुआ और यज्ञ-यागादि प्रक्रियाएँ एवं कर्मकाण्ड को अनावश्यक महत्त्व देनेवाला मीमांसक-सम्प्रदाय जोरों से फैला। मीमांसक कहने लगे—कर्म से साध्य न हो ऐसी त्रैलोक्य में वस्तु ही नहीं है। कर्माङ्ग देवता मानों केवल गुड़िया हैं, यज्ञ के उपकरण और सामग्री की अपेक्षा उनका कुछ अधिक मूल्य नहीं है, इत्यादि स्वैर विचारों का परिणाम स्वैराचार में और आगे चलकर दुराचार में हुआ, अर्थात् समाज में अनवस्था, अन्धाधुन्धी शुरू हुई, लोग घबरा उठे और फिर विचारों को गति मिली। लोग पूछने लगे कि क्यों जी! इस कर्म के घटाटोप में से भला पुण्य किस तरह उत्पन्न होता है? यज्ञयाग क्या पुण्य

तैयार करने के कारखाने हैं? और बेचारे निरपराध पशुओं की हत्या करने से देवता किस तरह प्रसन्न हो सकते हैं? मारा जानेवाला प्राणी यदि अनायास स्वर्ग चला जाता है, तो यजमान अपने पिता या किसी निकट सम्बन्धी को बलि क्यों नहीं चढ़ा देता? इत्यादि प्रश्न समाज से धक्का देने लगे। किसी भी सुधार की यही दशा होती है, पहले विचारक्रान्ति होती है और फिर आचार धर्म में परिवर्तन होता है। आग्रही लोग अपना हठ नहीं छोड़ते, पर दूसरे लोगों की समझ में आने लगता है कि इस में कुछ भारी गलती हो रही है। वास्तविक धर्म मुख्यत नीति की नींव पर आधारित सदाचार ही है। ऐसी भूमिका बन जाने से अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धैर्य, दया, परिमितता, शुद्धता, इन मूलभूत तत्त्वों के आधार पर पहले जैन धर्म का उदय हुआ और आगे शीघ्र ही बुद्ध धम का भी प्रादुर्भाव हुआ। यज्ञयागादि कर्मकाण्ड में केवल भ्रान्त कल्पनाओं के सिवा और कुछ नहीं है, इतना ही नहीं अपितु सभी व्यवहारों के मूल में मानव कल्पनाजाल का बीज है और वह कल्पनाएँ क्षणिक हैं, अतः जगत् क्षणिक विज्ञानों का एक सतत प्रचण्ड प्रवाह है, ऐसी नवीन कल्पना **महात्मा बुद्ध** ने समाज के आगे रखी, और आगे चलकर यह विचार इतना प्रबल हुआ कि उससे— स्वप्न में पदार्थ न होकर जैसे केवल बुद्धिगत सस्कारों के कारण ही दिखलाई पड़ते हैं, वैसे ही ससार की बाह्य सत्ता बिलकुल नहीं है, जो कुछ भी है वह हम लोगों के मस्तिष्क में ही है—ऐसे नवीन दार्शनिक विचारों का जन्म हुआ। लोगों को स्वप्न के दृष्टान्त से ऐसा प्रतीत हुआ कि मानो प्रत्यक्ष प्रमाण ही हमारे हाथ लग गया। महात्मा गौतम बुद्ध एक परम त्यागनिष्ठ जिज्ञासु पुरुष थे। उन्होंने घर स्त्री, आदि का त्याग किया था, कुछ साल तपस्या, अध्ययन एव विचार मे व्यतीत किये थे और बाद में उन्होंने अपने विचार समाज के सामने रखने शुरू किये थे। अनेक दृष्टान्त देकर अपने मत का प्रतिपादन कर प्रतिपक्षी पर प्रश्न पर प्रश्न पूछकर निरुत्तर कर डालने की कला उन्हे अच्छी तरह सध गई थी। इसके सिवा परिस्थिति भी उनके बहुत अनुकूल थी। मुख्यतया समाज, हिंसाप्रधान यज्ञयागों की प्रचण्ड माथापच्ची, उसके लिए होनेवाले आर्थिक भार और दूसरे छोटे-बड़े श्रौत-स्मार्त कर्मों की खटखट से ऊब गया था।

विशेषकर निरीश्वर मीमांसा सम्प्रदाय से उत्पन्न होनेवाले स्वैराचार तथा सामाजिक दुराचार से समाज में असन्तोष की ज्वाला भड़क उठी थी। इसका लाभ आप ही आप बुद्धदेव को मिला। समाज में एक रीति से नवीन विचारों को प्रगतिशीलता प्राप्त हुई यह अच्छा हुआ, परन्तु आगे चल कर इन विचारों में से जो शाखाएँ निकलीं और मनमानी कल्पनाओं की फसल फैली,- और उससे जो दुष्परिणाम होनेवाला था, वह तत्कालीन विद्वानों के ध्यान में नहीं आया, अथवा आया भी, तो समाज उस समय ऐसी स्थिति में नहीं था कि उसका कुछ निराकरण हो सके। प्रारम्भ में तो बुद्ध भगवान् का किया हुआ मार्गदर्शन प्राय सभी को अच्छा प्रतीत हुआ, क्योंकि उन्होंने बहुत-सी प्राचीन बातों को मान्य ही किया था। पुनर्जन्म, कर्मफलविपाक, पापपुण्य की कल्पना मन्त्र-तन्त्र पर विश्वास, जाति की उच्च नीचता वर्णसंकर का विरोध इत्यादि बातों पर तो उन्होंने जोर दिया ही, इसके अतिरिक्त उन्होंने सदाचार, परोपकार, उच्च नीतिपूर्ण वर्तन, गरीबों की रक्षा, सामाजिक कल्याण और शान्ति पर भी बहुत जोर दिया। इसके, तथा अपने निजी व्यक्तित्व के कारण उन्होंने लोगों के अन्त करण में अपने लिए एक अत्यादर का स्थान बना लिया। कर्मकाण्ड के विरोध के सिवा उनके सिद्धान्तों में लोगों को कुछ अधिक विरोध प्रतीत नहीं हुआ, और कर्मकाण्ड का विरोध तो ब्रह्मज्ञान की दृष्टि से पहले से था ही। साथ ही उन्होंने ब्रह्मचर्य, तप, सन्यास आदि को महत्त्व देकर स्पष्टता से बताया कि सन्यास के बिना ज्ञान एव अर्हत् पद की प्राप्ति नहीं हो सकती। इससे सब लोगों को यह प्रतीत हुआ कि वे धर्मोद्धार के लिए ही उत्पन्न हुए हैं।

बौद्ध धर्म की तेजी से वृद्धि होने का मुख्य कारण बुद्ध भगवान की **दैवी सम्पत्ति** पर निष्ठा थी। इसलिए जहाँ जहाँ बौद्ध धर्म का प्रसार हुआ वहाँ वहाँ नीतिमत्ता को प्रोत्साहन मिला। आपसी सद्व्यवहार और उत्साह बढ़ा, लड़ाई-झगड़े, मारपीट, चोरी, लूट, कम हो गए। व्यापार में वृद्धि हुई और एक रीति से शान्ति का राज्य शुरू हुआ। इस तरह प्रान्त के प्रान्त बौद्ध धर्मी बन गये। साथ ही दूसरे धर्मवालों से अत्यन्त स्नेह से, अहिंसा

सिद्धान्तानुसार व्यवहार के कारण हिन्दुस्तान में सनातनी राज्य और बौद्ध राज्य पड़ोस में बड़ी सद्भावना से वर्तने लगे। बौद्ध सम्प्रदाय की ओर से स्थान-स्थान पर अपने धर्म के संघ स्थापित होने लगे जिससे उनके धर्मप्रसार में बहुत सहायता मिली। चैत्यमन्दिर और विहारों में भिक्षु–भिक्षुणियों के रहने की व्यवस्था एवं सार्वत्रिक शिक्षा की सुविधा की गई, इससे ज्ञानप्रसार में भी पर्याप्त सहायता मिली। साथ ही बौद्ध धर्मी राजाओं ने अपने राज्य बड़ी न्यायनिष्ठा और प्रजाहितदक्षता से चलाये, जिससे उनके प्रति जनता में आदरभाव की वृद्धि हुई। सम्राट् अशोक का राज्य (ई० पू० २७३ से २३२ तक) इतिहास में प्रथितयश हो गया। देश में छोटी-बड़ी सड़कें बनवाना, सड़कों के अगल बगल पेड़ लगवाना, कुएँ खुदवाना, धर्मशाला बनवाना, मुख्य मुख्य स्थानों पर मनुष्यों तथा पशुओं के लिए चिकित्सालय स्थापित करना, शिक्षा की व्यवस्था, न्यायालय, कला–कौशल के व्यवसायों को प्रोत्साहन, सब सम्प्रदाय के लोगों को मतस्वातन्त्र्य का प्रदान इत्यादि की प्रथा २००० वर्ष पहले इस राजा के द्वारा चलाई जाने की बात पढ़कर आश्चर्य होता है। आज उसके शिलालेख उसके उच्च विचारों की साक्षी दे रहे हैं। उसने यज्ञ–याग में होनेवाली हिंसा बन्द कर दी, स्वयं शिकार करना भी छोड़ दिया, विभिन्न स्थानों में और देशान्तर में भी धर्मोपदेशकों को भिजवा दिया।

इन सब बातों से बुद्ध धर्म का प्रसार चारों ओर बड़ी तेजी से हुआ। और न्यायनिष्ठ नीतिमत्ता के कारण हिन्दुस्तान में बौद्धों के राज्य छः-सात सौ वर्ष तक टिके रहे और उनके सिद्धान्तों का प्रभाव सनातन हिन्दूधर्म पर और विशेषतः दार्शनिक विचारों पर तो अत्यधिक मात्रा में हो गया।

शासकों का धर्म बहुप्रिय और अनुकरणीय हो जाता है, इस न्याय से उस समय के विद्वान् भी यह प्रतिपादन करने के फेर में पड़ गये कि सनातन आर्यधर्म तथा बौद्ध धर्म में ऐक्य है, दोनों धर्मों के दार्शनिक सिद्धान्तों में कोई भेद नहीं है। जगत् के मूल में मानव मन के क्षणिक विज्ञान के सिवा

और कुछ नहीं है, अर्थात् जगत् क्षणिक है और "मनोमात्रमिदं सर्वम्" यही सिद्धान्त हृदयग्राही हो सकता है। इससे 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस तत्त्व को तिलांजलि मिल कर 'सर्वं क्षणिकं क्षणिकं सर्वं दुःखं दुःखम्, सर्वं शून्यं शून्यम्" यह तत्त्व प्रधान हो बैठा। व्यावहारिक सघर्ष में बहुत बार ऐसा मालूम पड़ता है कि संसार दुःखमय है, पर यह सिद्धान्त नहीं हो सकता। 'अज्ञस्य दुःखौघमयं ज्ञस्यानन्दमयं जगत्' यह हमारी औपनिषद् दृष्टि है। संसार में दुःख है, पर दुःख अन्तःकरण का धर्म है, वह संसार का विशेषण नहीं हो सकता। सुखदुःख जागतिक कार्यकारण सम्बन्ध, अपनी सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थिति, कर्मफलविपाक तथा अपनी बुद्धि की शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक अवस्था इन सब पर अवलम्बित होते हैं और अधिकतर हम स्वयं उनके लिए उत्तरदायी होते हैं। अतः संसार को दोष देना सम्यग्दृष्टि से उचित नहीं है।

(१४) 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का विपरीत अर्थ

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' यह मूल उपदेश छान्दोग्योपनिषद् (३.१४) में है और उसका अर्थ 'इस विशाल विश्व की उत्पत्ति ब्रह्म से हुई है, उसकी स्थिति भी उसके प्रभाव पर ही अवलम्बित है, और ब्रह्म ही संहारकर्ता है, अतएव अत्यन्त प्रसन्न चित्त से ब्रह्म की उपासना करनी चाहिए' यह स्पष्ट है। परन्तु इसके विरुद्ध बुद्ध धर्म के प्रसार के परिणामस्वरूप ऐसी विचित्र धारणा बुद्धि पर छा गई कि यह जो विश्व बाहर दिखलाई पड़ रहा है, नहीं है, बाहर एक भी पदार्थ नहीं है और जो कुछ भासित हो रहा है, वह छायामात्र है और वह भी हमारे दिमाग की कल्पना ही है, एवं वह क्षणिक है, अतः जगत् भी क्षणिक ही है। दुःख का अनुभव सदा होता है, अतएव 'सर्वं दुःखम्' सब दुःख ही दुःख है। हमारा वेदान्त संसार को यद्यपि अपरमार्थ, अनात्म ठहराता है, तथापि उसे व्यावहारिक सत्य, कार्यक्षम मानता है, केवल आभास, छाया या तुच्छ अर्थात् अभावरूप, खपुष्प, शून्य नहीं समझता, अपितु बाहर पदार्थों का अस्तित्व मानता है। देखिए 'ब्रह्मसूत्र'. (२।२।२८)

'नाभाव उपलब्धे" इस पर श्रीमदाचार्य का भाष्य। परन्तु अनेक अर्वाचीन अद्वैतवेदान्तग्रन्थों में समार तुच्छ अर्थात् शून्य है, ऐसी अर्थहीन बौद्ध कल्पनाएँ मान्य की हुई दिखलाई पड़ती हैं।

(१५) वेद असत्य, शास्त्र असत्य, गुरु असत्य इत्यादि

वेदों के विषय म महात्मा बुद्ध की धारणा कुछ अनिश्चित रूप सी थी। अपने काश्यप सुत्त मे उन्होने उपहासगर्भ प्रश्न किया है कि मन्त्रद्रष्टा ऋषियों को कहाँ ब्रह्मज्ञान था? ब्राह्मणों के सब शास्त्र अज्ञान तथा भ्रान्ति मूलक हैं, उनके अध्ययन से सिवाय अधोगति के कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता, इत्यादि प्रकार उनका नित्यप्रति उपदेश हुआ करता था। एतदर्थ उनकी युक्ति भी बड़ी पैनी थी। वे कहते थे कि यदि ब्राह्मणों की यह भावना है कि इनके सब शास्त्र स्वानुभव की भित्ति पर अधिष्ठित हैं तो फिर निश्चित ही वह अप्रमाण हैं। क्या कि अनुभव शब्द का अर्थ ही 'ज्ञानेंद्रियों और पदार्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाला ज्ञान' है, और वह तो निश्चित ही वासनाओ से कलुषित होकर उत्पन्न होता है। मन और बुद्धि वासनाओं के मैके के स्थान हैं, और इनकी क्षणभगुरता में भी कोई विवाद नहीं है, अर्थात् यह सब ज्ञान मिथ्या है, अविश्वसनीय है।

आश्चर्य की बात है कि इसी मतिगति का अवलम्ब हमारी वेदान्त पुस्तकों में भी किया गया है, उनमें भी लिखा हुआ रहता है कि वेद मिथ्या हैं, शास्त्र मिथ्या हैं, और गुरु भी मिथ्या है, इत्यादि। परतु इस कथन का यथार्थ आशय क्या है यह स्पष्टता स नहीं बताया जाता है! लौकिक भाषा म **मिथ्या** शब्द का अर्थ सरासर झूठ, असत्य, भ्रम है, और यद्यपि वेदान्त परिभाषा से उसका अर्थ सदसद्विलक्षण विनाशी पर व्यावहारिक सत्य इस प्रकार है, तथापि दुर्भाग्य से लौकिक अर्थ ही वेदान्त साहित्य में बरबस धँस गया है और सच्चे अर्थ को उसने मानो धत्ता ही बता दिया है! इस सम्बन्ध में अधिक विवेचन प्रकरण (४०) तथा (४१) में कर दिया गया है जिसे पाठक देख सकते हैं।

(१६) मोक्ष का एकमेव साधन ध्यानयोग

शास्त्रग्रन्थ यदि अप्रमाण हैं तो ब्रह्मज्ञान और मोक्ष आदि के लिये साधन ही क्या है ? इस प्रश्न के अनुरोध में भगवान् बुद्ध का उत्तर यही रहा कि आप अपने मनके भीतर जो क्षणिक विज्ञानों की अविरत धारा चल रही है उसे बन्द कर लें तो स्वय ही निर्णय हो जाएगा, जो कुछ व्यवधान है वह मन बुद्धि के सङ्कल्प विकल्पों का ही है। ब्रह्म के विषय में भगवान् बुद्ध की कोई निश्चित अभिमति नहीं बनी थी। इस कारण उनको साधनाओं का प्रणयन करना और उन पर जोर देना ही आवश्यक हुआ। श्रौत स्मार्त सभी कर्म उनकी दृष्टि से भ्रान्तिमूलक होने से उनका उपदेश नहीं किया जा सकता था। यज्ञयागादि तो घृणित ही ठहराए गये। ब्रह्मविद्या तो ब्राह्मणों की कोरी कल्पना मात्र ही मानी गई थी। ईश्वर की आराधना और पूजा पाठ कैसे उपदिष्ट हो सकते थे जब ईश्वर है ही नहीं ? अत महात्मा बुद्ध को चित्तशुद्धि और ध्यान प्रणाली की साधनाओं पर ही निर्भरता करनी पड़ी। उन्होंने स्वयं भी इसी मार्ग की अन्ततक उत्कट आराधना की, आज भी उनकी प्रतिमाएँ हमें जहाँ तहाँ बद्धपद्मासनस्थ बन्द नेत्र ध्यान मग्नस्वरूप ही दीख पड़ती हैं।

(१७) महात्मा बुद्ध और शून्यवाद

परब्रह्म और निर्वाण की खोजमें भगवान् बुद्ध ने जो ध्यान योग का उपदेश किया और विज्ञान धारा को निरुद्ध करने का आदेश दिया उसका परिणाम कुछ विचित्र सा ही हो गया। यों देखा जाय तो मन की विज्ञान धारा का नितान्त निरुद्ध होना ही असम्भव है ! 'प्रति क्षण परिणामिनो हि भावा ऋते चितिशक्तेः' ऐसा सांख्य और योग शास्त्रों का सिद्धान्त है। निद्रा में भी अविद्या वृत्ति का स्वीकार किया गया है, चित्तवृत्ति शून्य नहीं होती। निर्विकल्प या असम्प्रज्ञात समाधि में भी चित्त की 'प्रशान्तवाहिता वृत्ति' का स्वीकार है, एवं तथ्यदृष्टि से नितान्त वृत्तिशून्यता होना ही असम्भव है (देखिये मधुसूदन सरस्वतीजी की गीता अ० ६ श्लोक १५ की व्याख्या)

ज्ञातव्य यह है कि 'ज्ञान' एक परमात्मा की अमूल्य देन है जो सदा ही वस्तुतंत्र और निर्वृत्तिक है। अपिच 'ज्ञान' वृत्तिद्वारा ही हमको उपलब्ध होता है और वृत्तिद्वारा ही दूसरों को दिया जाता है, पर एक दूसरे से नितान्त भिन्न है, एक साध्य है और दूसरा साधन है, एक गन्तव्य स्थान है और दूसरा वहाँ पर पहुँचने का मार्ग है, या वाहन है, दोनों में अविनाभावसंबंध होते हुए भी वे भिन्न हैं। इस विषय पर यथेष्ट विवेचन आगे प्रकरण (३७) 'आत्मदर्शन' अन्तिम विभाग में किया गया है। वेदान्तदृष्टिसे ब्रह्मज्ञान तो निर्वृत्तिक है ही, प्रत्युत जिस अध्यात्मविद्या की वृत्तियों द्वारा यह प्राप्त होता है वह वृत्तियाँ भी निर्वृत्तिक और निर्विकल्प मानी गयी हैं। गीता अ० ६ श्लोक २९ की व्याख्या के आरम्भ में ही श्री मधुसूदन लिखते हैं, 'तत्त्वमसीति वेदान्तवाक्य जन्य निर्विकल्प साक्षात्कार रूपा **वृत्ति** ब्रह्मविद्याभिधाना जायते'। मर्म की बात है कि जो वृत्तियां या कल्पनाएँ ज्ञानाग्निदग्ध हो गई, वह नहीं के समान हैं। निर्विकल्पता और निर्वृत्तिकता यह स्थूल मोटी बुद्धि से ठहराने की बातें नहीं हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से जो भर्जित बीज हो गई वह निर्विकल्प और निर्वृत्तिक ही हैं।

महातपा शाक्यमुनि के अनुयायीगण ने इन सूक्ष्म लक्षणों का कोई योग्य विचार नहीं किया और **वृत्ति निरोध** का मन्तव्य वृत्ति शून्यता एवं चित्त की पाषाण रूपता ही स्वीकार कर ली। विज्ञान धारा स्थगित होने के पश्चात् जब समझना ही शून्य हो जाता है, तब इस क्षण परिणाम शील बाह्य विराट् प्रपंच का अन्तस्तत्त्व जिसको ब्राह्मण गण परब्रह्म पुकारते आये हैं, शून्य के बिना और कुछ हो नहीं सकता इसी निश्चय पर यह लोग स्थिर हो गये। इस विश्व में परिणाम ही परिणाम दिखाई देता है, पर जिसका परिणाम हो रहा है ऐसी एक भी भीतर वाली वस्तु प्रतीत नहीं होती, यही बौद्ध सम्प्रदाय का **शून्यवाद** या **नैरात्म्यवाद** है। पण्डितगण के इस रहस्यमुग्ध विचार चक्र में पड़ने का परिणाम यह हुआ कि इस प्रवाह प्रणाली के अनुसार बुद्ध सम्प्रदाय के परवर्त्ती काल में इसी विषय पर शतशः पाण्डित्य पूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन हो

गया जिसमें 'नैरात्म्यवाद' का रंगीन प्रतिपादन किया गया है। यह वाद दार्शनिक जगत् को एक अपूर्व बहुमूल्य देन है, ऐसा जिधर जिधर इसका प्रचार हुआ माना गया फलत ग्रीस के ख्यातनाम विद्वान् हिरेक्लिटस ने इस की बड़ी मान्यता की और फ्रेंच दार्शनिक 'बर्गसाँ' ने भी इसी की मनोरम व्याख्या कर विपुल कीर्ति सम्पादन की है। इस सम्बन्ध में बौद्धों की परिभाषा इस प्रकार है:—

। निःस्वभावं निरालम्बं सर्वशून्यं निरालयम्
प्रपंचसमतिक्रान्तं बोधिचित्तस्य लक्षणम्।

(नैरात्म्य परिपृच्छा सूत्र श्लो० १२)

। न सन् नासन् न सदसन् न चाप्यनुभवात्मकम्
चतुष्कोटि-विनिर्मुक्तम् तत्त्वं माध्यमिका विदुः।

(माध्यमिक कारिका २-७)

यहाँ पर बता देना आवश्यक है कि भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्यों को पहले से ही चेतावनी दी थी कि तत्त्वों का ऊहापोह बड़ा गहन एवम् अनिर्वचनीय है; इनके व्यर्थ बकवादों में किसी को नहीं जाना चाहिए। पर हुआ वही जिसके विरुद्ध उनका उपदेश रहा। काल पाकर उनके अनुयायी गण में अनेक मेधावी प्रकाण्ड पण्डित उत्पन्न हुए, जिन्होंने अपनी अपनी बुद्धि के अन्तस्तल में पहुँचकर विद्वत्ता पूर्ण सिद्धान्तों की खोज निकाला और ऊपर कथित प्रकार भूरिशः ग्रन्थ निर्माण किये। एवं तिरस्कृत तत्त्वज्ञान ने अपना बदला खूब चुकाया, बौद्ध तत्त्वविज्ञान की तूती बोलने लगी, और अनेक शताब्दियों तक बोलती ही रही।

शाक्य मुनि गौतम बुद्ध के सदुद्देश्य में कोई आशंका नहीं की जा सकती, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उनकी शिष्य परंपरा ने, सरासर शून्यवाद का ही आविष्कार और परिपोष किया है और बड़े खेद एवं आश्चर्यकी बात है कि

हमारे अनेक सनातनी पण्डितों ने × प्रायः इसी मत को अपना लिया है। वे स्पष्टतया कहते हैं कि परब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप है नहीं, केवल अस्तिता मात्र है जिसमें दूसरा कुछ भी नहीं है। प्रवीण दृष्टि पाठक विचार कर सकते हैं कि जिस 'अस्तितामात्र' में कुछ भी स्वरूपभूत वैशिष्ट्य, याने सत्तास्फूर्तिप्रदत्व या प्रेरकत्व या नियंतृत्व अथवा ज्ञातृत्व भी नहीं है, वह तो केवल नहीं के समान है। किसी भी प्रभाविता का अभाव ही शून्यता है। और बड़े अचम्भे की बात है कि इस बौद्ध सम्प्रदाय के प्रभाव से हम अब तक मुक्त नहीं हो पाये हैं।

दी गयी हैं उनका मूल उपर्युक्त ग्रन्थों में उपलब्ध होगा। इन भूमिकाओं का उल्लेख वेदों में, ब्राह्मणों में, अथवा दश उपनिषदों में, नहीं है, अर्थात् यह बौद्ध विज्ञान की ही अनुकृति मालूम होती है। भेद इतना है कि बौद्धों की दश भूमिकाएँ हैं, परन्तु अन्त्य तीन, भगवान् बुद्ध के निकाय से सम्पृक्त रहने से, हमारे पण्डितों ने उनको छोड़ दिया है।

अग्रेजी भाषामें प्रकाशित हो रही हैं जिन पर ग्राहक गण टूट पड़ते हैं। एक ओर इन पुस्तकों का बाह्यांग खासा चित्ताकर्षक बनाया जाता है, चिकना कागज, सुन्दर छपाई, सफाई, बढ़िया चित्ताकर्षक जिल्द, बीच बीच में प्रसंगानुसार कई नयनाभिराम चित्र आदि खूबियाँ सहसा ग्रन्थ को देखते और पन्ने उलटते पलटते ही चित्त को प्रसन्न कर देती हैं, और दूसरी ओर अन्दर, ध्यानयोग की साधनाओं के साथ फड़कती हुई भाषा में वर्णन और क्रमश: प्राप्त होने वाली सिद्धियों का विवरण, किसे आकर्षक नहीं लगेगा? फलस्वरूप जिज्ञासु साधक क्रिया कलापों के पीछे पड़ते हैं पर लाभान्वित नहीं हो पाते। फिर आपत्ति आ पड़ती है कि शास्त्रको व्यर्थ कैसे कहा जाय? सम्भव है कि हममें ही कुछ ऐसा अभाव हो जिससे हम ठीक अनुभव न होता हो। ऐसे तप पूत महामना योगीन्द्र का ग्रन्थ, जिसमें अनेक बातों का विवरण किया गया है, उसको कैसे अयथार्थ समझा जाय? षट्चक्र चालन, अनहद ध्वनि, आँखो के अन्दर सफेद, नीला, पीला हरा, लाल, रगों का दर्शन, जो कि ब्रह्म साक्षात्कार के चिन्ह, बताये गये हैं वे असत्य कैसे माने जा सकते हैं? फिर यह भी रहस्य की बात बतायी जाती है कि *'जिसने पाया वह अन्तर्ध्यान हो गया वह फिर कहने को नहीं रहता!'* अर्थात् ज्ञान पर मुहर लगी है! प्रेमी पाठक गण विचार की बात है कि जब प्रमाण का ही पता न हो तो प्रमेय की सिद्धि क्यों कर हो सकती है? एव प्रश्न होता है कि ऊपर वाली रहस्य की बात बताने का अधिकार किसको है? अज्ञानी को तो हो नहीं सकता, और ज्ञानी तो कहने के लिये रहता ही नहीं! निष्कर्ष यही निकलता है कि इन बातों में सुनी सुनाई कल्पनाओ के सिवाय कण भर भी तथ्य नहीं है।

अब देखिये इस विषय के प्रति **शंकर** भगवान् का क्या रुख रहा है। बृहदारण्यक उपनिषद् के 'तस्मिन् शुक्लमुत नीलमाहु पिंगल हरित लोहितच' (बृ० ४-४-९) भाष्य में वे साफ बताते हैं कि 'सर्वथाऽपि तु प्रकृताद् ब्रह्मविद्यामार्गात् अन्य एते शुक्लादय यान् शुक्लादीन् योगिनो मोक्ष पथानाहु, । नते मोक्षमार्गा' यह एक ही वचन श्रीमदाचार्य की अलौकिक तेजस्विता और प्रज्ञाप्रकर्ष का पर्याप्त परिचायक है।

मंत्र-तंत्र टोना-टमानी ताबीज इत्यादि लोकभ्रमों के दुष्परिणाम हमको दीख पड़ते हैं, फिर भी हम सजग नहीं होते। ठीक यही बात ध्यानयोग के सम्बन्ध में होती आ रही है। बहुतों की यह भूल है कि यह मार्ग बड़ा सरल सुगम है और परब्रह्म का निश्चयात्मक साक्षात् करा देने वाला साधन है। इसके हेतु यह लोग अनेक तथा कथित् योगियों का और साधुओं का पीछा करते हैं पर फलत कुछ लाभ नहीं हो पाता।

पाश्चात्य विद्वानों ने मंत्र तंत्रादि लोक भ्रमों को बहुत काल पूर्व ही निकाल फेंक दिया है। कुण्डलिनी उत्थापनादि विचित्र धारणाओं के सम्बन्ध में जब यही लोग भौतिक शास्त्र की दृष्टि से निर्णय देंगे तभी कदाचित् हम इस जंजाल से बाहर निकल आएँगे, स्वयं हम निर्णय देंगे ऐसी आशा नहीं दिखाई देती।

(१९) समाधि साधन और श्री हँसराज स्वामी

इस विषय में इस देश के ख्यातनाम श्री हंसराज स्वामीजी ने अपने सुप्रसिद्ध 'आगमसार' नामक ग्रन्थ में जो मार्मिक कटाक्ष किया है वह नीचे दिया जाता है —

"बाह्ये जो मनासवें। तेणें चित्त निरोधावें। मज अमनस्का स्वभावें। समाधि ना उत्थान ॥९॥ श्रोता म्हणे मन विकारी। सुखदु:खें क्षीणचि करी। यासी निरोधितां अंतरीं। समाधान पावे ॥१०॥ जयासी मन आवरावें वाटे तेणें आसन बांधावें नेटें। मृगजळ बांधावें मोटें। आम्हां काज नाहीं ॥११॥ मनासवें शिणता। श्रमचि उरती तत्त्वता। नाना सायासें कष्टी होता। मन अनावर ॥१२॥ अनंत योग अभ्यासिले। सहस्रधा ध्यान केलें। तरी मनाचें हलकल्लोळ। नाहीं रोम ॥१३॥ (आगमसार ७ वी पत्रिका–वृत्ति वर्णन)

पिछले दो अनुच्छेदों में प्रचलित प्रतिपादन का यह अभिप्राय नहीं है कि ध्यान की कोई उपयोगिता ही नहीं है। मान्य है कि वह चित्त में स्थिरता और शान्ति बनाए रखने का एक उपाय है, पर वह हमारी साधनाओं का अन्तिम

उद्देश्य नहीं है। शान्ति के बनने पर महत्व का कार्य तो शेष ही रहता है जो निदिध्यासन है। यही श्रुतिवचनों के अभिप्रायों को मनोयोग के साथ हृदयगम कराता है। श्रीमद्भगवद्गीता, शुष्क ध्यान का पक्षपात नहीं रखती है। उसके अनुसार ध्यान का मन्तव्य घट घट में व्यापक भगवान् के दर्शन करने में है, और अन्त मे इसी की परिणति जीवन्मुक्ति में होती है।

इस विषय पर स्वामी मधुसूदन सरस्वती ने अपनी भगवद्गीता टीका में अ० ६ श्लोक २९ पर व्याख्या लिखते हुए सुन्दर प्रकाश डाला है। वे लिखते हैं कि ध्यान की प्रक्रिया से चित्त का नाश कराने की कल्पना हैरण्य गर्भी सम्प्रदाय की है। यह लोग द्वैतमार्गी हैं, चित्त को पारमार्थिक सत्य समझते हैं। अर्थात् बिना उसके नष्ट किये उनकी असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध नहीं होती। उनको यह भय लगा हुआ है कि इस साधना में, उनका चित्त सदा अड़गे ही लगाता रहेगा, अतः उसको नष्ट कर देना ही परमावश्यक है, यही उनका सिद्धान्त है।

औपनिषद् विज्ञान इसके सर्वथा विरुद्ध है। इसकी दृष्टि मे चित्त एक जड़ पदार्थ है जो पारमार्थिक सत्य नहीं है। वह ब्रह्मसत्ता अथवा उस सत्ता के ज्ञान में बाधा नहीं डाल सकता। क्योंकि ज्ञान दृष्टि से वह रहते हुए भी अकिंचित्कर है। और तथ्य दृष्टि से चित्त का स्वभाव यदि जाना जाए, तो फिर उसका कुछ भी वश नहीं चलता। उसके दुर्व्यवहार स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं, और जो शेष हलचल रहती है वह आध्यात्मिक शान्ति को दूषित नहीं कर सकती। श्री सरस्वतीजी स्पष्टतया लिखते हैं —'अत एव भगवत्पूज्यपादा क्वापि ब्रह्मविदा योगापेक्षा न व्युत्पादया बभूवुः। अत एव च औपनिषदा परमहंसा श्रौत वेदान्तवाक्यविचारे एव गुरुमुपसृत्य प्रवर्तन्ते ब्रह्मसाक्षात्काराय न तु योगे

बौद्ध सम्प्रदायके प्रभाव से **समाधि** शब्द के अर्थ में भी बहुत विपर्यय हो गया है। इस शब्द का प्राचीन अर्थ 'आत्मज्ञानजनित अत

करण की समाधान ग्रन्त' ही है। धा भ गी मे (--५४ से ७२ तक) स्थितप्रज्ञके लक्षणों मे यही अर्थ है। "तत्त्वावबोध एवासौ वासना तृण पावक । प्रोक्त समाधि शब्देन न तु तूष्णीमवस्थिति' (महोपनिषद् अ ४ श्लोक १२) परन्तु 'लय विक्षेप, कषाय, रसास्वाद, विहीन बुद्धि की जागृत रहते हुए भी एक निर्द्वन्द्व अवस्था' ऐसा निर्विकल्प समाधि का कुछ विचित्र अर्थ किया गया है। यह अर्थ हमारी बुद्धि पर इतना छा गया है कि 'समाधि' शब्द के उच्चारण मात्र से हमको 'एक मुग्ध, बुध, विहीन अवस्था' का ही विचार तुरन्त आ जाता है, जो बौद्ध तथा पातञ्जल योग मार्ग के प्रभाव का परिणाम है। बौद्ध सम्प्रदाय के सर्वोच्च सिद्धान्त में यह धारणा है, कि जगत् नामक पदार्थ बाहर कोई है नहीं, जो कुछ है मन के अन्दर ही है। अर्थात् मन की क्षणिक विज्ञान धारा बंद की जाए तो जगत् स्वयं ही नष्ट होता है। इसके उपरान्त निर्वाण स्वयं सिद्ध है। ऐसी कुछ विचित्र भोलेपन की कल्पनाओं पर निर्विकल्प समाधि का आडम्बर उत्पन्न हुआ है। सविकल्प समाधि और निर्विकल्प समाधि हमारे प्राचीन औपनिषद् विज्ञान के शब्द नहीं हैं परन्तु परवर्ती काल में हमारे ग्रन्थो में भाँति भाँति की विचित्र बातें प्रश्रय पा गयी हैं जिसमे 'लय चिन्तन' की क्रिया भी आती है। आत्मन आकाश सम्भूत आकाशाद्वायु' इत्यादि उत्पत्तिक्रमके विरुद्ध लय की भावना सतत करते रहने से नाम् के लय का साक्षात् हो सकता है' ऐसा उपदेश किया जाता है। यह तो एक अन्य भ्रांति का उदाहरण है।

(२०) *थियॉसफी* गूढ़ विद्या, अन्तर्ज्ञान, अलौकिक आदेश बुद्धि निर्देश होने के पश्चात् होनेवाला ज्ञान, Mysticism Supramental light Astral plane, के व्यवहार, मन्त्र-तन्त्र सामर्थ्य, इत्यादि अजस्र कल्पनाओं का राज्य, प्राय सभी पौर्वात्य देशों में प्राचीन काल से प्रभाव बनाये हुए है। इस लक्ष्य कर योरप और अमेरिका के गण्यमान्य विद्वानों को बड़ी जिज्ञासा और आतुरता रही कि इन बातों की सुयोग्य गवेषणा हो। इसी उदात्त हेतुसे अमेरिका

मे थियॉसॉफिकल सोसाइटी की संस्थापना हो गयी। रशिया के एक सपत्ति वान्कुल में मैडम, एच पी ब्लैव्हट्स्की नामक एक विदुषी उत्पन्न हो गयी जिसने इस सम्बध में बहुत आन्दोलन किया। वैसे ही उधर अमेरिका मे कर्नेल हेन्रि सील ऑल्काट नामी अग्रगण्य अडव्होकेट हो गये। इन दोनो न अमेरिका के विख्यात न्यूयार्क नगर में ई स १८७५ के नव्हेंबर के मास मे इस थियॉसॉफिकल सोसाइटी का उद्घाटन किया। इस परिषद् का प्रधान उद्देश्य, पौर्वात्य योग विज्ञान तथा अध्या म विज्ञान का गम्भीरता और बुद्धि शीलता के साथ अध्ययन करना रहा है। उद्देश्य की वाञ्छनीयता और महत्ता में तो कोई सन्देह नहीं है। एसे परिश्रम हार्दिक धन्यवाद के नितान्त भाजन हैं। सस्था को स्थापित होकर कोई (७६) छिहत्तर वर्ष बीत गये परन्तु सफलता जैसी होनी चाहिए वैसी नहीं हुई है। इसमे भी कोई आश्चर्य या दोष की बात नहीं है। ब्रह्मविद्या के सम्बंध में अभी इन विद्वानों की प्रगति द्वैत सम्प्रदाय से आगे नहीं हो पायी है। योग क विषय म भी कोई उल्लेख नीय आविष्कार नहीं हो पाया है। पर एक विषय मे इन्होंने एक भारी काल्पनिक प्रपंच खड़ा किया है। कई वर्ष तक इन का विचित्र विश्वास था कि मैत्रेय नामक एक लोकोत्तर महात्मा इस वसुन्धरा पर अवतीर्ण होनेवाले हैं। क्यों कि भगवान् बुद्ध ने निर्वाण के समय अपने प्रिय शिष्य आनंद को कहा था कि 'जगदुद्धार के लिए मैं ही केवल पहला बुद्ध अवतरित हुआ हूँ सो बात नहीं, कुछ समय बीतने पर मुझसे भी अधिक ज्ञान सम्पन्न क न्तदर्शी पुरुष इस धराधाम पर अवतीर्ण होंगे, और मैंने जिस मार्ग का प्रणयन किया, उसी की वह पुष्टि करगे, इसके अतिरिक्त वह एक कल्याणकारी सोज्वल धर्म की भी शिक्षा देंगे। उनके सहस्रों अनुगामी होंगे और उनका शुभ नाम 'महात्मा मैत्रेय' रहेगा।

महात्मा बुद्ध का निर्वाण हुए आज कोई ढाई हजार वर्ष हो गये हैं परन्तु यह भविष्यवाणी अभी सत्यता मे नहीं परिणत हुई है। पण्डिता मिसेस एनीबिसेंट का भी विश्वास रहा कि उनके शिष्य ख्यात नाम 'जे कृष्णमूर्ति के शरीर में ही महापुरुष मैत्रेय आविर्भूत होंगे। परन्तु इस अनुरोध मे

महानुभाव अस्वीकार हो गये हैं ! 'मम माया दुरत्यया', यही मम की बात जान पड़ती है। इन विचित्र जवालों से हमको छुड़ाने वाला साधन एक ही 'सम्यग्ज्ञान' अर्थात् **आत्मविज्ञान** है दूसरे किसी में यह सामर्थ्य नहीं है।

(२१) साधन चतुष्टय के विषय में विचित्र कल्पनाएँ

वेदान्तशास्त्र में 'साधन चतुष्टय' यानें नित्यानित्यवस्तुविवेक शमदमादि साधन, विषयभोगविराग, और मुमुक्षुता, इन चारों की बड़ी महत्ता मानी गयी हैं। इनसे ध्यान मार्ग का अशेष उपकार होता है इस कारण बुद्ध सम्प्रदाय न इनकी सिद्धि को नितान्त उपादेय ठहरा कर इनकी आवश्यकता पर भरसक जोर दिया है। वेदान्त शास्त्र नित्य तथा अनित्य को सूक्ष्मता से जान लेने का उपदेश देता है तो यह सम्प्रदाय जगत् को ही शून्य तथा तुच्छ घोषित कर देता है। वेदान्तशास्त्र मे जो वैराग्य बताया गया है उसका अभिप्राय वि—रागता अर्थात् अलोलुपता, तृष्णासगराहित्य है परन्तु इस सम्प्रदाय ने मानों ससार के द्वेप का ही प्रतिपादन कर दिया है !

(२२) स्त्रियों के प्रति निरादर और अवमान

स्त्रियों की अकारण और अवास्तव गर्हा की प्रथा ससार के प्राय सभी देशों म अनादिकाल से चली आयी है, परन्तु आर्यावर्त में प्राचीन काल में यह बात नहीं थी। विचारदृष्टि से देखा जाए तो स्त्री और पुरुष इन दोनों का दर्जा इस ससार में समानता का ही है। गुण और अवगुण का ठेका किसी एक जाति का नहीं माना जा सकता। प्रत्युत परमात्मा ने सृष्टि के विधि विधान ही एसे बनाये हैं जिनसे स्त्रियों को अवगुणों से परिरक्षित रखने की जिम्मेवारी पुरुष जाति पर ही आती है। प्राचीन काल के वैदिक वाङ्मय और आचार विचारों की आलोचना से यही ज्ञात होता है कि आर्य जाति में स्त्रियों के सम्बन्ध में समादर और परिरक्षण के ही मधुर भाव रहे हैं। उनको वेदाध्ययन के अधिकार होते थे। उनके उपनयनादि सस्कार होते थे। उनकी शिक्षा दीक्षा की सुव्यवस्था थी। हमारे

आध्यात्मिक और धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार स्त्री अथवा पुरुष के प्रति किसी प्रकार का पक्षपात नहीं प्रदर्शित किया जासकता, दोनों एक दूसरे के समान होने से धार्मिक और लौकिक कर्मों में दोनों को सम्मिलित होकर कार्य करना आवश्यक है। ब्रह्मविद्या के सम्बन्ध में भी दोनों का समान अधिकार मान्य किया गया है। यही कारण है कि गार्गी, मैत्रेयी, लोपामुद्रा, अदिति, आत्रेयी इत्यादि परमसत्य की सशोधिका स्त्रियाँ वैदिक काल के इतिहास को अपने आदरणीय नामों से उज्ज्वल करती हैं। इस सुन्दर सामाजिक जीवन का चित्र प्राचीन इतिहासों से भी उपलब्ध होता है। भगवान मनु तो स्पष्ट लिखते हैं—जहा स्त्रियों की पूजा होती है वहाँ देवता निवास करते हैं, और जहां इनका निरादर होता है वहां विपत्तिया विकट रूप धारण कर लेती हैं। दुर्भाग्य से हमारे ग्रन्थों में कुछ विपरीत वचन भी प्रक्षिप्त हो गये हैं जो निस्सन्देह हमारी अवनति और अज्ञानकाल के ही द्योतक हैं। हमारी प्राचीन स्वाधीनता का इतिहास स्त्रियों के बड़े बड़े नार नामों से ही भरा पड़ा है। सक्षेपत सनातन धर्म की मूल पुस्तकों में स्त्रियों को ऊँचा स्थान दिया गया है। परन्तु काल के दुर्विलास से भारतीय युद्ध के पश्चात, जब उपनिषत्तत्त्वविज्ञान का लोप हो गया, और धर्म का भी नाश हो गया, तब देश अनाचारों और दुराचारों के गर्त मे गिर गया, परकीयों के आक्रमण और उत्पीडन प्रारम्भ हुए, और साथ ही बाहर के देशों की कुरीतियाँ और कुप्रथाएँ यहा भी प्रश्रय पा गयीं।

यह एक प्रगट बात है कि ससार का शासन प्राय पशुबल से ही होता आ रहा है, सबल सदा निर्बल को दबा कर राज्य करना चाहते हैं। न्याय और धर्म को कौन देखता है? बड़े बड़े पुरुष इनकी आड में स्वार्थ सिद्धि को ही प्रधानता देते हैं। इस प्रकार साधारणत सब ससार में पुरुष जाति का स्वार्थी प्रयत्न सदा से रहा है कि स्त्री जाति पर अपना अधिकार बनाये रक्खें। ठीक यही प्रकार इस देशकी दुर्दशाग्रस्त अवस्था मे भी हो गया और सहस्रों वर्ष की पराधीनता के कारण हमारी प्राचीन उज्ज्वल परम्परा नष्ट हो गई। विशेषत मुसल्मानों के आक्रमणों से और अधिकार

से तो स्त्रियोंकी अत्यधिक दुर्दशा हो गई। उनको क्रीत दासियाँ समझना और उनको अज्ञानान्धकार में और चहार दीवारी व पर्दों के अन्दर बन्द रखना कितना अन्याय है-यह बात भी हम शताब्दियों की रूढ़ि से भूल गये हैं। इन कारणों से हमारे अर्वाचीन साहित्य का कुछ विभाग स्त्रियों की निन्दा से भरा पड़ा है। समग्र स्त्री जाति याने आधे मानव समाज पर जन्मजात पापिता का कलंक मढ़ देना और उनमें सदा के लिए एक आत्म हीनता का भाव बनाये रखना, कितनी अबुद्धिमानी की बात है? इस घोर अन्याय के कारण हमारी और हमारे देश की असीम हानि हो गई है, स्त्रियाँ माता हैं, देवता हैं, सबका यथोचित आदर करना हमारा कर्तव्य है। ग्रन्थ लिखनेवालों का उद्देश्य अच्छा हो, तो भी उनकी ओर से शब्द-योजना भी यथार्थ ही होनी चाहिए, भ्रामक शब्दों का उपयोग करना पातक है।

(२३) अभ्युदय की निन्दा

इसी तरह जागतिक अभ्युदय को निन्द्य समझना भी भ्रान्ति है। अभ्युदय की प्राप्ति पुण्य से होती है, फिर यह निन्द्य कैसे हो सकता है? वैसा होता, तो शास्त्रों ने ही बतला दिया होता कि अभ्युदय पाप से होता है। अभ्युदय के बाद मनुष्य को गर्व हो सकता है और इससे वह बुरे काम करता है इस कारण अभ्युदय ही तिरस्करणीय नहीं हो सकता, अभ्युदय में हम ही यदि अपने आप पर, अपनी सम्पत्ति पर या भृत्यों पर सुयोग्य अधिकार न रख सकें तो यह अभ्युदय का दोष नहीं है। नाक पर बार बार मक्खी बैठती है यह देख कर नाक काट डालना जितना उचित है, उतना ही अभ्युदय के बाद मन बिगड़ जाएगा यह समझ कर अभ्युदय से द्वेष करना उचित होगा।

आर्य संस्कृति में धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष, चार पुरुषार्थ बतलाये गये हैं। उनमें से अर्थ और काम इन दोनों से द्वेष क्यों किया जाय? धर्मसम्बन्धी नियमों का पालन करना जैसा हमारा कर्त्तव्य है, वैसा ही अर्थ

काम सम्बन्धी शास्त्रोक्त नियमों का पालना भी कर्तव्य है। इनका उपयोग हमें सदाचारवृद्धि और परोपकार की ओर ही करना चाहिए, ऐसा न करते हुए यदि हम उन का दुरुपयोग करने लगें, तो दोष हमारा है, काम और अर्थ का नहीं। अपनी निर्बलता और दोष छिपा कर समाज का उत्कर्ष करनेवाली दैवी सम्पत्ति से प्राप्त हुए पुरुषार्थों की निन्दा करते रहना, अपने को और दूसरों को दिग्भ्रान्त करा देना है। अधर्ममूलक और अन्यायार्जित सम्पत्ति गर्ह्य है, पर न्यायमूलक अभ्युदय निन्द्य किसलिए? किसी भी स्थिति में मनुष्य का मोह में पड़कर कर्तव्यपराङ्मुख होना ही वास्तव में निन्दनीय है, बाहरी एक भी वस्तु पापी या निन्द्य नहीं है। वेदान्तदृष्टि सुवर्णमध्य का अवलम्बन करने का उपदेश देती है। विषय लोलुपता भी नहीं रखनी और द्वेष भी नहीं करना चाहिए, यथायोग्य आचरण रखना चाहिए। लोलुपता रखना जैसे बन्ध है, वैसे ही या उससे भी अधिक अकारण किसी से द्वेष या निन्दा करना बन्ध और भ्रान्ति है। इसीलिए श्री भगवान् ने कहा है—"रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्। आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥" (गीता० २।६४), "यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति। शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् य स मे प्रिय" (१२।१७)। भगवान् श्रीकृष्ण सबसे सम थे, पर अर्जुन से प्रेम करते थे और दुःशासन, दुर्योधनादि को दण्ड्य ही समझते थे। इसलिए समत्व का अर्थ न्यायनिष्ठ व्यवहार है और यही वेदान्त का ध्येय होने से साधक को इस दृष्टि का परित्याग कभी भी न करना चाहिए।

(२४) शम-दमादि के विषय में विपरीत धारणाएँ

शम-दमादि छ साधनों के सम्बन्ध में भी यही स्थिति रही है, शान्ति का आशय जड़ पाषाण की शान्ति और पाषाण बन कर पड़े रहना ही मोक्ष है, इस प्रकार की भावना तो पराकाष्ठा का अज्ञान है। दुष्ट दुराचारियों के साथ सदा उपकार ही करते रहने के भ्रामक उपदेश से राजनैतिक क्षेत्र में इस देश की घोर हानि हो गई है। इस प्रकार के वर्तन से दुराचारियों को

प्रोत्साहन मिल कर दुर्बल गरीब लोग दुष्टों के अत्याचार के बलि होते हैं, इसका पाप किस के सिर पर पड़ता है ? वस्तुत दुष्टों का अत्याचार रुके ऐसा उनके साथ बर्ताव करना ही उचित है, और यही अपकार करनेवाले का सच्चा उपकार है। पर इतना गम्भीर विचार न करके दुष्टों की सहायता करते जाना ऐसा उल्टा अर्थ समझ लिया गया है। ऐसा क्यों ? तो उत्तर मिलता है—'ईश्वर उनसे समझ लेंगे।' ठीक ही तो है ! ईश्वर ने हमें बुद्धि दी है, फिर भी हम उसका उपयोग नहीं करते। इस कृतघ्नता का भयानक दण्ड उसने हमें दे ही दिया है। हमारी बुद्धिहीन पूजा अर्चा की ओर वह देखता तक नहीं। इससे यही सिद्ध होता है कि हमें दी गई बुद्धि का कृतज्ञता पूर्वक सदुपयोग करते रहना हमारा कर्तव्य है तभी हमें उचित मार्ग सूझ पड़ेगा।

(२५) भारतवर्ष के गत कालीन दार्शनिक आन्दोलन

यहाँ तक बौद्ध सम्प्रदाय के विकास और विस्तार से इस देश में विभिन्न और विचित्र धारणाएँ किस प्रकार फैल गईं इसका विवेचन किया गया। अब आगे का महत्वपूर्ण आलोच्य विषय यह है कि हमारे अद्वैत तत्त्वज्ञान पर उसका कैसा साक्षात् घातक प्रभाव पड़ा, और उसके नाम पर कैसे भ्रान्त विचार लोगों में प्रश्रय पा गये। इसमें तिलमात्र सन्देह नहीं कि जैन और बौद्ध दोनों सम्प्रदाय अत्यन्त उदार भावों से समाज के हित के लिये ही प्रेरित हुए थे। अहिंसा आदर आतिथ्य औदार्य दया क्षमा शान्ति इत्यादि **दैवी सम्पत्ति** के प्रमुख गुणों की परिपुष्टि का बहुत बड़ा श्रेय इन दो सम्प्रदायों को ही देना उचित है। परन्तु साथ ही साथ हमको विवश हो कर यह भी मानना पड़ता है कि इन गुणों के आश्रय से, अनेक उद्भ्रान्त विचारों को बढ़ावा मिल गया, जिससे हमारे देश की धार्मिक सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में अपरिमित हानि हो गई। पर जैसा कि उपोद्घात प्रकरण (५) में बताया गया है इस घोरतर हानि की जिम्मेदारी इन सम्प्रदायों पर नहीं डाली जा सकती। इनके क्रान्तिकारी विचार देश की

शोचनीय अवस्था के निराकरण के लिये ही उत्पन्न हो गये और उनको इन्होंने बड़ी प्रामाणिकता से और निर्भयता से समाज के सामने रखा। पर उनमें दोष त्रुटियाँ या अविचारता क्या थी, और आगे चल कर उनसे कैसे कैसे कुपरिणाम निकल आने की सम्भावना थी, इन सब बातों की सूक्ष्म आलोचना करना, और साथ ही उनका स्पष्ट आविष्कार और निषेध करना, सनातन धर्माग्रणियों का और तत्कालीन राजाओं का कर्तव्य था। बड़े दुःख की बात है कि उनसे यह कुछ नहीं बन सका ! सम्भव है कि वे ही इस भँवर में आ गये अथवा यदि कोई दीर्घदर्शी विद्वान् हुए भी हों, तो भी उनका उपदेश समाज पर प्रभाव न डाल सका हो ! चाहे जो हो, सर्व दोषों की जिम्मेवारी हम ही स्वीकार करनी है।

प्रस्तुत प्रबन्ध का मुख्य प्रतिपाद्य विषय हमारा तत्त्वज्ञान और उसको चारों ओर से घेरने वाला अविचारण्य है उसीको स्पष्टतया दिखलाने के लिये अब प्रयत्न किया जाता है।

मानव स्वभावतः ही जड़वादी है। अतः अधिकांश लोग इसे स्वीकार करने के लिये राजी नहीं हैं, कि कोई अलौकिक अगम्य अशरीरी शक्ति इस विश्व के कार्यों को सञ्चालित प्रभावित और नियमित कर रही हो। परन्तु कुछ अल्पांश लोगों को इसकी सम्भावना सम्मत होती है। फिर ऐसे अनेक विषय हैं जिनके सम्बन्ध में मानव समाज में अनादि काल से भिन्न २ मत चले आ रहे हैं। उदाहरणार्थ नित्य क्या है, अनित्य क्या है, जीवों की उत्पत्ति कैसे होती है, सुख क्या वस्तु है, दुःख क्या वस्तु है, परलोक और पुनर्जन्म हैं या नहीं। ऐसे नाना विध विचारों के परामर्श चर्चा और संघर्ष से ही तत्त्वदर्शन की उत्पत्ति होती है। भारतवर्ष में अतीत अनेक शताब्दियों से जो एवंविध विचारों का मथन और आन्दोलन हुआ, उसीसे असंख्य मतवाद पंथ और सम्प्रदायों की सृष्टि हुई है। इनका विस्तृत रूप से विवरण अन्त में परिशिष्ट (इ) (ई) और (उ) में किया गया है।

इस विश्व में जड़ और चेतन, दो प्रधान तत्त्व दिखाई देते हैं,पहला मूर्त या अमूर्त द्रव्य रूप है, और दूसरा अद्रव्य रूप। पहला क्रियारहित, गतिरहित है और दूसरा पहले को क्रियाशील अथवा गतिशील बनाने वाला प्रेरक तत्त्व है। यद्यपि ये दोनों पृथक् हैं तथापि वे एक दूसरे को छोड़ कर नहीं दिखाई देते। इससे जान पड़ता है कि ये दोनों एक हैं। एक पक्ष का कहना है कि यही विशाल विविध और मिश्र, जड़ चेतन रूप निसर्ग, हमारा ईश्वर है। इसके विपक्ष में आपत्ति की जाती है कि यदि ईश्वर मानना है, तो उसे न्यायी कृपाशील विधि विधानों का नियन्ता एवं कर्म फलों का दाता मानना ही समुचित है, निसर्ग में तो कोई न्याय नियम या विधि संगति, दृष्टिगोचर नहीं होती। वर्षा होती है तो कहीं कम, कहीं अधिक, कहीं खेती को हितकर तो कहीं विनाशक, सर्दी हवा धूप इनकी भी यही दशा है, फिर कहीं प्रचंड भूचाल होती है, तो कहीं भयावह * तूफान, ऐसे विकराल बेढंगे निसर्ग को ईश्वर कैसे माना जाए!

आधुनिक भौतिक विज्ञानवादियों ने अपनी खोजों में अबतक निश्चयही अद्भुत सफलता प्राप्त करली है। उन्होंने रसायन शास्त्र की दृष्टि से सृष्टि के मूलतत्त्व, कुछ काल के पहले, ९२ निश्चित किये। बाद में इलेक्ट्रॉन्स और प्रोटॉन्स, अर्थात् एक नियम्य और दूसरा नियामक, ऐसे दो ही तत्त्व निश्चित किये, और अब तो एक ही प्रेरक या कारक तत्त्व माना जा रहा है। परन्तु इसे भी वे जड़-चेतन रूप मानते हैं, और इससे परे कोई अधिष्ठान रूप ईश्वर नाम से पहचाना जानेवाला विश्व का नियन्ता है, इसे उनकी मान्यता नहीं है।

---

* इस अनुपम में आस्ट्रिया के मानसशास्त्रज्ञ ख्यातनाम फ्रॉइड् ने ईश्वर के सम्बन्ध में जो चुटीली व्याख्या की है उसका स्मरण हुए बिना नहीं रहता। उसका कहना है—'God is a function of the unconscious, invented to take the place of the father, whom we gratefully acknowledged in childhood and whom we miss in maturity

लगभग यही सब जड़वादियों की धारणा है, और बड़ आश्चर्य की बात है कि यही भूमिका, कुछ प्रच्छन्न रूप से हमारे अर्वाचीन अद्वैत म भी प्रश्रय पा गयी है ! माना गया है, ब्रह्म भी एसा ही कुछ अत्यन्त सूक्ष्म और सर्व व्यापी तत्त्व है, विज्ञानवादियों का क्रिया और गति शील है पर इनका निरा, निर्विकल्प, प्रेरणा प्रेरकना विहीन, कर्तृत्व शून्य, तत्त्व है । फिर कहा जाता है कि उस से प्रतीतिरूप एक ज्ञानधर्म ससार मे उत्पन्न होता है, परन्तु उस तत्त्व को स्वयं कुछ भी प्रतीत नहीं होता और अपने द्वारा ससार में इस प्रकार ज्ञान का कुछ प्रपञ्च उत्पन्न हुआ है या हो रहा है, इसकी भी उस ब्रह्म को खबर नहीं है ! यह विचित्र धारणा सम्यक् ज्ञान मे कैसी अत्यन्त प्रतिबन्धक है यह कहा तक बतलाया जाय ? अर्वाचीन वेदान्तियों की प्रच्छन्न निरीश्वरवादिता का यही रहस्य है ।

(२६) अद्वैत-तत्वज्ञान

इस प्रकार यह जड़वाद या निरीश्वरवाद, चार्वाक, मीमांसक से लेकर अबतक निरन्तर किसी न किसी रूप मे हमलोगों के पीछे पड़ा हुआ है और इसके कारण हमारे देश की अपार हानि हुई है । चार्वाक तो स्पष्ट ही निरीश्वरवादी हैं, मीमासक, अपौरुषेय श्रुतिप्रामाण्य के विचित्र आधार पर निरीश्वरवादी अथवा निष्क्रिय ईश्वरवादी हैं । साख्य, वैशेषिक, नैयायिक और जैन, अपने अपने विशिष्ट सिद्धान्तों के अभिमान में ईश्वर को एक ओर किनारे रखनेवाले, और बौद्ध तो पूरे निरीश्वरवादी हैं । इतना ही नहीं, *ससार भ्रममात्र है, शशशृङ्ग है,* ऐसा कहनेवाले भ्रान्तिवादी हैं । और आश्चर्य यह, कि इन्हीं मोहमय विचारों की घनघटा ब्रह्मविद्या का प्रौढनाम धारण कर हमारी बुद्धि पर आच्छन्न हो गयी है ! ऐसी दशा में हमारी वास्तविक तत्त्व-विद्या की थाह लगाना जितना दूभर है उतना ही आवश्यक है ।

सृष्टि के गूढ तत्त्वों का अपनी ओजस्विनी बुद्धि के बल पर अनुशीलन करने का काम, जितना इस आर्यावर्त के प्राचीन महर्षियों ने किया है, उतना ससार के अन्य दार्शनिकों द्वारा किया हुआ नहीं जान पड़ता । उपनिषद्

काल में अर्थात् मानवसमाज के इतिहास के प्रातःकाल में जब अन्यान्य जातियाँ प्रायः वन्यावस्था में थीं, और भौतिक विज्ञान शास्त्रों की कुछ भी प्रगति न हो पायी थी, उस समय अध्यात्म विज्ञान की अद्भुत खोज लगाना, और इस विराट प्रपंच को उत्प्रेरित प्रकाशित और प्रभावित करने वाली अद्वितीय शक्ति का लक्षण केवल ज्ञान स्वरूप' है, ऐसा रूपांकित कर रखना, यह बात आज के उद्भट विद्वानों को भी चकित और स्तंभित कर देने वाली है।

इसी आत्मवस्तु को लक्ष्य कर आगे का विवेचन प्रस्तुत किया जाता है। साथ ही हमारे तत्सम्बन्धीय विचारों में, काल की बलिहारी से अनेक विपर्यस्त और विभिन्न धारणाएँ कैसे प्रविष्ट हुईं और उनसे कैसे कुपरिणाम हुए इसका विवरण प्रसंगशः किया जाएगा।

(२७) परब्रह्म का स्वरूप

अद्वैत विज्ञान की दृष्टि से परब्रह्म का स्वरूपलक्षण 'सत्यज्ञान-मनन्तम् ब्रह्म है इसीको 'सच्चिदानन्द' भी कहते हैं। और वह **नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव सर्वज्ञ** और **सर्व शक्तिमान्** है, यह हमारा सिद्धान्त है। श्रीमच्छंकराचार्य अपने ग्रन्थों में, और विशेषतः ब्रह्म सूत्रों के भाष्य में जहां जहां ब्रह्म शब्द का निरूपण आया है वहां वहां इन विशेषणों का प्रयोग किये बिना नहीं रहते। 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यादि ग्यारह सूत्रों के भाष्य में ब्रह्म के अचिंत्य सामर्थ्य, विश्व की उत्पत्ति स्थिति और संहार कर्तृत्व, नियन्तृत्व, प्रशासितृत्व का स्पष्ट रूप से निरूपण किया गया है सैकड़ों श्रुति वचन इसी वर्णन को निर्धारित कर रहे हैं। उदाहरण के लिए देखिये —

(१) एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः (बृ० ३ ८ ०)

(२) एषसेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय (बृ ४-४-२२)

(३) द्यावाभूमी जनयन् देव एक (श्वे० ३-३)

(४) यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः । हिरण्यगर्भं जनयामासपूर्वम् । (श्वे० ३-४)

(५) अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् (श्वे० ४-९)

(६) एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति (श्वे० ६-१२)

(७) स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिः (श्वे० ६-१६)

(८) सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते (तै० आ० ३-१२-७)

(२८) सत्, चित् और आनन्द का अर्थ

'सच्चिदानन्द' लक्षण में जो (१) **सत्** (२) **चित्** और (३) **आनन्द** तीन पद हैं, उनमें सत् पद का अर्थ ही सत्ता अर्थात् शासन एवं प्रभुत्व है । किसी सम्राट् की सत्ता एवं आधिपत्य उसके विशाल राज्य पर जैसे बना रहता है, उससे अत्यधिक मात्रा में अनन्त ब्रह्माण्डों पर इस निष्कल निष्क्रिय 'नेति नेति' स्वरूप परब्रह्म का अखण्ड दण्डायमान प्रशासन है । बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्तर्यामी ब्राह्मण (बृ ३-७) में इसी रहस्य को लक्ष्य कर सरल मधुर गम्भीर निर्वचन किया गया है । यह ऐश्वर्य मौलिक सत्ता स्वरूप है, अद्वितीय है, सदा अविच्छिन्न निरपवाद और देशकालवस्तुरूप परिच्छेदों से परे है । इससे स्पष्ट होगा कि **सत्** शब्द का अर्थ केवल अस्तिता ही नहीं है। सोचने की बात है कि अस्तिता तो चित् में भी है, आनन्द में भी है। अस्तिता विहीन **चित्** (अर्थात् ज्ञान) और **आनंद** हो नहीं सकते । फिर इन से पृथक् रूप से **सत्** शब्द का प्रयोग करने की आवश्यकता ही क्या थी? देखिये न, ब्रह्म शब्द कहते ही उसकी अस्तिता तो आ ही जाती है। अतः **सत्**

का अभिप्राय केवल अस्तिता में नहीं है उससे बहुत ही ऊँचा है। किसी भी लक्षण में देखिये अस्तिता बताई हुई नहीं रहती, जैसे 'सास्नादिमत्व गोत्वम्' यहाँ गौ की अस्तिता, और फिर उसके कण्ठ के नीचे गलकम्बल रहना है, ऐसा नहीं बताया गया है। 'सङ्कल्पविकल्पात्मक मन' यहाँ भी मन का अस्तित्व और फिर वह सङ्कल्प करता है और विकल्प भी करता रहता है, ऐसा नहीं कहा गया है। यदि कहा जाय कि **सत्** शब्द पारमार्थिकता इङ्गित करता है, तो फिर क्या चित् और आनन्द क्षणिकता के द्योतक हैं? और क्या उनमें अस्तिता नहीं है? अतः परिस्फुट है कि 'सत्' पद परब्रह्म की प्रभाविता का द्योतक है।

इस 'सत्' शब्द का निर्देश प्रधानता से छान्दोग्य उपनिषद् (६-२-१) में आया है। यहां भगवान **शंकर** ने अपने भाष्य में बड़ी उद्बोधक और विस्तृत चर्चा की है और बताया है कि सृष्टि के पूर्व काल में एक **'सत्'** रूप ब्रह्म की ही अस्तिता रही, अर्थात् दूसरा कुछ भी नहीं था। और आगे स्पष्ट किया है कि यह 'सत्' कारण रूप है 'सद्द्रव्य सत् गुण सत्कर्म' ऐसा वैशेषिकों के **'सत्सामानाधिकरण्य'** वाला नहीं है, इस सम्बन्ध में आगे उनके महत्व के वचन यह हैं—'तस्मात् वैशेषिकपरिकल्पितात् सतः अन्यत् **कारणमिदं** सदुच्यते मृदादिदृष्टान्तेभ्यः' 'इह तु सत् चेतनम् ईक्षितृत्वात्' 'सत एव ईक्षितृ नियतक्रमविशिष्टकार्योत्पादकत्वात्'। अतः चेतनावत् **कारणं** जगतः इति सिद्धम्। ध्यान में रहे कि अद्वैत सिद्धान्त को सत्सामान्य या अस्तिता की जाति की कल्पना, अथवा किसी भी पदार्थ की जाति का पृथक् अस्तित्व, अमान्य है-(देखिये परिशिष्ट (उ) अंक २१)

इस विषय पर और भी एक दृष्टि से विशेष प्रकाश डाला जा सकता है। श्रीशंकराचार्य के ख्यातनाम शिष्यों में श्रीसुरेश्वराचार्य नामक एक सुविचार परायण और प्रतिभाशाली पुरुष हो गये, जिन्होंने श्रीमदाचार्य के बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य पर अपना हृदयग्राही वार्तिक रचा है, जिससे श्रीमदाचार्य का अभिप्राय स्पष्टता से परिव्यक्त होता है। **'सत्'** शब्द का

। सर्वशक्तिरियं * शक्तिर्या सदित्यभिधीयते
न च सत्तेति सामान्य प्रत्ययार्थामभीप्सणात् ।२०
। न सतो व्यतिरेण सतोऽन्यो भाव ईक्ष्यते
अप्यभावो न लभते किमु भावोऽतिरेकताम् ।२१
(वृ वा अ ३ ब्रा ४ पृ १२९३)

भावार्थ यह है कि सत् शब्द का अर्थ **'सर्वशक्ति'** है, वैशेषिकों का 'सत्तासामान्य' नहीं। कारण यह है कि उक्त 'सत्तासामान्य' में प्रत्यार्थ अर्थात् 'कारणता' नहीं है, परब्रह्म में कारणता है। रहस्य की बात यह है कि कोई भी पदार्थ बिना ब्रह्म की कारणता के उत्पन्न ही नहीं हो सकता। और तो और जिसको व्यवहार में 'अभाव' कहते हैं वह भी बिना ब्रह्म की कारणता के बनने नहीं पाता, फिर भाव रूप पदार्थों की कौन कहे ?

देखिये कैसा मनोमुग्धकर विश्लेषण श्रीसुरेश्वराचार्य ने थोड़े ही शब्दों में किया है, जिसे पढ़ कर सुवेदनशील पाठकों को बड़ी प्रसन्नता होती है।

---

* इस पुस्तक में परब्रह्म के अलौकिक सत्तासामर्थ्य का विवरण अनेकों स्थलों पर किया गया है। इस कारण कतिपय पण्डितों का आक्षेप है कि लेखक का यह एक अभिनव **'शक्तिवाद'** है। उत्तर यह है कि लेखक ने पुरातन **'चिद्विलास'** पक्ष का ही विद्योतन किया है, जिसका आद्योपांत निरूपण और प्रतिपादन वेद उपनिषद् श्रीमद्भगवद्गीता वेदान्तसूत्रभाष्य योगवासिष्ठ और श्रीमद्भागवतादि अनेक ग्रन्थों में भूरिश उपलब्ध होता है। इस सम्बन्ध में आगे प्रकरण (३०) मे विशेष विवेचन किया गया है। ध्यान रहे कि सामर्थ्य या शक्ति की कोई बाहर से आसज्जित होनेवाले गुण या विशेषण, लेखक ने नहीं माना है, वह तो परब्रह्म की स्वरूप भूत वस्तु है, अर्थात् **अद्वैतविज्ञान। शक्तिवाद'** नहीं है।

कलकत्ता के सुविख्यात पण्डित डॉ. हीरेन्द्रनाथ दत्त एम ए बी एल् पी आर, वेदान्तरत्न ने, **सत् चित्** और **आनन्द** के अर्थ क्रम से Power, Wisdom and Bliss प्रताप, प्रज्ञा, और प्रेम तथा Life, Light and Love, ऐसे रहस्यपूर्ण किये हैं, जिनको देख कर चित्त प्रमुदित हो जाता है। (देखिये उनके व्याख्यान The religions of the World Vol I पृष्ठांक ३२९)

चित् पद का अर्थ ज्ञान है, किन्तु व्यवहार में जो ज्ञान के प्रकार हमको प्रतीत होते हैं अर्थात् सुनना, देखना, जानना, या पदार्थों का ज्ञान, गणित वैद्यक ज्योतिष इत्यादि शास्त्रों का ज्ञान, अथवा पारमार्थिक ज्ञान भी, चित् शब्द का अर्थ नहीं, किन्तु इन सब उत्पन्न होने वाले ज्ञानों को सत्तास्फुरण प्रदान करने वाला जो परब्रह्म का प्रतिभा सामर्थ्य है वही चित् है। हस्तामलकीय स्तोत्र में भी यही तथ्य अगले श्लोक में दर्शाया गया है —

"।यमग्न्युष्णवन्नित्यबोधस्वरूपम्
मनश्चक्षुरादीन्यबोधात्मकानि
प्रवर्तत आश्रित्य निष्कम्पमेकम्
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा।"

अर्थ स्पष्ट है, आचार्य भाष्य की निम्न पंक्तियाँ महत्त्व की हैं —

अत्रोच्यते —बोधो हि नाम चैतन्यमभिप्रेतम्। न च ज्ञानम् चैतन्यम् अन्यस्य ज्ञानस्य ज्ञेयत्वेन घटादिवज्जडत्वात्। ज्ञेय हि ज्ञान, घटज्ञान मे जातम् पटज्ञान मे जातमिति साक्षादनुभूयमानत्वात्। अत तस्य अनित्यत्वेन अनात्मस्व रूपत्वऽपि नित्यबोधस्वरूपत्वमात्मन उपपद्यते।

विषय की स्पष्टता निम्न विन्यास से हो सकेगी — १

ज्ञान

(१) ब्रह्म का स्वरूपभूत ज्ञान। यह अजन्य ज्ञप्तिरूप निर्वृत्तिक नित्यबोधरूप और अर्थपरिच्छेदक है।

(इससे उत्पन्न)

(२) विवर्त रूप अर्थ परिच्छेद अथवा ज्ञानाकार परिणाम, यह अनिर्वचनीय और व्यावहारिक सत्य है।

(३) संसारी जीव का ज्ञानसामर्थ्य, जो अनिर्वचनीय, व्यावहारिक सत्य, अर्थपरिच्छेद कराने का सामर्थ्य है।

(इससे उत्पन्न)

(४) अर्थपरिच्छेद अथवा फल रूप-ज्ञान, यह सत्वपरिणामरूप ज्ञानेंद्रिय जन्य विषयात्मक होते हुए भी निर्वृत्तिक और वस्तुतत्र ही होता है, इसके दो विभाग हैं—

(अ) संसारात्मक

(आ) परमार्थ अथवा सम्यग्ज्ञान

(देखिये आगे प्रकरण (१७) अन्तिम विभाग)

आनन्द शब्द का अर्थ बहुत गम्भीर है। तैत्तिरीय उपनिषद ब्रह्म वर्ग के सातवें अनुवाक में 'रसो वै स। रस ह्येवाय लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। को ह्येवान्यात्क प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवाऽऽनन्दयाति। ऐसा हृदयग्राही उत्तेजना पूर्ण वर्णन है। बृहदारण्यक (४-३-३१) में भी 'एतस्यैवानन्दस्य अन्यानिभूतानि मात्रामुपजीवन्ति' ऐसा प्रतिपादन है। संसार मे प्राणि मात्र को अपने अपने व्यवहारों में जो सुख और आमोद का अनुभव होता है वह इसी **आनन्द** सत्ता के लवलेशांश का प्रतिबिम्ब मात्र है, असल की उसमें बात नहीं आती, हाँ तत्ववेत्ता ज्ञानी

पुरुषों को इस आनन्द की अल्पाधिक मात्रा में स्वानुभूति होती है। परन्तु लक्ष्य रूप जो परितुष्टि और शान्ति उसीको **आनन्द** कहा गया है।

उपर्युक्त विवेचन में ज्ञान का जो विश्लेषण किया गया है, उसमें अंक (१) के साथ का ज्ञान ब्रह्म का स्वरूप ही है, ज्ञातृरूप ब्रह्म और उसका ज्ञान एक ही हैं, इसमें क्रिया की कोई बात नहीं है। अंक (२), (३), और (४) के ज्ञान अनिर्वचनीय हैं।

अब ब्रह्म के स्वरूप लक्षण में जो 'ज्ञान' है वह अर्थपरिच्छेदक तो अवश्य है परंतु उससे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानाकार परिच्छेद या परिणाम इस लक्षण में नहीं बताये गये हैं। इससे शंका होती है, कि ज्ञान या **ज्ञप्ति** शब्द में अर्थ परिच्छेदकता है या नहीं? इसका निर्णय श्रीमदाचार्य ने स्वयं दिया है; वे लिखते हैं 'यस्य हि सर्वविषयावभासनक्षमं ज्ञानं नित्यमस्ति सोऽसर्वज्ञ इति विप्रतिषिद्धम्'। (देखिये ब्र. सूत्र. भाष्य १-१-५)

श्री भगवद्गीता के प्रस्ताव भाष्य में लगभग आरम्भ में ही 'स च भगवान् ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्य तेजोभिः सदासम्पन्न'—यह शब्द आये हैं। इन पर आनंदगिरि टीका में **'ज्ञानं ज्ञप्तिरर्थपरिच्छित्तिः'** ऐसी स्पष्ट व्याख्या ही दी गयी है।

इस महत्व के प्रश्न का मार्मिक विवेचन **शंकर** भगवान् ने अपने तै. उ. ब्रह्मवल्ली अनुवाक एक के भाष्य में किया है, जहा पर अन्त में अपना एक निर्णय वाक्य लिख दिया है, **'तस्मात्सर्वज्ञं तद् ब्रह्म'**, जिससे किसी शंका का अवसर नहीं हो पाता। पाठकों से अनुरोध है कि वे इस भाष्य को मनोयोग के साथ पढ़ें।

कई पण्डितों का यह प्रतिपादन हुआ करता है, कि 'सत्यंज्ञानमनंतं' यह सब विशेषण 'स्वार्थहीन हैं। इनका अभिप्राय 'अनृत जड़ दुःख विरोधी' ऐसा

ही लेना चाहिये ! यह तो बौद्ध सम्प्रदाय की 'नशा के पहाड़े' वाली बात होती है (देखिये परिशिष्ट (अ) श्रुति वाक्य 'स एष नेति नेति') यह विचित्र अर्थ बौद्धों के शून्यवाद से कितना मिलता जुलता है, प्रिय पाठक समझ सकते हैं। शून्य अभावात्मक होने से अनृत से भिन्न है, शून्य को जड़ द्रव्य नहीं कहा जा सकता, शून्य में दुःख का तो लव लेश नहीं है। देखिये बौद्ध मतों से हमारे पण्डितों को कितना प्रेम था। उपरोक्त ब्रह्मवल्ली के भाष्य में साफ बताया गया है कि इन विशेषणों के अर्थों का परित्याग नहीं हो सकता, पर देखे कौन ? ऐसे विचित्र अर्थ करने से पाठकों को दिग्भ्रान्तता मात्र होती है ब्रह्म अनृत नहीं है 'इसमें निश्चयात्मकता कहाँ है ? अनृत नहीं, एव कूट भी हो सकता है, दुष्ट भी हो सकता है ! श्रुति माता का अनिन्द्य सुन्दर विधि मुख वर्णन कहां और इन लोगों का अटपटा वर्णन कहां ? श्रुत्युक्त विशेषणों का आशय निरंकुश प्रभुत्व, निःसंदिग्ध ज्ञान, और निरतिशय आनन्द, कितना उद्बोधक उत्तम और प्रभामय है ? इतना होते हुए भी उसे 'अनृतजडदुःख विरोधि' ऐसे कुछ का कुछ मान लेना उतनाही अनौचित्य एवं असमञ्जस से भरा हुआ है, जितना सुन्दर रुचिकर सुगन्धयुक्त 'श्रीखण्ड' की बर्फियों में भूसे और तुस का स्वाद पाने की इच्छा रखना !

कितनेक अभ्यासकों और पण्डितों को भी यह शंका खटकती रहती है, कि परब्रह्म के स्वरूप लक्षण में उसका सर्वज्ञत्व अन्तर्यामित्व सर्वव्यापित्व सृष्टिकर्तृत्व और प्रशासकत्व का स्पष्टता से समावेश क्यों नहीं किया गया ? इस लिये वे मानते हैं कि ये सब पर-ब्रह्म के लक्षण नहीं हो सकते, सम्भवत अन्य किसी के होंगे और हम भ्रान्ति से उसीको मानते चले आ रहे हैं ? यह तो सबसे बड़ी भूल अद्वैतविज्ञान में प्रश्रय पा गयी है, जिसकी यहाँ आलोचना होना आवश्यक है।

देखिये, शास्त्र में लक्षण का लक्षण ही 'असाधारण धर्म प्रतिपादकं वाक्यम्' ऐसा स्पष्ट रूपसे किया गया है। और फिर भी यह मर्यादा बनायी गई है कि लक्षण 'अव्याप्ति अतिव्याप्ति और असम्भव' इन दोषों से विवर्जित

हो। अर्थात् उसमें सम्पूर्ण वर्णन नहीं होता है। उदाहरण के लिये 'सगित्वे सति सास्नादिमत्त्व गोत्वम्' यह गाय अथवा बैल का लक्षण बाधा गया है। पर यह इनका पूरा वर्णन नहीं हो सकता। इनके चार पैर होते हैं पूछ होती है, गौ दूध देती है। उसके बछड़े होते हैं, जिन पर वह बड़ा स्नेह करती है। बैल खेतहरों का सर्वथा उपकारी जानवर है, ऐसी अनेक महत्व की बातों का लक्षण में नाम तक नहीं है। अत आपकी गौ यदि दूध देती है तो वह गौ नहीं है दूसरा ही कोई जानवर है, ऐसा कैसे कहा जा सकता है? यह तो बड़ी हँसी की बात है।

ठीक यही प्रकार परब्रह्म के स्वरूप लक्षण के सम्बन्ध में हुआ है। यदि आपका ब्रह्म सृष्टिनिर्माता है या प्रशासक है, तो वह ब्रह्म नहीं है ऐसा खुल्लम् खुल्ला यह पण्डित गण कहते आ रहे हैं। समझने की बात है कि स्वरूप लक्षण कोई 'इन्वेन्टरी' नहीं है। ब्रह्म में यदि सृष्टिकर्तृत्व हो नहीं है तो 'ब्रह्म कारणता सिद्धान्त' जिसे श्रीमदाचार्य ने ब्र सू. भाष्य में यत्र तत्र सर्वत्र प्रमाणित किया है, वही उत्सन्न हो जाता है। ब्रह्म का यथार्थ वर्णन करने में जब वेद भी असमर्थ हैं, तो एक छोटे से स्वरूपलक्षण में सम्पूर्ण वर्णन कैसे समाविष्ट किया जा सकता है। और न लक्षण की व्याख्या से इसकी कोई आवश्यकता ही है। खेद की बात है कि लक्षण का मर्म ही भली भाँति न समझने से, वेदान्त विचारों में एक विचित्र उद्भ्रान्त धारा निर्माण हो गई है। कहा जाता है कि ब्रह्म और ईश्वर सर्वथा अलग हैं। क्योंकि उनके लक्षण ही भिन्न हैं। स्वरूप लक्षण से निर्दशित, निर्गुण, निर्बीज, शुद्ध ब्रह्म है, और तटस्थ लक्षण वाला, सगुण, सक्रिय, सबीज, सृष्टिकर्ता, माया से उत्पन्न अनात्म चिदाभास है, वही ईश्वर है। इस प्रकार जब पण्डितगण ही अपने ग्रंथों में लिख देते हैं तो फिर कुछ कहते नहीं बनता।

दर्शन शास्त्र स्पष्ट बता रहा है कि स्वरूपलक्षण और तटस्थलक्षण दोनों एक ही निर्गुण ब्रह्म के हैं जो कभी अशुद्ध होता ही नहीं। 'कादाचित्कत्वे सति व्यावर्तकत्वम्' यह तटस्थलक्षण की व्याख्या ब्रह्म की, स्वरूपच्युति

अगुद्धता या वह काल से परिच्छिन्न होता है, यह नहीं बता रही है । वह निराकारातीत ही है, परतु यह काल परिच्छेद अपने स्वभाव के कारण हम कर रहे हैं और इस काल खण्ड म हमको उसका ज्ञान जैसा,

> । गतिर्भर्ता प्रभु साक्षी निवास शरण सुहृत्
> प्रभव प्रलयस्थान निधान बीजमव्ययम् ।
> (गीता ९—१८)

इस प्रभावी स्वरूप से होता है, वैसा स्वरूपलक्षण स भी होता है। तटस्थलक्षण म बताया हुआ प्रभाव, भले ही स्वरूपलक्षण में निर्दिष्ट न किया हो, पर वह शुद्ध ब्रह्म का नहीं है ऐसी बात नहीं। ब्रह्म सूत्र २—१—९ के भाष्य में श्रीमच्छंकराचार्यने स्पष्ट लिखा है — 'अपि चायमपरो दृष्टान्त यथा स्वयप्रसारितया मायया **मायावी** त्रिष्वपि कालेषु न संस्पृश्यते अवस्तुत्वात । एव परमात्मापि ससारमायया न संस्पृश्यते । अर्थात् सगुण निर्गुण मायाविशिष्ट मायोपहित शबल अशबल, यह सब वही वह है जो अनेक ब्रह्माण्डो की इक्षण मात्र से सृष्टि स्थिति लय करते हुए कभी अशुद्ध नहीं होता ।

शुद्ध ब्रह्म सृष्टि करता ही नहीं मायाविशिष्ट ही करता है ! ऐसे कथन से यह भ्रम होता है कि क्या दो दो ब्रह्म होते हैं ? परन्तु दुर्भाग्य का विषय है कि वेदान्त ग्रन्थों म ऐसी सकीर्ण भाषा का व्यवहार पाया जाता है । इस लिये एक विशाप प्रकरण (३२) 'ब्रह्मकारणतासिद्धान्त और विचारसागर ग्रन्थ इसी ग्रन्थ में निविष्ट किया गया है जिसको पाठक देख सकते हैं । इसम बताया गया है कि ऐसा विपरीत आशय उक्त ग्रन्थ के प्रवर्तकों का कदापि नहीं हो सकता ।

निर्गुण ब्रह्म सगुण होता है, इसका अर्थ यह नहीं होता कि वह अपने को प्राकृतिक गुण लगा लेता है । स्रष्टृकर्तृत्व जागतिक या प्रकृति का सामर्थ्य नहीं । पाठक विचार कर सकते हैं कि त्रिलोक की रचना करने की शक्ति

त्रिलोक के अन्दर वाली नहीं हो सकती। वह तो त्रिलोकातीत और त्रिकालातीत ही हो सकती है। अर्थात् वह पारमार्थिक है जागतिक नहीं। वह ब्रह्म का स्वरूप भूत सामर्थ्य है। इस सूक्ष्म दृष्टि से पर्यालोचन किया जाय तो यह निश्चित होता है कि परब्रह्म का सगुणत्व भी प्राकृतिक जड़ गुण रूप नहीं है।

हमारे अवतारों के सम्बन्ध में भी यही सूक्ष्म और अनूठी धारणा आर्य विचारों की रही है। श्रीकृष्ण भगवान् के जन्म की घटना प्राणियों के जन्म की भाँति जागतिक नहीं। उनका शरीर हड्डी मांस का नहीं था किन्तु एक दिव्य दिखावा था। 'जन्म कर्म च मे दिव्यम्' यह तो भगवान् स्वयं ही बता रहे हैं। जब वे कंस का वध करते हैं तब माया के रजस्तम गुणों से व्याप्त और विकृत होते हैं यह बात नहीं। कोई भी अनात्म गुण धर्म उन्हें छूने नहीं पाते। 'माया एषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद' (ब्रह्म सूत्र १-१-२ का भाष्य) ऐसा कहने का जिनका प्रभावशाली तेज, उनकी क्या बात कहनी है? तात्पर्य, यह अर्थ कभी नहीं समझना चाहिए कि सगुण ब्रह्म निचले दर्जे वाला ब्रह्म है या अब्रह्म है। ससार के अन्य मतों में सगुण का ही स्वीकार है निर्गुणता की उनको कल्पना नहीं है। अत. उनका हमारा भेद स्पष्ट रूप से बताने के लिये ही हमारे शास्त्रों ने निर्गुणता का विशेष रूप से प्रतिपादन किया है, सगुण को नीचा दिखाने के हेतु नहीं। अपिच उन मतों की सगुणता जागतिक धर्म वाली है, हमारी सगुणता स्वरूपभूत-गुणविकाश रूप होने से निर्गुण ही है।

कई वेदान्त ग्रन्थों में इस प्रकार का भी निर्देश मिलता है कि सामान्य सत्ता परब्रह्म की है और विशेष सत्ता व्यावहारिक है, वैसे ही सामान्य ज्ञान परब्रह्म का है और अन्तःकरण जन्य विशेष ज्ञान प्राणिमात्र का है। इसी प्रकार इन ग्रन्थों में ऐसा भी लिखा रहता है कि अस्ति, भाति, प्रिय, नाम और रूप, इन में पहले तीन ब्रह्म के, और पिछले दो जगत् वाले हैं। पर पहले तीन यदि इन्द्रियगम्य हों, तो वे पारमार्थिक हो नहीं सकते।

प्रतीयमान सामान्य अस्तिता मे और ब्रह्म की निरंकुश शासना में विलक्षण अन्तर है। फिर सामान्य भातित्व कहाँ, और ब्रह्म के विज्ञान की बात ही कहाँ? प्रियता की भी यही कहानी है। यह 'अस्ति भाति प्रिय' वाला सिद्धान्त हमारा नहीं है, भेदाभेदवादी शाक्त सम्प्रदाय का है। यह पाँचों यदि ज्ञानेन्द्रिय गम्य हैं, तो अनात्म हैं पारमार्थिक नहीं हैं।

वेदान्त विचारों में निर्गुण और निष्क्रिय इन दो शब्दों की यथार्थता न समझने के कारण जितना अनर्थ हुआ है, उतना कदाचित् दूसरी किसी अज्ञानता से नहीं हुआ है। निर्गुण का अर्थ निस्सत्व, निष्प्रभ याने होते हुए भी नहीं के समान, ऐसा बौद्ध छापे का किया जाता है! अब देखिये भगवद्गीता के १३ वे अध्याय के १९ वें श्लोक मे 'विकाराश्च गुणाश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान' ऐसा स्पष्ट कहा गया है। अर्थात् प्रकृतिजन्य गुण अथवा विकार ब्रह्म के नहीं होते, यही निर्गुण शब्द का अर्थ है। और यही प्रमेय ऊपर के विवरण में स्पष्ट किया गया है। इसी अध्याय के श्लोक १३ से १७ तक 'सर्वत पाणिपादम्' 'सर्वभृत्' 'भूतभर्तृ' 'ग्रसिष्णु प्रभविष्णु' इत्यादि विशेषणों से परब्रह्म का प्रभावी वर्णन किया गया है, अर्थात् वह निर्गुणता का विरोधी नहीं है।

ब्रह्म के 'निष्क्रिय' विशेषण के सम्बन्ध में भी ऐसी ही भ्रान्ति होती आ रही है। यह विशेषण ब्रह्म पर दो ढंग से घटाया जा सकता है। (१) इसके शरीरादि न होने के कारण उसमें जड हलचल वाली क्रिया है ऐसा तो कोई नहीं कहता। परन्तु उसमें कर्तृता ही नहीं है, यह कहना श्रुति प्रामाण्य के विरुद्ध है। उसका ईक्षण या इच्छा भी द्रव्यों की हलचल वाली नहीं हो सकती परन्तु ईक्षण मात्र से सृष्टि तो नि संदिग्ध बताई गई है। श्वेताश्वतर उपनिषद (१६-१९) मे 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' ऐसा वचन आया है। यहाँ निष्क्रिय का अर्थ भाष्यमें कर्तृत्वहीन नहीं किया गया है, प्रत्युत 'स्वमहिम कूटस्थ' बताया गया है, कारण इसके पहले ही (४-९) में 'अस्मान् मायी सृजते विश्वमेतत्' ऐसे सुस्पष्ट स्रष्टृत्व बताने वाले शब्द हैं, और भाष्य में आचार्य लिखते हैं

'कूटस्थस्यापि स्वशक्तिवशात्सर्वैस्रष्टृत्वमुपपद्यम्'। इस दृष्टि से निमित्त शब्द भी ब्रह्म के निरंकुश सामर्थ्य को कोई ठेस नहीं पहुँचाता।

इच्छामात्र से सृष्टि, यह तो हमारा मौलिक श्रौत सिद्धान्त है। श्रीवसिष्ठ महामुनि भी यही लिखते हैं.—

| शिवं ब्रह्म विदु शान्तमवाच्य वाग्विदामपि
स्पन्दशक्तिस्तदिच्छा स्यात् दृश्याभासं तनोति सा | ६
(योगवासिष्ठ निर्वाण प्रकरण उत्तरार्ध सर्ग ८)

महाराष्ट्र के ख्यात नाम समर्थ श्री रामदास भी यही लिखते हैं:—

| ऐसा ब्रह्माण्ड माळा अनन्त । इच्छा मात्रे होत जात
परी ज्याचा एकान्त । मोडलाचि नाहीं | २५
(श्री समर्थकृत लघुकाव्य जुनाट पुरुष पृ. ८)

इस अद्भुत ईक्षण शक्ति को जगत के अन्दर कोई दृष्टान्त ही नहीं है, और सिद्धान्त समझाने के लिये उदाहरण तो देने ही पड़ते हैं, इस लिये श्रुति-माता ने विशेष सादृश्य वाला मदारी अथवा जादूगर का दृष्टान्त दिया है:—

| रूपं रूपं प्रतिरूपोबभूव । इन्द्रो मायाभि. पुरूरूप ईयते
। तदेव रूपं प्रतिचक्षणाय | (ऋग्वेद ६–४७–१८)

अर्थः-परमात्मा अपनी बहुरूपी **ऐंद्रजालिक** गारुड शक्ति से पदार्थ पदार्थ में रूप धारण किये हुए है। उन्होंने ऐसा इसी हेतु किया है कि उनके यत्र तत्र सर्वत्र दर्शन हों।

यह **मायावी** (मदारी) का दृष्टान्त श्वे उपनिषत् (४–९, १०) में भी आया है, और **श्रीशङ्कराचार्य** ने इसी को अपने ग्रन्थों मे लगभग १५ स्थानों पर दिखा दिया है; और ऐतरेय उ. अ. २ खं ४ के प्रस्तावभाष्य में 'एषयुक्ततर. पक्ष.' कह कर उसको अपनी अभिमति प्रदान की है।

ऐसी मनोमुग्धकर और रहस्य स्यन्दि उपपत्ति जिसे दृष्टान्त द्वारा श्रुति ने स्वय दिखा दिया है, जिस पर श्रीमदाचार्य भी बड़े प्रसन्न हुए और जो **दृष्टिसृष्टि वाद** की **प्रतिष्ठाभित्ति** है, उसे देखकर हमारे अर्वाचीन और मध्यकालीन पण्डितों को क्यों बुरा लगता है समझ में नहीं आता! आज कल के गण्यमान्य वैज्ञानिक और प्रवीण दार्शनिक भी इस गूढ उपपत्ति की ओर आकृष्ट हो रहे हैं। परन्तु हमारे पण्डितों को यह डर लगा है कि इस युक्ति से हमारे परमात्मा के असङ्गत्व, निराकृतत्व निर्गुणत्व निष्क्रियत्व और निष्फलत्व, भग हो जाते हैं! इस डर के मारे इन्होंने परब्रह्म को बिलकुल अलग रखने की अविरत चेष्टा की है और यह माना है कि इन ब्रह्माण्डो के उत्पत्ति स्थिति लय, एक जड़ चिदाभास ही करता है और चैतन्य की उसको तनिक भी प्रेरणा नहीं है। इस प्रकार एक अभिनव जड़वाद ही इन्होंने प्रणीत कर रक्खा है! कहने को तो यह लोग कह देते हैं कि **मायोपहित ब्रह्म** ही सृष्टि करता है परन्तु इसका अर्थ वे अपने मन ही मन कर लेते हैं कि एक 'चैतन्य प्रेरणा विहिन माया' ही सब कुछ कर लेती है, ब्रह्म का उस में कोई सम्बन्ध अथवा किसी दृष्टि की कारणता नहीं है!

प्रिय पाठक विचार कर सकते हैं कि यह कितनी तर्कहीन विचित्र धारणा है? इस सम्बन्ध में विशेष विवेचन आगे प्रकरण (३२) और प्रकरण (३८) में विस्तृत रूप से किया जाएगा। अर्वाचीन पण्डितो के अनुचित विचारों ने एक बार ही हमारे वेदान्त सम्बन्धी ज्ञान को जर्जर और निसम्बल बना रक्खा है।

'निष्कल निष्क्रिय शान्त निरवद्य निरञ्जनम्' ऐसा परब्रह्म का वर्णन श्वेताश्वतर (६–१९) में आया है। यहां टीकाकारों ने 'निष्कल' शब्द का अर्थ विभागरहित, निरवयव, किया है अर्थात् उसका आशय किसी दृष्टि से कल्पना हीन अथवा स्फुरण प्रेरणा विहीन, नहीं हो सकता। यदि ऐसा हो तो 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्' (कठ १-२-२३) यह श्रुति निरर्थ हो जाती है। इतना ही नहीं अपि तु हमारा अवतार

रहस्य और सम्पूर्ण भगवद्गीता तथा अनेक मौलिक ग्रन्थों को 'समुद्रास्तृपवत्' करने की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

ब्रह्म के 'निर्धर्मक' विशेषण का यही अर्थ है कि उसको कोई बाह्य धर्म जाकर नहीं चिपकते, उससे यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि उसके स्वरूपभूत धर्म और गुण नहीं होते। क्या नित्यत्व, शुद्धत्व बुद्धत्व ये ब्रह्म के गुण नहीं हैं? यह तो असमञ्जसता की हद होगी।

इस अनुसंग में आशंका होती है कि क्या नैयायिक मतों की छौंक तो हमारी बुद्धि पर आच्छन्न नहीं हुई है? उनका एक विचित्र सिद्धान्त है कि प्रत्येक पदार्थ कोरा गुणहीन उत्पन्न होता है, और फिर एक क्षण के पश्चात् उस पर गुण आसज्जित होते हैं। यह तो निरी भूल है। पदार्थों में निजी स्वरूपभूत गुण हैं और पदार्थ विकृत भी होते हैं। पर परब्रह्म में किसी प्रकार की विकारिता नहीं है। श्रुति स्मृतियों के स्थिर किये हुए ब्रह्म कारणता सिद्धान्त में परब्रह्म का असंगत्व, नित्यतृप्तत्व, परिपूर्णत्व, अमान्य है ऐसी बात नहीं, परन्तु यह मान्यता बाह्य अथवा स्थूल दृष्टि वाली नहीं है, सूक्ष्म दार्शनिक दृष्टि की है—यह बात इस पुस्तक में अनेक स्थानों पर दर्शायी गई है।

(२९) रज्जुसर्प दृष्टान्त, उससे वेदान्त विचारों में उत्पन्न विचित्र परिणाम, और ब्रह्म कारणता सिद्धान्त

अदृश्य, अचिंत्य, निरवयव, अद्रव्यरूप परमात्मा केवल अकेला ही सृष्टि के पूर्व में था, और उसने 'अनपेक्ष्यैव बाह्य साधनम् ऐश्वर्यविशेषयोगादभिध्यान मात्रेण स्वत एव' (देखिये ब्रह्म सूत्र २-१-२५ का भाष्य) नाना विध सृष्टि उत्पन्न की ऐसा स्पष्टता से कहा गया है। तो प्रश्न होता है कि यह बिना किसी उपादान द्रव्य के और जब कि निमित्त कारण भी निरवय, हस्तपाद विहीन है, कैसे सम्भव है? संसार भर में इसके लिए कोई उदाहरण नहीं है। इस लिये श्रुतिने

जादूगर का दृष्टान्त दिया, जिसका उल्लेख ऊपर आ गया है। परन्तु जादूगर को भी कुछ मन्त्र पढ़ने पड़ते हैं, कुछ तन्त्र करने पड़ते हैं। श्रुति ने तो केवल परमात्मा के ईक्षण से ही सृष्टि बनाई है। इसकी उपपत्ति करा देने के लिये कुछ ग्रन्थकारोंने रज्जुसर्प का दृष्टान्त दिया है। इसमें मंत्र तंत्र होते नहीं, और कुछ विशिष्ट परिस्थिति में ईक्षण मात्र से सर्प दीखने लगता है। यह तो उदाहरण मात्र है, और कुछ ही अंशों में सीमित है। समझाना यही है, कि एकमेवाद्वितीय परमात्मा अपने ईक्षण मात्र से सृष्टि स्थिति लय कर सकते हैं। यही बात विचार-सागर ग्रन्थ में भी स्पष्ट की गई है, देखिये अंक १५१। यहां स्पष्ट कर दिया गया है कि रज्जुसर्प के दृष्टान्त में और जगत् के दृष्टान्त में बहुत ही विभिन्नता है। पहले में अधिष्ठान आधार सादृश्य मन्द अन्धकार, द्रष्टा और उसकी अविद्या मोह भ्रान्ति इत्यादि बहुविध बातें होती हैं, पर जगत् के सम्बन्ध में यह सामग्री है नहीं, और मर्म की बात यह है कि यहां साक्षि-चैतन्य यानें शुद्ध ब्रह्म ही अधिष्ठान आधार और द्रष्टा है। अर्थात् विवर्तों का उपादान तथा निमित्त कारण वही है और प्रकट है कि उसको अविद्या और भ्रान्ति छू नहीं सकती। पर खेद है कि इस दृष्टान्त के कारण, जो उद्भ्रान्तता और अनर्थ हुए हैं वह दृष्टान्त की उपरोक्त मर्यादा का परिपालन न करने से ही हुए हैं। बहुत से पण्डितों की यह अहमहमिका रहती है, कि पूर्वाचार्यों के दिये हुए दृष्टान्त को जितने अधिक अंशों से दार्ष्टान्त में लगाया जाना सम्भव है, उतने पूरे अंशों से लगा देना, और उसीमें अपनी पंडिताई और कृतकृत्यता समझ लेना। इस लोभ का परिणाम अनर्थकारी ही होता है जैसा कि उद्धृत दृष्टान्त में दुर्भाग्य से हुआ है। प्राय किसी भी दृष्टान्त में साम्य का अंश तो अल्पल्पमात्रा में ही होता है। देखिये मृगजल और जल इनमें एक आभासिक सादृश्य को छोड़ कर कहीं भी साम्य नहीं है। परन्तु इनकी सर्वतोभावेन एकता बनाने के प्रयासों से प्रबल आपत्तियाँ ही उत्पन्न होती हैं। इसलिये दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में कितना विरोध है, इसको जानना भी अत्यधिक आवश्यक है। और इसीलिये विचारसागर ग्रन्थ में रज्जुसर्प और जगत् में कैसी विभिन्नता है इसको दार्शनिक दृष्टि से स्पष्ट कर दिया गया है। रज्जुसर्प और ईशसृष्टि अथवा प्रतीयमान

ससार म दक्षिण और उत्तर ध्रुव क समान भेद है। पहला प्रातिभासिक है, जो सादे व्यावहारिक ज्ञान से ही नष्ट होता है, पर दूसरा तो ब्रह्मज्ञान से भी नष्ट नहा होता ! कहा जाता है कि वह बाधित होता है, पर बाधित तो हमारी अविद्या होती है, तत्सम्बन्धीय जो हमारी भ्रान्त कल्पनायें हैं, और जो केवल हमारे मस्तिष्क के अन्दर है, वही तो नष्ट होती हैं, जगत् तो जैसा था वैसा ही रहता है। क्या कि वह तो परमात्मा की अद्भुत लीला है, उसे कोई नष्ट नहीं कर सकता। रज्जुसर्प १०/५ मिनट से अधिक नहीं रहता, परन्तु ईशसृष्टि भले ही वह एकान्त अपरमार्थिक हो, करोड़ों वर्ष से चली आ रही है और भविष्यत् में भी बनी रहेगी। वह क्षणिक है यह बौद्ध सम्प्रदाय की की हुई विडम्बना है। भ्रम तो एक मनोधर्म है जो मन के अन्दर ही रहता है, शास्त्र साफ बता रहा है 'शोक मोहौ मनोधर्मौ'। अर्थात् भ्रम कोई बाहर रहने वाला पदार्थ नहीं है।

ब्रह्मकारणता सिद्धान्त को त्याग कर जड़माया की कल्पना कर लेना और उस 'स्वपरनिर्वाहक' मान लेना, अथवा **एकजीव वाद** की कल्पना कर लेना, दोनों पक्ष श्रुति विरुद्ध हैं क्या कि इनमें चैतन्य की प्रेरकता ही अमान्य की गई है! प्रेरकता यदि मान्य हो तो फिर विवाद का कारण हा नहीं रहता, क्यों कि वही तो ब्रह्म का स्रष्टृत्व है। पर बड़े आश्चर्य तथा दुःख की बात है कि इतनी प्रभाविता से श्रीमदाचार्य के द्वारा खण्डित किया हुआ सांख्यों का 'जड़ प्रधानकारणतावाद' एक दूसरा हा 'स्वपरनिर्वाहक जड़ माया' का रूप धारण कर हमारे पण्डितगण को विपथगामी कर रहा है!

वास्तव में देखा जाय तो अद्वैत तत्त्वविज्ञान को समझा देने के लिये 'रज्जुसर्प' जैसे अधूरे, अनेक दृष्टि से विसगत तथा भ्रान्ति जनक दृष्टान्तों के देन की कोई आवश्यकता नहीं थी, पर यह बात भी हमारे पण्डितों की बुद्धि पर बौद्ध तत्त्वज्ञान की कितनी गहरी छाया छा गई थी इसका पर्याप्त परिचय करा देती है। बौद्धों का भी अद्वैत तत्त्वज्ञान है और हमारा

भी वही है पर दोनों में आकाश पाताल सा भेद है, उनका शून्याद्वैत यानी प्रारम्भ में निरा भ्रमाद्वैत ही था, यद्यपि आगे चल कर बौद्ध पण्डितों ने उसमें तन्त्र मार्ग के सिद्धान्त और प्रक्रियाओं का समावेश कर उसे 'वज्रयान' कहा है और उसे अलग सा बताने की चेष्टा की है। हमारा तो पहले से ही 'लोकवत्तु लीला कैवल्यम्' ब्रह्मसूत्र (२-१-३३) में प्रतिपादित की गई रीति से, **लीलाद्वैत** या **चिद्विलास** सिद्धान्त है। अत हमारे पण्डितों को जगत् का कारण बताने के लिये भ्रान्ति जनक दृष्टान्त दिखाने की कोई आवश्यकता न थी, पर काल की बलिहारी से वे बौद्ध पण्डितों के तत्त्वजाल से बच न सके, जैसा कि इस पुस्तक में यत्र तत्र बताया गया है।

(२०) परिच्छेद (१) अक्षरब्रह्म से विश्व का विकास और विस्तार

गत तीन प्रकरणों में ब्रह्मस्वरूप का पर्याप्त मात्रा में विवेचन किया गया है। अब उससे विश्व का विकास और विस्तार कैसे होता है, इसका विश्लेषण किया जाएगा। प्राचीन महर्षियों ने अनेक सहस्राब्दियों के पूर्व केवल अपने प्रातिभज्ञान से इस विषय में कैसी रहस्यमयी गवेषणा की है, देख कर कोई भी विद्वान, स्तम्भित हो जायगा। यह विज्ञान भगवद्गीता में सूत्र रूप से ग्रथित कर दिया गया है। अ० ८ श्लोक ३ में भगवान कहते हैं —

(अ) अक्षर ब्रह्म परमम्।
(आ) **स्वभावोऽ**ध्यात्ममुच्यते
(इ) भूतभावोद्भवकरो विसर्ग कर्मसंज्ञित

अद्वैतविज्ञान में दो ही प्रमुख तत्त्व माने गये हैं, एक 'दृक्' और दूसरा दृश्य। इनमें 'दृक्' ही स्वतन्त्र और परमार्थ सत्य है और दृश्य, अपरमार्थ, अस्वतन्त्र, विनाशी, परन्तु व्यावहारिक सत्य है। कहा जाता है कि अद्वैती आचार्यों ने कापिलसांख्य शास्त्र के पच्चीस तत्त्वों को ही कुछ परिष्कृत कर अपने तत्त्वों की निश्चिति कर ली है। सम्भव है कि ऐसा कुछ अंश में हुआ

हो, परन्तु प्राचीनतम काल मे, अद्वैती और साख्य एक ही थे। अपि च कठोपनि
मे इन तत्त्वों की अविसवाद नींव पाई जाती है, तथा केनोपनिषद् में भी इ
विवरण मिलता है। अत अधिक सम्भव तो यही प्रतीत होता है कि पू
चार्यों ने प्रथम से ही इन आधारों पर अपने तत्त्वों की परिगणना की हो, ३
परवर्तीकाल मे अद्वैती और कापिलसांख्य विभिन्न हो गये। जो कुछ भी हो, ३
वर्तमान दशा मे इन दोनो सम्प्रदायों के तत्त्वों का तुलनात्मक निदर्शन अ
दिखाया गया है। निम्न आँकड़े तत्त्वो की क्रम सख्या बताते हैं।

अद्वैत विज्ञान		सांख्य (द्वैतव
तत्त्व	विशेष	तत्त्व
(१) (अ) परब्रह्म	समानार्थ शब्द –'अक्षरं ब्रह्म परमम्' (गीता-८-३) परमात्मा, उत्तम पुरुष, 'तद्विष्णो परम पदम्' (कठ १-३ ९) अव्यक्त, (गी. ८ २०) महान्, शान्तात्मा, कूटस्थ, ईश्वर, सच्चिदानन्द, नारायण, वासुदेव (गी ७-१९) चितिशक्ति, 'नेति नेति' * स्वरूप।	(१) पुरुष अनन्त और प्रत्येक सर्व-व्यापी
(आ) अव्यक्त आकाश अव्याकृत पारमेश्वरी बीजशक्ति	यह परब्रह्म ही है (ब्र सू-भा १-४ ३) क्योंकि परब्रह्म और उसका स्वभाव अलग नहीं हो सकते, (गी. ८-३) परब्रह्मण प्रतिदेह प्रत्यगात्म भाव स्वभाव। अव्यक्त यह परब्रह्म की शक्ति है। देखिये (गी. ९९ ९) और कठ (१-३-११) भाष्य।	

(अ) और (आ) दोनों एक हैं, इनमें तनिक भेद नहीं है। 'एकं सद्विप्रा धा वदन्ति' ऋ (१-१०६-४६) इस प्राचीन वैदिक सिद्धान्त को पूर्वाचार्यों ने सार्थक किया है, आगे विवरण द्रष्टव्य है।

*'नेति नेति' यह आदेश जो बृहदारण्यक उपनिषद् (२-३-६) में दिया ग प्रभावशाली प्रशामक परब्रह्म का ही संकेत करता है, देखिये प्रकरण (परिशिष्ट (अ)

अद्वैतविज्ञान		सांख्यमत (द्वैतवादी)	
तत्त्व	विशेष	तत्त्व	विशेष
मायी पुरुष मृताक्षर हर: विद्या — माया प्रकृति क्षर प्रधानम् अविद्या	माया ऐन्द्रजालिक पारमेश्वरी अभिन्ना शक्ति, यह सांख्यों का प्रधान नहीं। दे. ब्र. सू. भा. (१-४, ६, ८ तथा ११ और १२)		
रा प्रकृति लगात्मा गदारक अन्तर्यामी अधिभूत अधिदैवत अधियज्ञ अन्तकाले मरणीयो मेव, गी. (८-५) — अपरा प्रकृति ज्योतिः प्रमुखा ते-जोबन्नल-क्षणा त्रि-रूपा भूतग्रा-मयोनिः	यह साख्यों की गुणत्रय वाली प्रकृति नहीं है, दे. ब्र. सू. भा. (१-५-९), पर विश्व की उत्पत्ति स्थिति संहार करने वाली परा देवता होने से गुणत्रयों की भी जननी है. दे. छान्दोग्य उ. अ. ६ गीता (७-१२, १३, १४) तथा (१३-१९)। गीता में इसे 'त्रिगुणात्मिका कहा गया है पर ब्र.सू. भाष्यों के अनुसार व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ 'गुणगर्भा' त्रिगुण प्रसविणी लेना चाहिये, यह त्रिगुण रूपा नहीं हो सकती !		
अजा	यह साख्यों की 'बहु केशा' बकरी नहीं है किन्तु अजायमाना एवं अनादि अक्षर ब्रह्म ही है, दे. ब्र. सू. भाष्य (१-४-१०)		
क्षेत्रज्ञ — क्षेत्र	गीता (१३-४) भाष्य यही दिखा रहा है कि ये दोनों एक ही आत्मरूप हैं		
(इ) विसर्ग	गी. (८-३) यह परब्रह्म का कर्म है।		

कपिलसांख्य शास्त्र के मूर्धन्य पण्डित ईश्वरकृष्ण (जिनका समय पहली शताब्दि या दूसरी शताब्दि का पूर्वार्ध बताया जाता है) ने सांख्य शास्त्र के सिद्धान्तों पर कारिकाएँ रची हैं। उनकी तीसरी कारिका —

। मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्या प्रकृतिविकृतय सप्त
षोडशकस्तु विकारो, न प्रकृति र्न विकृति पुरुष ।

के आधार से सांख्य तत्त्वों के उपर्युक्त विशेष बताये गये हैं।

(अ) निरुपाधिक ब्रह्म है और (इ) अखिल प्रपच है, परन्तु (आ) को ब्रह्मकोटि मे लेना अथवा प्रपंचकोटि में लेना इसमें भारी मतभेद है, जिससे अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हुई हैं। विवागेच दृष्टि से पहला पक्ष ही श्रेष्ठ है, जिसका समर्थन भगवद्गीता मे किया गया है, देखिये अ. १३ श्लोक १९ 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादि उभावपि। (अ) और (आ) दोनों को समानार्थक ब्रह्म माना गया है, इसीको अविभागपरामर्श कहते हैं, ब्रह्म और उसकी शक्ति या स्वभाव मे कोइ भेद नहीं हो सकता।

(३०) परिच्छेद (२) 'अविद्या' के दो अर्थ और उनके सम्मिश्रण से विचित्र परिभ्रम

भगवान् **शंकर** ने अपने ब्रह्मसूत्र (१-४-३) के भाष्य मे अनेक श्रुतियों के आधार से इसी उपर्युक्त दृष्टि को प्रमाणित किया है। उन्होंने बताया है कि अनादि **अविद्या**, परब्रह्म की अव्याकृतरूपा बीजशक्ति है, कोई स्वतन्त्र तत्त्व नहीं हैं, और इसी को **अव्यक्त अक्षर** अथवा **माया** कहते हैं। यदि उसको परमात्मा से भिन्न माना जाय तो सांख्यों का प्रधानकारणवाद अर्थात्, द्वैतवाद आपन्न होता है, जो किसी दृष्टि से **अद्वैतविज्ञान** में मान्य नहीं किया जा सकता। अत ब्रह्मसूत्र भाष्य में ब्रह्मकारणता के प्रतिपादक प्रकरणों में, जहाँ **अविद्या** शब्द का व्यवहार किया गया है वहाँ

ब्रह्म की **स्वभाव** रूपा शक्ति का यही अर्थ है । उदाहरण के लिये देखिये ब्रह्म सूत्र (२-१-१४) का भाष्य जिसमें गीता (५-१४) **'स्वभाव** स्तु प्रवर्तते' का भी हवाला दिया गया है । और गीता भाष्य में 'स्वो भाव स्वभावो **अविद्या** लक्षणा प्रकृतिर्माया प्रवर्तते, दैवी ह्येत्यादिना वक्ष्यमाणा' (गी ७-१२,१३,१४ भाष्य, वैष्णवी माया) ऐसा स्पष्ट बताया गया है । अर्थात यह मूल **माया** या 'इन्द्रो मायाभि पुरु रूप ईयते' (ऋग्वेद ६ ४७-१८) में बताई हुई ऐन्द्रजालिक **माया** भ्रमरूपा नहीं है, परब्रह्म ही है ।

ब्रह्मसूत्र (२-१-२७) के भाष्य में भी बताया गया है कि **'अविद्या** कल्पितेन च नाम रूपलक्षणेन रूपभेदेन ब्रह्म परिणामादि सर्वव्यवहारास्पदत्वं प्रतिपद्यते, पारमार्थिकेन च रूपेण सर्वव्यवहारातीतमपरिणतमेव तिष्ठते, वाचारम्भण-मात्रत्वाच्च अविद्याकल्पितस्य नामरूपभेदस्य-इति न निरवयवत्व ब्रह्मण कुप्यति' । भगवान् **शंकर** के ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर 'अनाद्यविद्याऽनिर्वाच्या कारणोपाधिरुच्यते' इत्यादि बहुत उल्लेख आते हैं, उनका संकेत 'अज्ञान कारणता' या 'भ्रमकारणता की' ओर नहीं है, क्यों कि 'ब्रह्मकारणता सिद्धान्त' तो उनका मौलिक पक्ष है । विवेक चूडामणि' स्तोत्र के श्लोक ११० में –

> **अव्यक्त** नाम्नी **परमेशशक्तिरनाद्य विद्या** त्रिगुणात्मिका या
> कार्यानुमेया सुधियैव **माया** यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते ।

ऐसा इसी ब्रह्म सामर्थ्य का वर्णन किया गया है । अर्थात् वह स्वय भ्रम रूपा नहीं है, भले ही वह इस संसार में अनेक आभासों को उत्पन्न करती हो ।

भगवान् **शंकर** ने इस **'अविद्या'** शब्द का व्यवहार, स्वमन कल्पित नहीं किया है । उपनिषद्काल से ही इस पारमेश्वरी अभिन्न सामर्थ्य को **अविद्या**, **अव्यक्त**, अव्याकृत, अक्षर, माया, प्रकृति, इन नामों से आभिहित करने की परिपाटी चली आ रही है । श्वेताश्वतर उपनिषद, में पहले ही 'किं कारण ब्रह्म', जगत् का कारण होनेवाला ब्रह्मस्वरूप क्या है ? ऐसा प्रश्न

उठाकर 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' ऐसा स्पष्ट उत्तर दिया है। आगे (१-१०) में 'क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानौ ईशते देव एकः' ऐसा कह कर आगे (५-१) में 'द्वे अक्षरे ब्रह्मपरेत्वनन्ते अविद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे क्षरत्वविद्या ह्यमृतन्तु विद्या विद्या विद्ये ईशते यस्तु सोऽन्य' ऐसा विवरण आया है। अर्थात् 'क्ष्यते अनेन इति क्षरम्' इस व्युत्पत्ति से दोनों अक्षरब्रह्मपरक हैं और उसी 'एकमेवाद्वितीय' ब्रह्म के वाचक हैं, यहाँ कोई विभाग की बात नहीं। भाष्य में **अविद्या** संसारहेतु, संसार की सृजनहारी शक्ति और **विद्या** मोक्षहेतु ऐसा प्रतिपादन किया गया है। भगवद्गीता 'द्वाविमौ पुरुषौ' (अ० १५ श्लो० १६) में भी यही अविभागदृष्टि है, अतः जैसे सत्यात्मा, चितिशक्ति, भगवान् नारायण, विष्णु, परमात्मा, या सत्, चित् और आनंद, प्रत्येक शब्द पर ब्रह्म का ही संकेत करता है वैसे ही (अ) और (आ) में निर्दिष्ट प्रत्येक शब्द, भले ही वह **अविद्या** क्षेत्र क्षर हो या साक्षात् परब्रह्म, उत्तम पुरुष को ही बताता है, क्योंकि **अद्वैतविज्ञान**, कारणब्रह्म में कणमात्र भेद नहीं मानता। हाँ, इससे उत्पन्न कार्य प्रपञ्च तो विभिन्न ही है. 'यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्' ऐसा मुण्डक श्रुति (१७) दृष्टान्त देती है। पर इसको भी अद्वैतविज्ञान अपनी रहस्यमयी **सत्कार्यवाद** की परिभाषा से भेद नहीं कहता। '**अनन्यत्व**' कहता है, देखिये आगे प्रकरण (४१) जिसमें पर्याप्त विवेचन किया गया है। श्वे० उ० अ० ६ मन्त्र ६ में 'पराऽस्यशक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' ऐसा वर्णन है। यहाँ स्वाभाविक ज्ञान बल यही 'पुरुष' और स्वाभाविक क्रिया यही 'प्रकृति' है, यह सब एक ही एक है जैसा कि उपर्युक्त अविभागपरामर्श की रीति से बताया गया है। ब्रह्म को हम सच्चिदानन्द कहते हैं, इसमें चिदानन्द 'पुरुष' है और **सत्** शक्ति मानों 'प्रकृति' है। प्रभावशालित्व समझाने के लिये अलग अलग शब्दों का व्यवहार किया गया है, वास्तव में भेद की कोई बात नहीं है।

यही कारण है कि **अद्वैतविज्ञान**, **शक्तिवाद** नहीं है। शाक्त सम्प्रदाय और तुल्यम अन्य सम्प्रदाय परम शिव के अन्दर कुछ अलग सी शक्ति

मानते हैं। शिव तो अविकृत ही रहते हैं पर इस शक्ति का प्रत्यक्ष परिणाम ही जगत् है, ऐसा भेदाभेदवाला इनका सिद्धान्त है। हमारे सिद्धान्त से **सत् रूपा सर्वशक्ति** ही परब्रह्म है जिसमें भेद की बात नहीं, ऐसा कि आरंभ में ही शांकरभाष्य के आधार से बताया गया है, भले ही उसको प्राचीन परिपाटी के अनुसार **अविद्या** कहा गया हो या अन्य संज्ञाएँ दी गयी हों।

'**अविद्या**' शब्द ईशावास्योपनिषद् में भी आया है, 'अविद्यया या मृत्यु तीर्त्वा' ऐसी इसकी महत्ता वहाँ पर बताई गई है। जिसके बल पर मृत्युलोक पर विजय प्राप्त होती है वह **अव्यक्त** अक्षर परब्रह्म ही है दूसरी कोई अब्रह्मरूपा वस्तु नहीं हो सकती। हाँ, इस उपनिषद् में अविद्या का लौकिक अर्थ जीवगत अज्ञान अथवा भ्रान्ति भी बता कर उसकी कड़ी निन्दा की गई है, और **अविद्या** तथा **विद्या** के शास्त्रीय अर्थों की प्रशंसा की गई है। देखिये अन्त में ईशावास्योपनिषद् के दोनों प्रसंग, प्रकरण (६०) खण्ड (१) और (२)

भगवान **शंकर** ने, ठीक इन्हीं प्राचीन अर्थों तथा प्रणाली को स्वीकार किया है। ब्रह्मसूत्र (१-४-३) के अनुसार जब परब्रह्म की स्वरूपभूता बीजशक्ति को ही प्राचीन काल से **अविद्या**, **अव्यक्त** इत्यादि कहते आये हैं, तो इन शब्दों का त्याग आचार्य क्यों करेंगे? अपने भाष्य में उन्होंने स्पष्ट ही बता दिया है कि सांख्यों जैसी यह कोई अलग वस्तु नहीं है और ब्रह्मस्वरूपा होने से भ्रम रूपा भी नहीं है। वह तो हमारे लिए बड़ी उपकारिणी है। हमको जो बड़ा डर है वह जीवगत् अविद्या याने भ्रान्ति से है, यही अनेक अनर्थों की जन्मदात्री है, अर्थात् इसीके पाशों को हमें तोड़ना है। इसकी निर्भर्त्सना तो शांकरग्रन्थों में सैकड़ों जगह की गई है। ब्रह्मसूत्रों का प्रारम्भिक अध्यास भाष्य, जिसमें इसका सजीव और मर्मस्पर्शी चित्रण है, वेदान्त साहित्य में अपना अनन्य साधारण स्थान रखता है। इसमें **शंकर** भगवान् ने अपनी अनुपमेय शैली से बताया है कि मनुष्य कितना अल्पज्ञ और दुर्बल है? वह अज्ञान और विपर्यस्तज्ञानों के भँवर में कैसे आता है, अहंभाव और कामक्रोधादि उन्मादों से कैसे अभिभूत होता है, अपने दोषों को दूसरे के मत्थे

आरोपण कर देता है। दूसरों की विरक्तता को मोहवश अपनी समझ कर विह्वल होता है और इस दुरवस्था को किसी प्रकार सुधारने में अपने को असमर्थ पाता है, एवं जो नहीं होना चाहिए वही हो रहा है। इस लिए भगवान **शंकर** उसको विश्वास दिलाते हैं कि तुम्हारी भ्रान्त धारणाएँ ही तुमको घातक हो रही हैं, वास्तव में देखा जाए तो जीवात्मा भी अपनी निजी योग्यता में **कूटस्थ है** और सम्यग्ज्ञानद्वारा वह मुक्तमुक्त को अवश्य लाभ कर सकता है।

ध्यान में रहे कि प्रथमोक्त अक्षरब्रह्मरूपा अविद्या का भी उल्लेख ब्रह्मसूत्र भाष्य में सैकड़ों स्थलों पर, नामरूपों का व्याकरण करने वाली, उनका प्रत्युपस्थापन करने वाली, नामरूपव्यवहारात्मक संसार की सकल्प से उत्पन्न करने वाली, कहा किया गया है, देखिए ब्र सूत्र अ १ और २। नाम रूपों का व्याकरण, उनको सत्ता और स्फुरण प्रदान करना, यह तो परब्रह्म का ही अद्वितीय सामर्थ्य है। छान्दोग्य श्रुति [अ ६-२, ३ तथा अ ८-१४] साफ बता रही है 'आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता, ते यदन्तरा तद् ब्रह्म'। एवं, इसी अविद्या नामक अक्षरब्रह्म ने अनन्त तेजोगोल सूर्यमण्डल पृथ्वी पर्वत नद नदियाँ प्रत्युपस्थापित की हैं, जो किसी दृष्टि से भ्रम नहीं है, और जो साधारण ज्ञान से तो क्या ब्रह्मज्ञान से भी नष्ट नहीं हो सकती।

पर यह दुःख की बात है कि अनेक पण्डित गण इन दोनों अविद्याओं को एक ही भ्रमरूप समझ चौदह भ्रमवाद के भँवर में जा फँसे हैं, जिससे वेदान्त विचारों में बड़ा कोलाहल मच गया है। अनेक अंग्रेजी शिक्षित सम्भ्रान्त विद्वान भी इसी चक्कर में आ गए हैं। बिना ब्रह्मसूत्रों का मनोयोग के साथ अभ्यास किए वे **शंकर** भगवान् पर अभियोग लगाते हैं कि उनकी युक्तियाँ थोथी रहती हैं, उनका विवरण पूर्वापरों से दूषित एवं विसंगत रहता है, कभी तो वे व्यावहारिकता में परमार्थ में भागते हैं और कभी प्रातिभासिकता का आश्रय लेते हैं! यह सब आरोप और आक्षेप कैसे निर्मूल हैं, इस प्रकरण की आलोचना से प्रेमी पाठकों को विदित हुआ होगा। इनका कारण शाङ्करग्रन्थों के आद्योपान्त अध्ययन का अभाव है, दूसरा कुछ नहीं। इन आक्षेपकों को अपनी अपनी व्यावहारिक व्यस्तता में इतनी फुरसत ही कहाँ थी कि वे शान्ति से ब्रह्मसूत्रभाष्यों का पठन पाठन करते?

विश्वविद्यालयीन परीक्षाओं के लिए शाङ्करवाङ्मय का कुछ विभाग नियत किया जाता है उस अनुषङ्ग में इन लोगों का कुत्सित सा अध्ययन होता है जिससे पर्याप्त लाभ नहीं हो पाता।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि इतना भी गहरा असर बौद्ध विचारों का इस देश पर कैसे रहा होगा ? उत्तर है कि यही जग की रीति है। देखिये न इनके नैरात्म्यवाद का प्रभाव योरप में भी वैसा हुआ, जिसका उल्लेख पीछे पृष्ठ २४ पर किया गया है। ध्यान में रहे कि इनके राज्यशासन इस देश में छ सात शताब्दियों तक अनेक स्थानों पर बने रहे। इन्होंने दैवी सम्पत्ति में बहुत उत्कर्ष प्राप्त कर लिया था। इनकी सत्यनिष्ठा और सद् व्यवहार का प्रभाव सारे देश पर पड़ गया था जिससे, इसमें सन्देह नहीं कि इस देश की संस्कृति की अभिवाञ्छनीय परिपुष्टि ही हो गई। पर उन्होंने जो शमदमादि साधन, ध्यानधारणा असंगत्व वैराग्य त्याग और तपस्या, इत्यादि बातों का अत्यधिक मात्रा में प्रचार और पुरस्कार किया उसके फलस्वरूप समाज की आध्यात्मिक विचारप्रणाली में परिवर्तन हो कर उनके और हमारे सैद्धान्तिक मन्तव्यों में बहुत विभिन्नता उत्पन्न हो गई जो नीचे की सारिणी में कुछ उदाहरणों से स्पष्ट की गई है।

उद्देश्य	बौद्ध विचारों के अनुसार उनके मन्तव्य	सनातन धर्म सिद्धान्त तथा तत्त्व ज्ञान के अनुसार हमारे मन्तव्य
अकर्म अथवा अकर्मण्यता	कर्मों का और व्यवहारों का पूर्ण परित्याग	कर्माभाव नहीं, निःस्वार्थ कर्म, अथवा गुणातीत पुरुषों का कर्म। भगवान् शंकर अपने गीता अ० २ श्लो० १० के भाष्य में अकर्म का उदाहरण देते हैं 'यथा भगवतो वासुदेवस्य क्षत्रधर्मचेष्टितम्' इ०
वैराग्य	जागतिक व्यवहारों से उद्वेग, उनका पूर्ण परित्याग और जगत् को छोड़ दूर भागना	वैराग्यशीलता या व्यवहारातीतता का अर्थ कार्यों अथवा व्यवहारों का अभाव नहीं, तो उपर्युक्त गुणातीतता, प्रभु रामचन्द्रजी अथवा श्री कृष्णचन्द्रजी के समान निस्पृहता
अहिंसा	धर्म अथवा न्याय नीति के विरोध में अथवा किसी भी परिस्थिति में किसी को भी दुःख नहीं पहुँचाना प्रत्युत दुष्टों के अन्तःकरण में दृढ़ परिवर्तन होने तक शान्ति धारण किये बैठना।	जिसमें धर्मरक्षा और दुष्टों का शासन पूर्णतया अहिंसारूप माना गया है। उनके हृदयों का परिवर्तन हुए तक शान्ति से बैठना नहीं।

प्रिय पाठक, अब जरा अपने हृदय को टटोल कर देखिये। क्या हमारे विचारों पर बौद्ध सम्प्रदाय का प्रभाव अब भी नहीं जमा हुआ है? अनन्तानन्दनिलय श्रीकृष्णचन्द्र को क्या हम पूर्ण वैराग्य सम्पन्न

समझते हैं ? यद्यपि हमारा सनातन तत्त्वज्ञान उनको पूर्ण वैराग्य तथा त्याग-सम्पन्न और सोलहो आने निर्गुण असग परब्रह्म ही मानता है, पर हमको कुछ हिचकिचाहट-सी ही होती है। मर्यादा पुरुषोत्तम रघुनन्दन के सम्बन्ध मे भी कतिपय लोगों का दिल यही कहता है कि सीता माता के अपहरण के पश्चात्, काश श्रीरामचन्द्रजी प्रभु एक बड़े वटवृक्ष के तले पूर्ण वैराग्य के साथ अपना आसन जमा देते और स्वसंवेद्य आध्यात्मिक आत्मसन्तुष्टि मे अपनी लीला संवरण कर लेते, तो वैराग्य और अहिंसा का कितना उच्चतम आदर्श वे इस ससार के सम्मुख छोड जाते ? आखिर रावण में भी तो परमात्मा था ही, फिर इतने आक्रन्दन और भीषण हत्याकाण्ड की आवश्यकता ही क्या थी ?

असगोदासीन स्वसंवेद्य आत्मानन्द मे सतृप्त मनुष्य के सम्बन्ध में जब हमारी ऐसी भावना है, तो फिर निष्कल निष्क्रिय निर्गुण निर्धर्मक स्वानन्द तृप्त परब्रह्म, इससे कम तो नहीं हो सकता! अर्थात् इस विराट् विश्व की उत्पत्ति स्थिति संहार की झंझटों तथा उनकी अजस्र घटनाओं के नियन्त्रण प्रशासनादि भारवाही से परब्रह्म को मतलब ही क्या हो सकता है ? तस्मात् ब्रह्मकारणता सिद्धान्त यदि न माना जाय तो अद्वैत विज्ञान को किसी दृष्टि से हानि पहुँचने का कोई डर नहीं है। इस भाँति की विचार धारा का अंगीकार यदि मध्यकालीन या अर्वाचीन पण्डित गण ने किया हो, तो कोई अचरज की बात नहीं है। ऐसी या लगभग इस प्रकार की मनोभूमिका रखनेवाले प्रमुख पण्डितों का निर्देश उपोद्घात प्रकरण मे किया गया है। वास्तव मे देखा जाय तो इनका यह परम कर्तव्य था कि ब्रह्मसूत्रादि ग्रन्थ जिनमें सभी प्रमुख सम्प्रदायों का विमर्श और चर्चा की गई है और मौलिक सिद्धान्त निश्चित किये गए हैं, उनका साद्योपान्त अनुशीलन कर प्राचीन औपनिषदिक प्रणाली से विचलित न होते, पर यह नहीं हुआ। अस्तु

१
२

या हिरण्यगर्भ का भिन्नरूप मान लिया जाय तो भी इन को सत्ता, स्फुरण देना याने अस्तित्व और गुणधर्मों का प्रदान करना, सृष्टि करना ही है। भले ही सेना प्रत्यक्ष लड़े मुख्य कर्तृत्व तो सेनापति का ही होता है। फिर भगवान् स्वयं कहते हैं 'कल्पादौ विसृजाम्यहम् विसृजामि पुनः पुनः' मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्' (गीता अ ९ श्लो ७ ८ और १०) यह कैसे असत्य समझा जाय! इस अनुप्रसंग में गंधर्वराज पुष्पदंत के महिम्न स्तोत्र के एक सुन्दर श्लोक का स्मरण हुए बिना नहीं रहता —

> किमीहः किंकायः स खलु किमुपायस्त्रिभुवनम् ।
> किमाधारो धाता सृजति किमुपादान इति च ॥
> अतर्क्यैश्वर्ये त्वय्यनवसरदुःस्थो हतधियाम् ।
> कुतर्कोऽयं कांश्चिन्मुखरयति मोहाय जगतः ॥

परब्रह्म का कर्तृत्व किया कि अर्वाचीन पण्डितों को माथे में एक ठनक सी पैदा होती है, अपने अद्वैतविज्ञान पर एक कुठाराघात ही हो गया सा उनको प्रतीत होता है! इसका कारण उनकी बुद्धि पर आच्छन्न बौद्ध मतों की घनघटा ही है। वास्तव में देखा जाय तो यह लोग **शून्यब्रह्म** वादी ही हैं, क्यों कि जिस ब्रह्म में कर्तृता या क्रिया का नाम नहीं ज्ञान भी नहीं, (क्यों कि वह भी तो एक क्रिया होती है!) और जिसका त्रिलोक में रत्तमात्र उपयोग नहीं, प्रयोजन नहीं, प्रभाव भी नहीं, वह नहीं के समान नहीं तो क्या? निस्सन्देह, परब्रह्म की कर्तृता के परिचायक, समर्न, असृजत, ऐक्षत, चिन्तित, कृत्वा, अभिवदन् नवना ग्रहीता, द्रष्टा, श्रोता, मन्ता विज्ञाता, करोति, व्याकर्ता, कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्, इत्यादि सैकड़ों शब्द श्रुतियों में उपलब्ध होते हैं, वह क्या बुद्धिहीनों से लिखे गये हैं? कौषीतकी उपनिषद् के अध्यात्म प्रकरण में बालाकि और अजातशत्रु संवाद में 'यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वा एतत्कर्म स वेदितव्यः' ऐसी परब्रह्म की प्रभाव शालिता बताई गई है। इस पुस्तक में पहले ही, याने प्रकरण (२८) में स्पष्ट किया गया है कि 'सत् चित् और आनन्द' इस स्वरूपलक्षण में 'सत्'

का अर्थ अस्मिता मात्र नहीं 'सामर्थ्यरूपता' है और वह भी ऐसी, जो अपनी उपमा त्रिभुवन में नहीं रखती। 'इसलिये न लक्षण की परिभाषा ही एक असाधारणता बनाती है। ज्ञातव्य यह है कि ब्रह्म की सामर्थ्यसत्ता आश्चर्यरूप है, वह ज्ञान के व्यापार के बिना ज्ञातृरूप अवश्य है। क्रिया रूप न होते हुए भी कर्तृरूप अवश्य है। बिना परिच्छिन्न होते हुए ज्ञेय है और निर्गुण होते हुए भी गुणभोक्ता अर्थात् सर्वज्ञ है। संक्षेपतः "श्रुत्यव गाह्यमेवेदमतिगम्भीर ब्रह्म न तर्कावगाह्यम्" (ब्र सू भाष्य २-१-३१) भगवान् शंकर के इस कथन में निगूढ़ अर्थ भरा हुआ है।

अकर्तृब्रह्मवाद के अभिमानी पण्डितों से सम्भाषण और चर्चा कभी कभी बड़ी कौतूहल जनक और विचार प्रवर्तक होती है। ब्रह्मकारणता के सिद्धान्त पर ये पण्डितगण अपनी कल्पित दार्शनिकता की दृष्टि से एक विचित्र मनोमुग्धकर आपत्ति किया करते हैं, जिसकी यहाँ पर आलोचना करना उचित होगा। वे कहते हैं कि 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् तदैक्षत बहु स्याम्' (छा ६-२) इत्यादि श्रुतियों का प्रतिपादन द्वैतभूमिका वाला है, जैसा कि 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतर पश्यति' इस बृहदारण्यक (४-५-१५) श्रुति में बताया गया है। अर्थात् ये सब भ्रान्त कल्प बातें हैं, और भगवान् शङ्कराचार्य की भी यही सम्मति है। यह सुन कर तत्त्व जिज्ञासु पाठक चकित रह जाएँगे। श्रीशङ्कराचार्य श्रुतिवचनों के श्रद्धापूर्ण अभिमानी हैं। वे उद्धृत श्रुतिवचनों को भ्रान्तभूमिका वाले कैसे मानते? उन पर और श्रुति वचनों पर ऐसे अर्थहीन आरोप मढ़ देना मानों अपने ही अगाढ़ अज्ञान का परिचय देना है।

प्रिय पाठक, इससे शेष नहीं हुआ। श्री भगवद्गीता में भी ब्रह्म विषयक यथार्थ ज्ञान तथा ब्रह्मकारणता सिद्धान्त स्पष्ट शब्दों में भूरिशः बताया गया है। उदाहरण के लिए देखिए 'कल्पादौ विसृजाम्यहम् (गी ९-१०), विसृजामि पुनः पुनः (गी ९-८), तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च (गी ९-१९), मां शरणं व्रज, भक्त्या मामभिजानाति, ततो मां

ज्ञात्वा (गी १८–५५) मत्त परतरनान्यत् (गी ७–७), यस्मात्क्षरमतीतोऽहम् (गी १५–१८) इत्यादि। इन पर भी इन पण्डितो का अध्यारोप है कि यह सब वचन 'द्वैत भूमिका' वाले हैं–अर्थात् गप्प हैं, हमारा ऊँचा सिद्धान्त **अजातवाद** का है, जिसमे जगत् है ही नहीं, फिर वेद और *भगवद्गीता और श्रीकृष्ण भगवान आप कहा के लिये बैठे हैं?*

इस सम्बन्धहीन भाषण का औचित्य तो दूर पर अर्थ भी ज्ञात होना दुर्घट है! क्या श्रीरामचन्द्र प्रभु का अवतार, उनकी आदर्श जीवनी, श्रीवसिष्ठजी के द्वारा उनको ब्रह्मविद्या के सबन्ध में किया हुआ उपदेश, इत्यादि नानाविध अनन्त घटनाएँ हुई ही नहीं? इस प्रकार बहुविध प्रतिवाद करने पर उत्तर मे इन पण्डितों का प्रतिपादन होता है कि यह सब द्वैतभूमिका वाली अलीक बातें हैं अर्थात श्रुतिवचन और भगवद्गीता का प्रतिपादन पारमार्थिक सत्य नहीं है।

प्रिय पाठक विचार कर सकते हैं कि यह कैसी विचित्र बात है? 'द्वैत भूमिकावाले वचन' का अर्थ ही 'द्वैत सत्यत्व भूमिकावाले वचन' होना है। ऐसे वचन अद्वैत शास्त्रों मे आ ही नहीं सकते, क्योंकि इन शास्त्रकारों की ऐसी द्वैत-सत्यत्व वाली भूमिका कदापि नहीं रहती, भले ही वे कम भक्ति उपासना, या व्यवहार की चर्चा करें पर उनकी 'द्वैतसत्यत्व' की भूमिका नहीं होती। जैसे **'अकर्म'** का अर्थ कर्माभाव नहीं है वैसे अद्वैत का अर्थ द्वैताभाव नहीं, द्वैत–सत्यत्व बुद्धि का अभाव है। शब्दों के केवल अभिधेय अर्थों को लेकर उनके आधार पर ही स्वार्थ करने की चेष्टा से तत्त्वविज्ञान नहीं बनता।

अब देखिये 'परमार्थ सत्य' की व्याख्या ही यह है कि जो बोध या उपदेश, ब्रह्म के विषय मे अथवा ब्रह्मज्ञान के सम्बन्ध में श्रुतिमाता ने या प्रस्थानत्रयी में किया गया है और जो किसी काल में झूठा नहीं सिद्ध किया जा सकता, चाहे कितने ही जगदन्त पाती शब्दों से किया गया हो, परमार्थ सत्य है। इन भद्र पुरुषों को भी यह सिद्धान्त मान्य है, क्योंकि

वे अपनी धारणा के अनुसार जो स्वकपोलकल्पित ऊँचा रहस्य हमें बताने की चेष्टा कर रहे हैं, वह भी तो जगदन्तःपाती शब्दों से ही हो रही है। तो फिर अपने वचन तो पारमार्थिक हैं और श्रुति का ब्रह्म सबन्धी वचन भ्रान्त है, यह युक्ति तो भोलेपन की हद करती है। अपने को जो अनुकूल लगता है, उसीको परमार्थ सत्य कह देना, और जिसका समन्वय अथवा तात्पर्य अपनी समझ में नहीं आता, उसको 'द्वैत भूमिका' वाला एव भ्रान्त कह देना तो मनचाही बात है। कर्मकांड वाली श्रुतियाँ द्वैतभूमिका वाली हैं यह नहीं कहा जा सकता। यदि कोई कुछ का कुछ मान ले तो उसका क्या इलाज? द्वैतभाषा का व्यवहार 'द्वैतसत्यत्व भूमिका' वाला ही रहता है। यह कल्पना नितान्त अनुचित है। फलत ज्ञानकांड की श्रुतियाँ जिनमें ब्रह्म अथवा ब्रह्मज्ञान के सम्बन्ध में विवरण दिया गया है वे पारमार्थिक सत्य हैं। यही न्याय इतर प्रमाण ग्रन्थों के वचनों में भी उपपन्न होता है। '**ब्रह्मसत्यं, जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापर**' यह तीनों सिद्धान्त पारमार्थिक सत्य हैं भले ही उनमें बताया हुआ जगत् अब्रह्मरूप या आगमापायी हो। एव ब्रह्म का तटस्थलक्षण भी पारमार्थिक सत्य है इस कारण, कि उसमें परब्रह्म के सृष्टि कर्तृत्व सामर्थ्य का स्पष्टतया बोध कराया गया है जिसको किसी काल में असत्य नहीं सिद्ध किया जा सकता। इसी प्रकार 'यो बुद्धे परतस्तु स' यह विधान पारमार्थिक सत्य है, सब महावाक्य और अवान्तर वाक्य पारमार्थिक सत्य हैं। परब्रह्म का वर्णन चाहे किसी देश में या काल में या वाणी में किया गया हो वह कभी असत्य नहीं कहा जाता, और ऐसे शतश वर्णन हों तो भी 'ब्रह्म के एकमेवाद्वितीयत्व में कोई हानि नहीं पहुँचती, क्योंकि यह एक ही ब्रह्म वस्तु के अनेकों दृष्टिकोणों से दर्शन होते हैं, जो नितान्त सत्य हैं। **अद्वैत सिद्धान्त** का अभिप्रेत तो लक्ष्य वस्तु की एकता का है, वर्णनों की, लक्षणों की, या पहलुओं की एकता का नहीं। 'सत्य ज्ञानमनतमानंद ब्रह्म' इसमें चारों विशेषण परमार्थ सत्य हैं, इससे ब्रह्मवस्तु की एकता में कण मात्र भेद नहीं होता। एव भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने अपनी अमर वाणी से परब्रह्म के विषय में जो जो बोध किये हैं, वे सब परमार्थ सत्य हैं, किसी भी परिस्थिति में उन्हें ठेस नहीं पहुँच सकती।

परन्तु इस सम्बन्ध में मजे की बात तो और आगे है। इन पण्डितों का जो वक्तव्य है कि श्रीकृष्णभगवान् के वचन पारमार्थिक सत्य नहीं हैं व्यावहारिक सत्य हैं, इस प्रतिज्ञा पर भी तो इनका विश्वास नहीं है! देखिये न, यदि कोई कहे कि पाँच और पाँच दस होते हैं, तो वह व्यावहारिक सत्य है, पर यदि कोइ कहे कि पाँच और पाँच छप्पन होते हैं तो वह व्यावहारिक सत्य नहीं होता। अत इन पण्डितों की बुद्धि से जब परब्रह्म सृष्टि करता ही नहीं, तो श्रीकृष्ण भगवान् का यह वचन कि 'मैं सृष्टिस्थितिलय करने वाला परब्रह्म हू और मेरे से परे वाली वस्तु ही नहीं है' इनका परब्रह्म नहीं कह सकता, अत वह व्यवहार और परमार्थ दोनों दृष्टि से अलीक है, और यही तो इन पण्डितों के दिल की बात है, पर इसे स्पष्ट रूप से कहने में ये लोग सकोच सा अनुभव कर रहे हैं! अब इससे और एक विचित्र बात निकल आती है, कि ऐसी ऊटपटाग बातें करने वाले योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण सम्यग्ज्ञानी नहीं हो सकते? इस पर क्या कहें कुछ समझ में नहा आता देखिये यह कैसा निविड अविद्यारण्य है? अस्तु।

| अज शाश्वत कारण कारणानां शिव केवल भासक भासकानाम्
तुरीय तम पारमायतहीन प्रपद्ये पर पावन द्वैतहीनम्॥ १६
(श्रीमच्छकराचार्यकृत वेदसार शिवस्तोत्र)

(३२) ब्रह्मकारणता सिद्धान्त और विचारसागर ग्रन्थ *

परब्रह्म के सृष्टिस्थितिलयकर्तृत्व के सम्बन्ध में विचारसागर ग्रन्थ में जो प्रतिपादन किया गया है उसका तात्पर्य निम्न में बताया गया है। ग्रन्थगत प्रमाणअक तथा पृष्ठाक कोष्टक में दिखाए गए हैं।

* इस पुस्तक के प्रकाशन के पहले लगभग सवा वर्ष, यह प्रकरण स्वतन्त्र रूप से छपवा कर वेदान्त प्रेमी मित्रों की सेवा मे विमर्श के उद्देश्य से

(१) ब्रह्म चैतन्य सृष्टि करे नहीं, केवल सत्तास्फुरण देवे है। चिदाभास ही सृष्टि करे है। $\frac{(१७१)}{(९४)}$

(२) असग अक्रिय शुद्ध ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति होवें नहीं माया-विशिष्ट ईश्वरही सृष्टि करे है। $\frac{(२४१)}{(१४३)}$

(३) शुद्धचेतन असग है अक्रिय है निर्विकार है। तातें माया की उत्पत्ति माने, विकारी होवेगा। और शुद्धचेतनसे माया की उत्पत्ति होवे तो मोक्षदशा विषे माया फिर उपजेगी, यातें मोक्षनिमित्त साधन निष्फल होवेंगे। $\frac{(२४२)}{(१४४)}$

(४) जगत् का उपादान और निमित्त दोनू प्रकारतें ईश्वर ही कारण है याने ईश्वर की माया जगत् का उपादान है और चेतन भाग निमित्त कारण है। $\frac{(२४९)}{(१४८)}$ यहा नीचे टिप्पणी में शुद्धचेतन कारण नहीं माया सहित चेतन भाग निमित्तकारण है ऐसा बताया गया है। $\frac{(२९७ टि)}{(१४८)}$

(५) असग अद्वितीय ब्रह्म में इच्छादिक दुर्घट है, तिनकू करे है, याने माया, सामग्री बिना पदार्थ की उत्पत्ति करे है। $\frac{(२७९)}{(१६८)}$

(पूर्वपृष्ठ से अनुवृत्त)

भिजवा दिया गया था। इस देश के बहुत वेदान्त अभ्यासक 'विचारसागर' ग्रन्थ पढते हैं, बहुत भाषाओं में उसका अनुवाद भी हो गया है। अत इस छोटे निबन्ध को कुछ थोड़े स्थलों में परिमार्जित कर इस पुस्तक में स्थान दिया जाता है। जो कुछ पुनरावृत्ति रह जाएगी प्रिय पाठक कृपया क्षमा करें।

(६) परमात्मा कारणतादिक धर्म रहित असग है। तानी कारणता प्रपच विषै है नहीं। (३२२)/(१९८)

(७) प्रधानरूप मायाकरि विशिष्टचेतन अन्तर्यामी इश्वर है, सोइ जगत् का कर्त्ता है। (३९० टि)/(२१८)

(८) जगत् का कर्त्ता इश्वर अर्थात् मायायुक्त चेतन है। (३७०)/(२३१)

इसके विरोधी प्रतिपादन निम्नस्थलों में आये हैं —

(९) ऊपर अक २ का पक्ष अज्ञजनोंका है, यहाँ शास्त्रकारोंने अविवेकी जनोंकी दृष्टिसे अनुवाद मात्र किया है। विवेकी पुरुषों का पक्ष यह है ऐसा स्पष्ट लिखा है —

(अ) जगत् का परिणामी उपादान, माया है।

(आ) जगत् का विवर्त उपादान मायाउपहित चेतन है। (२९० टि)/(१४३)

(१०) इससे सिद्ध है कि ऊपर अक २, ४, ५, ७ और ८ एव जहाँ जहाँ माया सहित अथवा मायाविशिष्ट चेतनकी कारणता बताइ गई है वह सब पक्ष अज्ञ जनोके हैं। विवेकी जनोंकी दृष्टिसे "माया उपहित चेतन" हा कारण है, और यही साक्षी पदका लक्ष्य, अर्थात् शुद्ध चैतन्य है। देखिये विचारचन्द्रोदय अक १४९ टि। इतर पक्ष याने १, ३, और ६ इनका विचार आगे किया गया है।

(११) विचारसागर के आरंभ में "वस्तुनिर्देशरूप मगलकी टीका" है,

उसकी टिप्पणियों में स्पष्ट बताया गया है कि आधार ही अधिष्ठान एव विवर्तोपादन शुद्ध ब्रह्म है।

(१०) "आत्मन सर्वाधिष्ठानत्वं नाम अध्यस्तस्य सत्तास्फूर्तिप्रदत्वम्" ऐसी **अधिष्ठान** शब्दकी सर्वमान्य व्याख्या है (देखिये पण्डित प्रकाशानन्द कृत "सिद्धान्त मुक्तावली" श्लोक २५ की टिप्पणी) सत्ता=अस्तित्व और स्फूर्ति=स्फुरण=कार्यकारिता = गुणधर्म। अग्नि को अस्तित्व और गुणधर्म याने उष्णता और प्रकाशत्व देना, परमात्मा परब्रह्म ही कर सकता है। दूसरे किसी में यह सामर्थ्य नहीं 'अग्नि' यह नाम और उसका रूप–गुणधर्म यही तो 'नामरूपों का व्याकरण' है जो श्रुति ने बताया है। विचारसागर ग्रन्थ में सत्तास्फुरण देना शुद्धचैतन्य का अद्वितीय ऐश्वर्य माना गया है। देखिये। (१७६)/(९४) (२४६)/(१४६) (२५३)/(१५०) (२०२ ७)/(३६४) एव **अधिष्ठान** शब्द का अर्थ उत्पत्तिस्थितिलय करनेवाला कारण है और वह सदा अविकृत रहने से विवर्तोपादान सिद्ध होता है।

कई पण्डितों का यह कहना है कि ब्रह्म में **सत्तास्फूर्ति** प्रदत्व नहीं, पर उससे पदार्थों को सत्ता और स्फुरण मिल जाते हैं। यह तो अर्थ के अनर्थ की बात होती है। फिर 'प्रदत्व' पद का प्रयोग क्यों किया गया? बात यह है कि ब्रह्म की सत्ता और स्फुरण कोई जड़ पदार्थ या रुपया टका नहीं है, जिसे कोई भी उठाले जावे और उसकी ब्रह्म को खबर तक न हो जैसा कई पण्डित मान रहे हैं। इन पण्डितों को यह डर लगा हुआ है कि ब्रह्म मे 'प्रदत्व' मान लेने से वह भ्रष्ट हो जाएगा।

(११) विचारसागर ग्रन्थ में 'उत्पत्तिस्थिति और लय करनेवाला कारण सो उपादान कारण यह भी उपादान का लक्षण है' ऐसा लिखा गया है। (२९४)/(१४७)

(१४) इस विषय पर विचारसागर ग्रन्थ के १४० से १५१ तक के अंक मनोनिवेशपूर्वक पढ़ने योग्य हैं। इनमें बताया गया है कि रज्जुसर्प के दृष्टांत में आधार अधिष्ठान और द्रष्टा, अलग अलग होते हैं, किन्तु जगत् के सम्बन्ध में यह सब एक ही शुद्धब्रह्म है, और वह तो कभी भ्रान्त है नहीं। अर्थात् जैसे स्वप्न का अभिन्नोपादानकारण साक्षी चैतन्य है वैसे सर्व सृष्टि का अभिन्नोपादानकारण साक्षी याने शुद्ध चैतन्य है। इसीलिए 'सिद्धान्त मत मे सारे कल्पित का अधिष्ठान ही द्रष्टा (साक्षी चैतन्य) है, ऐसा अंक १५१ में व्यक्त रूपसे बताया गया है। ब्रह्म का साक्षित्व निम्न स्थलों में दिखाया गया है — जगत् (१४९)/(८२) (१००)/(८३), स्वप्न (१०२)/(८३) (३४९ टि)/(१०१), जीव (१६५)/(९०), अज्ञान (८५)/(५०) (२४६)/(१४६), माया (२८२)/(१४२) (२४६)/(१४६) (२४७)/(१४६) (२५३)/(१००) (२०२ ब)/(३६४), प्रपच माया अविद्या और ईश्वर (१६४)/(९०) (३६५)/(२२८)

(१५) रज्जुसर्प दृष्टान्त म यह माना गया है कि रज्जू का जो 'इदम्' रूप है वही 'आधार' है और 'अधिष्ठान' प्रतिउपहित चेतन द्रष्टा है। परन्तु जगत् के सम्बन्ध में ब्रह्म के अन्दर कोई भी दृश्यधर्मवाली अथवा ज्ञेयताधर्म-वाली मूर्तामूर्त वस्तु है नहीं जो इस विराट दृश्यससार का 'इदकार' रूप आधार बन सके। इसी दृष्टि से अङ्क १५१ में तथा इस ग्रन्थ की उपर्युक्त मर्मटीका में 'जो सुख नित्य प्रकाश विभु' याने परब्रह्म को ही अधिष्ठान, आधार, द्रष्टा और विवर्तोपादान कारण मान्य किया गया है। अर्थात् ब्रह्म की विवर्तकार-णता निश्चष्ट रज्जुवाली नहीं अपितु अधिष्ठान रूप याने सृष्टि के उत्पत्तिस्थिति लय करते हुए भी पूर्ण अविकारिता रूप है।

(१६) सारे पदार्थ चेतन का विवर्त है। देखिये अङ्क (३२४)/(१९९) इस का भी अभिप्राय शुद्धचैतन्य के द्वारा उत्पन्न किये हुए ज्ञानरूप और दृश्य-

रूप विवर्त है यही हो सकता है क्योंकि चैतन्य तो कोई समुद्र जैसी द्रव्य-रूप वस्तु नहीं है जिसमें उच्चावच लहरें बन सकें। कोई दूसरी शक्ति या अज्ञान भी चैतन्य का विवर्त बना नहीं सकता। अतः निरवयव ब्रह्म ही अपनी लीला से दृश्यरूप पदार्थ उत्पन्न करता है, इस लीला का नाम ही माया है। देखिये अङ्क (२७९)/(१६७) और (३१७)/(१६८)। वेदान्तसूत्र २-१-२५ के भाष्य में श्रीशङ्कराचार्य स्पष्ट लिखते हैं 'एवं चेतनमपि ब्रह्म अनपेक्ष्य बाह्यसाधनं स्वत एव जगत्स्रक्ष्यति

(१७) "मायाविशिष्ट चेतन" कारणब्रह्म है। उसीकी उपासना सकल पुराणों का अभिप्राय है, और सारे वेदान्त का सिद्धान्त है ऐसा अङ्क (५१७)/(३०३) में स्पष्ट किया गया है। परन्तु पहले ही बताया गया है कि मायाविशिष्ट चेतन की कारणता अज्ञजनों का पक्ष है जिसका शास्त्रकारोंने अनुवादमात्र किया है और सच्ची कारणता मायाउपहित चेतन में ही है, देखिये ऊपर अङ्क (०) अतः यही उपास्य है। फिर भी 'उपहित" शब्द, स्वयं ही अनुपहित एवं शुद्ध का संकेत रखता है, क्योंकि उपाधिधर्म उसमें जाते ही नहीं, देखिये विचार सागर अङ्क ७२, २०१ और ३०३। अतः शुद्ध ब्रह्म ही उपास्य है और ज्ञेय है, ब्रह्मसूत्र दहराधिकरण (अ १ पा ३ सूत्र १४ से २१ तक) के भाष्य में भी यही प्रतिपादन किया गया है।

(१८) इस सम्बन्ध में एक भारी पहेली उपस्थित होती है कि विचारसागर ग्रन्थ में जब अनेक स्थानों पर शुद्धब्रह्म की कारणता ही *अस्वीकार की गई है, और माया उपहित चेतन में ही कारणता बताई गई है,* तो फिर इन दोनों में कुछ भेद सा होना आवश्यक है। उत्तर यह है कि ऐसी भेद की कल्पना ही अनुचित है देखिये प्रकरण (०) पृष्ठ ५७। परब्रह्म में तनिक भी भेद नहीं हो सकता।

यहां पर ज्ञातव्य यह है कि शुद्ध ब्रह्म असंग है, निष्क्रिय है उसमें कारणता है नहीं, इसका अर्थ यह है कि जगत् में जैसी क्रियारूप या विका

रिताल्प कारणता देखी जाती है, वैसी कारणता ब्रह्ममें नहीं है । अनिर्वचनीय कारणता अवश्य है, मात्र उसका परिचय बिना उसके आविष्कार के जगत् में नहीं दिखाई देता । देखिये न, शुद्ध ब्रह्म में कारणता दिखती नहीं, जड़ में तो होना असम्भव है । अशुद्ध ब्रह्म में है-यह भी कहते नहीं बनता, क्योंकि ब्रह्म, अशुद्ध कदापि होता ही नहीं । परिछेदत माया उपहित चेतन की कारणता है ऐसा कहा जाता है । परन्तु उपाधि जड़ है और उसका उपसर्ग ब्रह्म को पहुचता ही नहीं, एव सच्ची कारणता शुद्ध ब्रह्म की ही है यही निष्कर्ष सिद्धान्त दृष्टि से अनिवार्य है ।

कई पण्डितों का यह कहना है कि 'मायाउपहित चेतन' इन शब्दों का अर्थ *'चैतन्य प्रेरणाविहीन माया'* ही समझना चाहिये, क्योंकि चैतन्य में प्रेरणा और स्फुरण है नहीं, उसको माया की खबर तक नहीं, अर्थात् स्फुरण देना लेना यह क्रियाएँ चेतन में असम्भव हैं, माया का विजृम्भण या स्फुरण तो उसका निजी स्वभाव है, चेतन का उससे कोई सम्बन्ध ही नहीं । यह पक्ष तो सांख्यों से भी निकृष्ट, चार्वाकों जैसा जड़वाद होता है, जो निम्न लिखित कारणों से स्वीकार नहीं हो सकता ।

(१) माया उपहित चेतन का 'चैतन्य प्रेरणाविहीन माया' ऐसा उलटा अर्थ लगाना व्याकरण और समास शास्त्र के विरुद्ध है ।

(२) 'उपाधि' शब्द की जो पारिभाषिक व्याख्या है (देखिये ऊपर अंक १७) उसके विरुद्ध है ।

(३) 'सत्तास्फूर्ति प्रदत्व' के सिद्धान्त के भी विरुद्ध है, श्रुति स्मृति वचनों के विरुद्ध है । और तो क्या, हमारा जो महत्तापूर्ण गायत्री मन्त्र है और जो 'धियो यो न प्रचोदयात्' ऐसा स्पष्टतया बता रहा है, उसके भी विरुद्ध है ।

(४) 'जो शुद्ध, नित्य, प्रकाश, विभु' इस मंगल टीका के विरुद्ध है ।

(१) गंधे-मादे तारतम्य दृष्टि से भी विरुद्ध है। चैतन्य के ज्ञान और सामर्थ्य की प्रभाविता, निगोद में कहीं नहीं है यह कहना तो नितान्त हास्य जनक है।

(१) जड और चेतन के संयोग में सृष्टि की कारणता है, यह भी नहीं कहते बनता; क्योंकि यहाँ तो प्रश्न यह है कि पहले जड उत्पन्न ही कैसे हुआ ? अत चैतन्य की कारणता माननी ही पडती है। जड का कारण जड है, यह कहना तो असम्भावना और अनवस्था इन दो दोषों से व्याप्त है।

(१८) कई लोग समझते हैं कि शुद्धसाक्षी को ज्ञान ही नहीं है, क्योंकि ज्ञान, अन्त करण की उपाधि से ही होता है। यह तो अजब सिद्धान्त है ' सच्चा ज्ञान तो साक्षी का ही है। आपको, हमको अन्त करण की वृत्तियों द्वारा होनेवाला ज्ञान, जागतिक है, पर उसको भी जाननेवाला तथा सत्ता देनेवाला निरपेक्ष ज्ञान साक्षी का है और चिति स्वरूप है (देखिये विचारसागर ७८ टि)

(२०) कई वेदान्त के अभ्यासक मान्यता लिये बैठे हैं कि यह जगत् न पहले था न आज है और न आगे रहेगा ! विडम्बना तो यह है कि उक्त आघोषणा डंके की चोट की जाती है, यह कहते हुए कि यही हमारा सर्वोच्च 'अजातवाद' का सिद्धान्त है, और जब पूछा जाता है कि यह कौनसा जगत् है, तो उत्तर मिलता है कि यही दृश्य मान जगत् जो पर ब्रह्म के अन्दर नहीं है। यह तो और आश्चर्य की बात है ! ब्रह्म तो दस पाँच है नहीं अत ब्रह्म मे यहाँ वहाँ की बात है नहीं 'यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह' (कठ ४-१०) जो है वह अद्वितीय ब्रह्मसत्ता के अन्दर है, और जो नहीं है, वह भी उसी के अन्दर की बात है। हाँ, जगत् पारमार्थिक सत्तावाला नहीं है यह कहना तो ठीक है, परन्तु वह है ही नहीं या हुआ ही नहीं यह कैसे माना जाय ? इस पर हृदय के अन्दर की बात बनाई जाती है, कि सुषुप्ति के अनुभव को ब्रह्मानुभव शास्त्रकारोंने ही बताया है, और वहाँ तो पारमार्थिक या अपारमार्थिक कोई जगत् है ही नहीं। यह तो अर्थ के अनर्थ की बात है। छांदोग्य श्रुति साफ बता रही है 'सति

संपद्य न विदुः सति सम्पद्या मह इति' (छा. ६-९-१)। यहां सुषुप्ति में केवल स्थूल भाव की ब्रह्मसम्पत्ति दृष्टान्त के लिए बताई गई है और, आगे चल कर इस विश्व का मूल कारण ब्रह्म है-यहीं सिद्धान्त निश्चित किया गया है। सुषुप्ति में जैसे बाहर का ज्ञान नहीं है वैसे ही अन्दर का भी नहीं है, सत्सम्पत्ति का ज्ञान भी नहीं है, प्रत्युत अब हम ब्रह्म में लीन होनेवाले हैं यह भी ज्ञान नहीं है। यहाँ तो निरा अज्ञान है, इसको भला ब्रह्मज्ञान कैसे कहा जा सकता है? दृष्टांत केवल विक्षेपराहित्य और समाधान के अंश तक ही सीमित है। ब्रह्म-विद्या, निद्रा में पाने की वस्तु नहीं है। वह तो जाग्रत् दशा में ही निष्प्रत्यूह उपलब्ध होनेवाली सिद्धि है, उसको जगत् से कोई डर नहीं है। तेजस्विता तथा निर्भीकता उसके सोज्वल रूप हैं। महाशन महपाप्मा जो कामक्रोधादि उन्माद हैं उनकी वह प्रबल संहारिणी है, परन्तु तदितरों का नाश उसका मन्तव्य नहीं है। ज्ञानी पुरुष को यह जगत् 'अवभास्यमानं प्रज्ञानैश्च विज्ञानज्योतिष्मत्सद्-विभ्रंशद्वर्तते' ऐसा आचार्य बृहदारण्यक (४-७) श्रुति के भाष्य में, जहाँ सुषुप्ति विषय की सुचारु रूप से चर्चा की गई है, स्पष्टता से बताते हैं। जगत् दिखने का जिसे भय लगा है वह ज्ञानी नहीं है; त्रिलोक में एक भी तपःपूत ज्ञानी ऐसा नहीं हो सकता जो जगत् हुआ ही नहीं ऐसी वदतो व्याघात वाली बात करे। जिसने अनेक जन्मों से ब्रह्मविद्या की उपासना और साधना की है और जो 'अहं मनुरभवं सूर्यश्च' (बृ १-४-१०) इत्यादि घोषणा कर रहा है वह महर्षि वामदेव, जगत् के अस्तित्व को कैसे अस्वीकार करेगा? श्रीकृष्ण भगवान् मुक्त ही थे और उनको भी जगत् था ही; ईश्वर तो सदा मुक्त है, उसको जगत् नहीं है ऐसी बात नहीं।

(२१) बहुत से अर्वाचीन ग्रन्थों में 'सृष्टिश्रुतियों का सृष्टि के कथन में तात्पर्य नहीं है, और सृष्टि पारमार्थिक नहीं है' ऐसा प्रतिपादन किया हुआ रहता है। परन्तु इसके आशय के समझने में बड़ी पहेलियाँ उत्पन्न होती हैं। इनमें जो संस्कृत भाषा का 'तात्पर्य' शब्द आया है, उसका अर्थ तत्परता, अभीष्टता तथा प्रयोजन है। सृष्टि कब हुई कैसे हुई पंचमहाभूतादि की उत्पत्ति का क्या क्रम रहा। इत्यादि वृत्तान्तों का वर्णन करने में सृष्टि श्रुति का प्रयोजन

नहीं है, किन्तु जिससे पदार्थ उपजे हैं उसका निस्सन्दिग्ध ज्ञान प्राप्त करलो यह उपदेश है। पण्डित निश्चलदासजी अपने विचारसागर के अङ्क ३२७ में लिखते हैं 'श्रुतिविषै जो क्रमतें सृष्टि कही है, तहां सृष्टि प्रतिपादन में श्रुति का अभिप्राय नहीं किन्तु अद्वैतबोधन में अभिप्राय है। सारे पदार्थ परमात्मा से उपजे हैं याते तासे विवर्त हैं, जो जाका विवर्त होवे सो ताका ही स्वरूप होवे है। याते सारा नामरूप ब्रह्म तें पृथक नहीं, ब्रह्म ही है इस अर्थ का बोधन करने कूं सृष्टि कही है। सृष्टि का और प्रयोजन नहीं'।

यदि पण्डित महाशयजी का यह अभिमत रहता कि सारे पदार्थ परमात्मा से उपजे ही नहीं, तो फिर वे ऊपर के रेखाङ्कित शब्दों का उपयोग नहीं करते। रज्जुसर्प के दृष्टांत में रज्जु के विवर्त रूप से सर्प नहीं उत्पन्न हुआ यह कल्पना ठीक है, परंतु जगत् रूप विवर्त के सम्बन्ध में **विवर्तो**पादान अर्थात विवर्तों को उपजानेवाला कारण शुद्धब्रह्म है, यह ऊपर अनेक प्रमाणों से दर्शाया गया है।

एवं सृष्टि हुई ही नहीं, अथवा परब्रह्मने उत्पन्न की नहीं ऐसा सृष्टि-श्रुति का अर्थ हो नहीं सकता।

(४२) ब्रह्मकारणतासिद्धान्त पर सबसे बड़ी जो आपत्ति की जाती है, कि नित्य शुद्धबुद्धमुक्त असंग अक्रिय अवाप्तकाम परब्रह्म को ऐसे विराट उथल-पुथल तथा अनेक उत्पातों से भरे हुए ससार को उत्पन्न करने में और कर्मफल विपाकों के महान् झंझटों में संलग्न रहते रहने की आवश्यकता ही क्या थी और है? अर्थात् इस प्रपंच का मूल कारण **अज्ञान** ही हो सकता है जिसका हमको नित्यश: अनुभव हो रहा है। इस आकाशकुसुम परिकल्पना का आविष्कार, कहा जाता है कि प्रथम, बौद्धसाम्प्रदायिक उद्भट विद्वान नागार्जुनने, ईसा की दूसरी शताब्दि के अन्त में किया, जिस के चक्कर में हमारे पण्डितगण भी आ गए। इस विचित्र भ्रान्ति का निराकरण आगे प्रकरण (४५) में किया जायगा।

हमारा प्राचीन आर्य सिद्धान्त साफ बता रहा है 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति' (तैत्तिरीयोपनिषद् भृगुवल्ली अनुवाक ६)। परन्तु यह और ऐसे अत्युच्च सिद्धान्त प्रस्तुत करनेवाली शतशः श्रुतियों का इन पण्डितों ने अविचित्कर और व्यर्थ कर रखा है। ब्रह्मकारणता का विषय बड़ा मनोमुग्धकर और गंभीर है जिसपर हमारे धर्म के अनेक नामी ग्रन्थ लिखे गये हैं। श्रीमद्भागवतादि पुराणों में इसकी रहस्यमयादि चर्चा की गई है, परन्तु दिग्भ्रान्तता का क्या उपाय हो सकता है? या देखा जाय तो सिद्धान्त अति सरल सुगम और सुबोध है, थोड़े ही विमर्श से उसकी कथंचित झांकी कराई जा सकती है। एक छोटा सा फल फूल या पत्ता लीजिये और उसे सूक्ष्मतया देखिये, क्या क्या गूढ़ और अद्भुत बात उसमें आपको दीख पड़ेंगी, क्या क्या सुन्दररचनाबद्ध आकृतियां, क्या क्या मनोहर वर्ण और वर्णच्छटाएँ सुचारु रूप से बिखरी हुई आपको दिखाई देंगी। जहां तहां आपको मानो सौन्दर्यसरस्वती के कोमल हस्तकमलों का परिचय होगा। नजर उठाकर ऊपर देखिये, सूर्य देवता दिगन्त को कैसे उद्भासित कर रहे हैं और उनकी रश्मियां कितनी महत्ता रखती हैं? एक ही बात को देखिये, शास्त्रज्ञों ने सिद्ध किया है कि प्रकाश की किरणें एक सेकण्ड में १,८६,००० मील जा पहुँचती हैं? क्या यह किसी अज्ञ की अकल में आनेवाली बात है? व्याध नक्षत्र से पृथ्वीपर प्रकाश किरणों को आने के लिये

विज्ञानविशारद मनस्वी गण अत्याश्चर्य से स्तम्भित हो गये हैं, और इसी सिद्धान्त पर पहुँचे हैं कि इस विश्व की धारणा और प्रशासन करनेवाली शक्ति अलौकिक बुद्धिशालिनी और वाङ्मनस अतीत ही हो सकती है। विचार की बात है, एटम के भीतर जो विराट शक्ति भरी हुई है, वह क्या किसी अज्ञानी जीव ने वहां रख दी है? एक गेहूँ का दाना भी हमारे प्रवीण शास्त्रज्ञ अपनी प्रयोग शाला में नहीं बना सकते और तो और एक छोटा सा पार्थिव कण भी किसी विज्ञानशिरोमणि को उत्पन्न करने के लिए आप कह दीजिए और देखिये क्या बनाता है। यह आश्चर्य की बात है कि उधर पाश्चात्य विद्वान् परमात्मा की अगम्य लीला पर विस्मयाविमुग्ध हो कर नतमस्तक हो रहे हैं और इधर हमारे पण्डित, परमात्मा में तनिक भी स्फुरण और कर्तृत्व नहीं है और सब कुछ सामर्थ्य माया अज्ञान का है—इसी को लिये बैठे हैं।

अब रहा प्रश्न दूसरी किसी शक्ति का या जीव का या 'चैतन्य प्रेरणा विहीन' **माया** का। क्षणभर के लिये मान लिया जाय कि एक अत्यद्भुत शक्तिशालिनी और बुद्धिवाली माया ही इस जगत् की निर्माणकारी है तो मानना ही पड़ेगा कि वह स्वयं अभ्रान्त है और कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम् समर्थ है। अर्थात् उसका विरोध करनेवाली दूसरी शक्ति संसार में हो नहीं सकती। एवं वह सत्यसङ्कल्पा है—यह भी मानना होगा। उसकी कामनापूर्ति में काल भी विलम्ब नहीं लगा सकता, क्यों कि वह भी तो उसीका रचा हुआ है। फिर विचार करनेकी बात है कि जिसकी इच्छापूर्तिमें किसी प्रकार का प्रतिरोध नहीं, वह सिद्धकामा या अवाप्तकामा ही कहलाएगी। फिर वह आकाश, वायु जल, पहाड़, पत्थर, चट्टानों को क्यों उत्पन्न करने जायगी? और सहस्रकोटि प्राणियों के उत्पत्ति स्थिति लय के झगड़ों में भी क्यों पड़गी? और उसको याद अपने सुपरफ़ के लिये कुछ सृष्टि प्रणाली में से जाना पड़ता है, और कुछ अन्तरायों को भी पार करना पड़ता है, तो फिर प्रश्न यह होता है कि ऐसे अन्तरायों को भी वह अपनी आयोजना में रखती ही क्यों या आने ही क्यों देती है? जब सृष्टि ही मनचाही है, और दूसरी कोई विरोधक शक्ति नहीं है, तो फिर अन्तराय परिश्रम झंझटों की सम्भावना ही नहीं है। और यदि अन्तराय हैं तो फिर उनका

किसी दूसरी शक्ति ने उत्पन्न किया है—ऐसा मानना पड़ेगा अर्थात् और एक माया माननी पड़ती है। एवं पहली माया को जो हम अज्ञात और अघटितघटनापटीयसी कह हैं वह लक्षण टूट जाता है। दो असीम सामर्थ्यवाली मायाएं मानना युक्ति प्रमाणा से ठीक नहीं जँचता। इस पर यदि कहा जाय कि सृष्टि की विविध रचनाओं से माया की सामर्थ्य में और स्वच्छन्दता में बाधा होने नहीं पाती, तो फिर पहला ही प्रश्न उठ खड़ा होता है, कि फिर उस इन झगटों में पड़ने की आवश्यकता ही क्या है?

बात असल यह है कि हम इन प्रश्नों को दार्शनिक दृष्टिसे नहीं देखते, स्वार्थी दृष्टिसे देखते हैं। हम जो कुछ कार्य करते हैं, लोभ से लालायित होकर ही किया करते हैं, और यही संदेह हम परमात्मा के सम्बन्ध में भी उठाते हैं! जहां जहाँ प्रभाविता और ऐश्वर्य है वहाँ वहाँ कष्टपिष्टता और सांसारिकता रहनी ही चाहिये यह तो अत्यंत नासमझी की बात है। जहाँ जहाँ सुख है वहाँ वहाँ दुःख है यह समाजका नियम परमात्माको कैसे लगाया जाए? "अज्ञानेनावृतज्ञानम्' (भ. गी. ५-१५) यह न्याय प्राणियोंके लिए है, परमात्मा के लिये नहीं। इन अनन्त ब्रह्माण्डों को अपनी लीलामात्र से प्रेरित, प्रकाशित और संचालित करा देना यह तो उसके निःश्वासमात्र का खेल है। ध्यान में रहे कि यह सामर्थ्य कोई जगदन्त पाती वस्तु नहीं, त्रिलोक की उत्पत्तिस्थितिलय करनेवाली प्रभाविता त्रिलोकातीत एवं पारमार्थिकी ही होनी चाहिये। **अद्वैतविज्ञान** में माया परब्रह्म की इस सामर्थ्य का ही नाम है देखिये प्रकरण (३०) परिच्छेद (२) पृष्ठ ७० तथा विचारसागर अंक ३१७ टि। उसे अज्ञानता से भिन्न समझ लेना और फिर उसको 'चैतन्यप्रेरणा विहीन' मान लेना तो निरा जड़वाद होना है। **शंकर** भगवान्ने ब्रह्मकारणता सिद्धान्तको अपने प्रस्थानत्रयी के भाष्यों में भूरिश सुनिर्वाचित किया है। इसके विरुद्ध विचारसागर ग्रन्थ का विवरण रहना असम्भव है। अतः समन्वय दृष्टिसे पर्यालोचन होना ही उचित है।

> को अध्दा वेद क इह प्रवोचत्
> कुत आजाता कुत इयं विसृष्टि
> अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेन
> अथा को वेद यत आबभूव ।
> (नासदीय सूक्त ऋग्वेद १०-१२९-६)

यह सृष्टि कहां से आई, किससे इसका सृजन हुआ, यह भला कौन जानता है ? और इस विषय पर कौन क्या कह सकता है ? देवतागण भी जब (भूत) सृष्टि के बाद ही उत्पन्न हुए, तो फिर यह सृष्टि कहां से आई इत्यादि, इत्यादि, कौन जान सकता है ?

(३३) माण्डूक्य उपनिषद् और अजातिवाद

सृष्टि को उत्पन्न हुए कोई दो सौ करोड़ वर्ष बीत गये हैं, और मानव को उत्पन्न हुए भी कोई ४० हजार वर्ष हो गये हैं—ऐसा भौतिक विज्ञानवादियों का अनुशोधन है । इस दीर्घकाल का बहुत बड़ा हिस्सा मानवता की अजानता का ही रहा है और अब भी हमारी अज्ञानता कुछ कम नहीं है । परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि गत डेढ़ दो शतकों में पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने अपने अनुशोधनों में अभूत पूर्व प्रगति की है, जिसे देख कर आधुनिक जगत् चकाचौंध हो गया है । भौतिक शास्त्रियों ने अपनी गवेषणाओं में प्रबल बुद्धिशीलता और प्रेरणा का सतोष जनक परिचय दिया है । परन्तु फिर भी सृष्टि का रहस्य अभी लगभग उसी गूढ़ अवस्था में है जैसा वह वैदिक काल यानि कोई छः या सात सहस्र वर्ष पूर्व था । ऊपर उल्लिखित नासदीय सूक्त की मनोमुग्धकर उत्प्रेक्षाओं को देखकर चित्त कौतूहल पूर्ण हो जाता है । प्रकट है कि अभी जगत् की समस्या की बहुत कुछ बातें समझनी हैं और उनको हल करने के लिये मानव के पास पर्याप्त साधन नहीं हैं । पहले तो वह इस सृष्टि के आद्यकाल में था ही नहीं अतः प्रत्यक्ष जानकारी की तो असम्भावना ही है । अनुमान ज्ञान के लिए भी उसके पास कोई साधन नहीं है । वह स्वयं कहां से आया और मृत्यु के पश्चात कहां जायगा इस विषय में भी उसे घोर अज्ञान है, फिर सृष्टि की कौन कहे ? ऐसी

दशा मे प्राचीनकाल के मीमासको ने यही मानलिया कि जगत् अनादिकालसे जैसा है वैसा ही है—अर्थात् स्वयम्भू है, और परिणामशील तो दीख ही रहा है। इतना समझ लेने पर ही जब हमारा सब काम चल जाता है, तो फिर जगत् का उपादन कारण क्या रहना चाहिये, निमित्त कारण भी कौन है असमवायी कारण भी क्या है,—इन जटिल झगडों मे जाकर माथापच्ची करने स लाभ ही क्या है? प्राय प्राचीन सभी दर्शनकार इसी सिद्धान्त के पक्षपाती रहे हैं, क्या कि जब कोई मार्ग निकलत नहीं पाता तो करें क्या ?

प्रश्न तो अत्यन्त कठिन है परन्तु जितना वह कठिन है उतना ही वह आकर्षक भी है, अत इस सम्बन्ध में यथोचित आलोचना की जाती है।

आधुनिक **भूगर्भ विज्ञान** तथा इतर भौतिक विज्ञान शास्त्रों की दृष्टि से यह अनुमान किया गया है, कि सृष्टि के प्रारभकाल में इस अनन्त अपरिमेय विश्व के सम्पूर्ण सूक्ष्मद्रव्य अत्यन्त विरल वायुरूप अवस्था मे थे, और उनका एक अतीव ज्वलन्त ददीप्यमान * दिगन्तव्यापी गोला बना हुआ था। इस कालाग्निसम विराट पिण्ड मे, ज्ञात नहीं किस कारण, कुछ नियमता और हलचल उत्पन्न हुइ, जो धीरे धीरे आवर्त गति मे परिणत हुई, और फिर उसने प्रचण्ड वेग धारण कर लिया। इसके अनन्तर इस विराट गोल से दिङ्मण्डलव्यापिनी ज्वालाएँ लपकती रहीं और साथ ही भयानक ऊष्मा बाहर आया, और इस गोल का आकुञ्चन प्रारम्भ हुआ। इसके फलस्वरूप उसमें से अगणित प्रचण्ड अग्नि

---

* अक्षर परब्रह्म ने उत्पन्न किए महत्तत्व ('यच्चापि सर्वभूताना बीज तदहमर्जुन' गी १०-३९) से ही इस विराट 'ज्योतिलिङ्ग' की सम्भावना उपपन्न होती है। गीता के ११ वे अध्याय में जो प्रभावी वर्णन 'दीप्तानलार्क द्युतिमप्रमेयम्' 'लेलिह्यसे ग्रसमानस्समन्तात्' इत्यादि सारगर्भित शब्दों से किया गया है, वह ऊपर दिये हुए पाश्चात्य **भूगर्भ** शास्त्र के वर्णन से कितना मिलता जुलता है यह देखते ही बनता है।

गोलक फूट पड़े, वही आज हमको अनेक ब्रह्माण्ड मंडल और असख्य नक्षत्र रूप से दिखाई देते हैं। अन्तरिक्ष में जितने तारे हैं वे सब सूर्य हैं और हम जिसे अपना आदित्य कहते हैं वह भी एक छोटासा तारा है किन्तु हमारे अति निकट होने के कारण हमको इतना बड़ा दिखाई देता है।

इन अनन्त तारक रूपी सूर्यों से उसी आकुंचन विधिगति के कारण अनेक छोटे बड़े अग्निगोल्क फूट पड़े जो आज हमें ग्रह और उपग्रह रूप से दीख पड़ते हैं, इन्हीं के अभ्यन्तर हमारी धरित्री है। तात्पर्य 'आकाशात् वायु वायोरग्नि अग्नेराप अद्भ्य पृथ्वी' इसी क्रम से सभी पदार्थों की उत्पत्ति हुई है, यहां आकाश महत्तत्त्व है और आप याने जल यही अजस्र 'आवर्त गति' रूप कर्म है। आज भी ये अनंत गोलक भयानक अगार रूप में हैं, और जो ठण्डे होते आ रहे हैं, वह हमारी धरणी की दशाको प्राप्त होने को प्रस्तुत हैं। अब भी हमारी पृथ्वी के अन्दर भयानक ताप है, जिसके कारण उसके उदरान्तर्गत सभी जड़ द्रव्य सन्तप्त और विद्रावित रूप में हैं, अर्थात् पृथ्वी के गर्भ में भी एक अग्निरस रूपी समुद्र है, और इसमें जब कभी कुछ हल्चल या लहरें उत्पन्न होती हैं, तब भूचाल उत्पन्न होते हैं, और अधिक मात्रा में हों तो ज्वालामुखी आविर्भूत होते हैं, जिनके मुख से भयानक ज्वलन्त धातु पाषाणों के रस बाहर फेंके जाते हैं।

आर्य ज्योतिर्विज्ञान शास्त्र की दृष्टि से इस जगत् को उत्पन्न हुए लगभग दो सौ कोटि वर्ष बीत गये हैं, और पश्चिमी भौतिक विज्ञान भी इसी परिगणना को प्रमाणित कर रहा है, यह देख कर आधुनिक जगत् के मूर्धन्य पण्डित H G. Wells ने भी बड़ा आश्चर्य प्रदर्शित किया है।

वैज्ञानिकों का यह अनुमान है कि इस प्रदीर्घकाल के आरम्भ में कोई १८० कोटि वर्ष तक यह सम्पूर्ण पृथ्वी प्रदीप्त अग्निरसमय थी, और उससे भयानक ज्वालाएँ चारों ओर से बाहर निकल रही थीं, अत उस समय कहीं भी किसी जीव जन्तु का उत्पन्न होना असम्भव था। इस लम्बे कालखण्ड में

जो कुछ घमासान हलचल रही वह जड़ पंचमहाभूत और तदुद्भूत पहाड़ पत्थर आदि की ही रही, उस काल में अनेक प्रचण्डभूचाल जिधर उधर ज्वालामुखी पर्वतों के उद्रेक, उनके डरावने स्फोट, अनगिनत उल्काओं की वर्षा, जल वायु के भयानक तूफ़ान, मेघों का गड़गड़ाना, बिजली की दिग्मंडल व्यापी चकाचौंध, इत्यादि भीषण घटनाओं का बवंडर मचा हुआ था, परन्तु इनका देखनेवाला एक भी मानव, पशु, पक्षी तथा कीड़ा, पतिंगा तक नहीं था। इस अवस्था के लाखों साल बीतने के अनंतर, इस उथल पुथल की मात्रा में कुछ कमी होने लगी, और इसके भी लाखों साल के बाद, जब उष्णता कम हो गयी तब धीरे धीरे, क्रम से उद्भिज्ज, अण्डज, स्वेदज जीवाणुओं की सृष्टि होने लगी, जिसके चरम अन्त मे मानव इस धरा धाम पर अवतरित हुआ। इसके बाद भी हजारों साल तक उन्हीं अजस्र भयानक घटनाओं का क्रम चलता रहा, जिनका वर्णन ऊपर किया गया है; परन्तु उनकी व्याप्ति और परिमाण में बहुत ही सर्वता हो गई। तिस पर भी उनका डरावना स्वरूप मानव और इतर प्राणियों के लिए अकथनीय कातरता उत्पन्न करनेवाला ही रहा। वर्तमान काल में भी इस भीषणता का कभी कभी अच्छा अनुभव हुआ करता है। इसी से अनुमान बान्ध कर और अपनी शास्त्रीय प्रामाण्य दृष्टि का मापदण्ड लगा कर पाश्चात्य सृष्टिनिरीक्षकों ने ऊपर कथित वर्णन लिख दिये हैं। प्राचीन वैदिक वाङ्मय में तथा पुराणों में भी इन भयानक घटनाओं के उल्लेख मिलते हैं। कालाग्निरूप रुद्र देवता का धरती को हिला देनेवाला ताण्डव नृत्य, उनके आक्रोश और भैरव रुदन, पर्वतों का उड़ना, इत्यादि घटनाओं के वर्णन, उस समय की परिस्थिति के परिचायक हैं, जब कि मानव समाज अपनी प्रगति की आदिम अवस्था में था। आधुनिक वैज्ञानिकों की दृष्टि से सृष्टि का क्रम स्थूल मान से नीचे बताया जाता है :—

घटनाएँ	काल
(१) पृथ्वी की उत्पत्ति हुए ...	लगभग २०० करोड़ वर्ष बीत गये हैं
(२) उद्भिज्जों की सृष्टि हुए ...	,, ६० ,, ,, ,,

घटनाएं	काल
(३) सूक्ष्म जीवाणुओं और कीटाणुओं की सृष्टि हुए	लगभग ५० करोड़ वर्ष बीत गये हैं
(४) पीठ की हड्डीवाले प्राणियों की उत्पत्ति हुए..	„ १० „ „ „
(५) अजगरादि प्राणियों की उत्पत्ति हुए...	„ १० लक्ष „ „
(६) हाथी आदि सस्तन प्राणियों की सृष्टि हुए...	„ ६० हजार „ „
(७) मानव की सृष्टि हुए...	, ४० „ „ „

समझने की सुविधा के लिये एक मोटी दृष्टि से, यदि मान लिया जाए कि पृथ्वी को उत्पन्न हुए केवल ७०,००० दिन हुए हैं, तो उद्भिज्जों की सृष्टि हुए २००० दिन, प्राणियों की सृष्टि हुए १५०० दिन, पीठ की हड्डीवाले प्राणियों को जन्म हुए ३३३ दिन, अजगरादि को इस दुनिया में आये ३३ दिन, हाथी को उत्पन्न हुए दो दिन, और मनुष्य को जन्म लिये डेढ दिन ही बीत गया है, ऐसा अनुपात बैठता है। एवं कहा जा सकता है कि मनुष्य, मानो कल ही का जन्मा हुआ अर्भक है, सृष्टि के प्रारम्भ में उसकी अनुपस्थिति थी और प्रलय काल की ऊधम में वह रहेगा ऐसी आशा नहीं की जा सकती। यदि किसी ढंग से बच भी गया, तो वह और उसका लिया हुआ प्रलय काल का वर्णन अन्त में नष्ट ही होनेवाले हैं! अर्थात् किसी भी दृष्टि से मानव सृष्टि के आद्यंत का साक्षी नहीं हो सकता!

ऐसी दशा में मीमांसकों ने ठान लिया कि 'न कदाचिदनीदृशं जगत्' जगत्, जैसा है वैसा ही अनादि काल से है, अर्थात् वह स्वयम्भू

है। उसका कोई बनानेवाला है, यह मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। अनीश्वरसांख्य, चार्वाक, जैन और बौद्ध इसी मत के पक्षपाती हैं। सेश्वर सांख्य और योग, ईश्वर को मानते हैं परन्तु उसको जगत् का कर्ता मानने के लिए उद्यत नहीं हैं। रहे शैव सेश्वर द्वैतसम्प्रदायी, वे भी ईश्वर को जगत् का निमित्तकारण मानते हैं, परन्तु जगत् की प्रकृति का कोई उत्पन्नकर्ता नहीं मानते! केवल **अद्वैत** सम्प्रदाय ही ऐसा है जो परब्रह्म के अतिरिक्त दूसरी किसी वस्तु को परमार्थसत्य नहीं मानता, और परब्रह्म को ही जगत् की उत्पत्ति स्थिति और लय करनेवाला मानता है।

इस विषय के विचार में बौद्ध सम्प्रदाय ने बहुत ही ऊँचा उड़ान लिया है। जगत् का उत्पन्न कर्ता है या नहीं यह बात तो बहुत दूर की रही उनकी अभिमति में जगत् को जो पहले दर्शनकार स्वयम्भू बनाते आये, वह असत्य है। जगत् केवल मानव की कल्पना-प्रसूति है। बाहर कोई पदार्थ नहीं है, जो कुछ है वह मानव के मस्तिष्क के अन्दर है, जो उसे बाहर प्रतीत होता है। एवं सब जगत् उसकी कल्पना है, भ्रम है। यही इस सम्प्रदाय का **निरालम्बवाद**, शून्यवाद, भ्रमवाद, अथवा प्रतिभासवाद है। इस सम्प्रदाय ने जगत् को प्रत्यक्ष शून्य नहीं कहा है, उसको, आभास रूप होते हुए भी व्यवहारक्षम माना है, परन्तु उसका अधिष्ठान या अन्तस्तत्त्व शून्य मान लिया है! इस भ्रमवाद के भँवर में पौर्वात्य ही नहीं बहुत से पाश्चिमात्य दार्शनिक भी आ गये हैं। इस मतवाद ने तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में अनेक शताब्दियों से बहुत ही डाँवाडोल मचा रखा है और बड़े बड़े पण्डितों को हैरान कर दिया है।

पक्षान्तर से **अद्वैतविज्ञान** बाह्य पदार्थों का प्रामाणिक व्यावहारिक अस्तित्व मानता है, ईशसृष्टि की जीवसृष्टि से भिन्नता मानता है, ईशसृष्टि को मानवी आलयविज्ञानजन्य नहीं, प्रत्युत ब्रह्मसङ्कल्पजन्य मानता है। इस विषय पर अब तक इस पुस्तक में बहुत विवेचन किया गया है। अब 'अजातवाद' के विषय की आलोचना प्रस्तुत की जाती है।

'अजातवाद' यह सामासिक शब्द वेदों मे नहीं है, प्राचीन उपनिषदों मे नहीं है, भगवद्गीता मे नहीं है, ब्रह्मसूत्रों में नहीं है, स्मृति ग्रन्थों में भी नहीं है, 'सर्व लक्षण संग्रह' ग्रन्थ में भी इसका नाम नहीं है, पण्डित धर्मराजा ध्वरींद्रकृत 'वेदान्त परिभाषा' नामक ग्रन्थ मे भी इसका उल्लेख नहीं है, और, सत्ताईस मनवादो पर विचार प्रस्तुत करने वाले श्रद्धेय पण्डित अप्पय्य दीक्षित के 'वादनक्षत्रमाला' नामक ग्रन्थ मे भी इसका पता नहीं है! फिर प्रश्न होता है कि इसका आविष्कार कहाँ से हुआ है? जनसाधारण में इसके सम्बन्ध में जो विचित्र धारणाएँ हैं, वे तो बुद्धसम्प्रदाय के **'निरालम्बवाद'** अथवा शून्यवाद से ही बहुत कुछ मिलती जुलती हैं! बौद्धों का एक अनन्य-साधारण महत्ता वाला ग्रन्थ **'प्रज्ञापारमिता'** (अर्थात् बुद्धिमानी की पराकाष्ठा) नामक है, उसकी समालोचना करने के हेतु, श्रीगौडपादाचार्यने माण्डूक्य उपनिषद् पर अपनी कारिकाओं की रचना की—ऐसी विद्वानो की सम्मति है। उन्होंने अपने ग्रन्थ मे 'अजातवाद' शब्द का कहीं भी व्यवहार नहीं किया है . पर निरूपण के लिए 'अजाति' इतना ही शब्द लिया है, जिससे 'अजातिवाद' शब्द की व्युत्पत्ति की जा सकती है।

श्री गौडपाद ने अपनी कारिकाओं में बौद्ध सम्प्रदाय के अनेक शब्द उद्धृत कर लिए हैं, जैसे - अस्पर्शयोग धर्म, धातु, तायिन्, सम्बुद्ध, वैशारद्य दीपित, द्विपदावरम्, गगनोपमम्, इत्यादि। इतना ही नहीं, उनके बहुत से श्लोक जैसे के वैसे अथवा कहीं कहीं अल्पांश में बदल कर अपनी कारिकाओं में समाविष्ट कर लिए हैं; इससे अनुमित होता है कि 'अजातिवाद' का जन्म **'प्रज्ञापारमिता'** ग्रन्थ से ही हुआ है। श्रीगौडपाद के समय बौद्धों की तूती बोलती थी। उनकी शिक्षा दीक्षा का जनता पर गहरा प्रभाव था। इसलिये उन्होंने इस बौद्ध सिद्धान्त की बड़ी सहानुभूति और चिन्ताशीलता से मनभावन पर्यालोचना की, जिसके फल स्वरूप ही यह उनका अनुपम ग्रन्थ हो गया है। श्रीगौडपाद ने बौद्धों की ही युक्ति प्रणाली का अवलम्ब कर उनके सिद्धान्त कहा तक सराहनीय हैं, और कहा कहा उनका हमारा विरोध है, यह सुन्दरता से बता दिया है।

जगत् की उत्पत्ति नहीं हुई, याने वह किसी से नहीं जन्मा यह धारणा, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, प्राय सभी दर्शनकारों की रही है, और बौद्धसम्प्रदायिक तो उनसे भी आगे बढ कर 'अजातिवाद' से जगत् किसी से जन्मा नहीं प्रत्युत वास्तव में है नहीं ऐसा प्रतिपादन करने लगे। श्रीगौडपाद कहते हैं ठीक है इस विषय पर हमारे भी दो सिद्धान्त हैं —

(१) परब्रह्म स्वयं अजाति याने अजन्मा है और वह ऐसी वस्तु नहीं है जो टूट फूट या भङ्ग होकर जगत् में परिवर्तित या कुछ विकृतता से परिणत हो अर्थात् ब्रह्म से जगत इस प्रकार जन्मा नहीं है। इसको लक्ष्य कर उनकी कारिका यह है :—

> । अतो वक्ष्याम्यकार्पण्यमजातिसमतां गतम्
> यथा न जायते किञ्चिज्जायमानं समन्तत ।
> (माण्डूक्य उ अद्वैत प्र का—२)

भावार्थ यह है, कि तत्त्वज्ञान अथवा ब्रह्मस्वरूप को न समझना और अन्यान्य उपासनाओं के द्वारा देवताओं के पीछे भागे भागे फिरना ही कृपणता और दीनता है। अत मैं उसी 'अकार्पण्य स्वरूप' अज परब्रह्म का निर्वचन करता हूँ जो स्वय ही, चारों ओर समता से व्याप्त है। अर्थात् यहां संसार की उत्पत्ति होते हुए कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ है। प्रिय पाठकों को स्मरण होगा कि यही वेदान्त का 'सत्कार्यवाद' का ऊँचा सिद्धान्त है जिसका भली भाँति निरूपण आगे प्रकरण (४१) परिच्छेद (१) में किया जाएगा। भाष्य के मर्मस्पर्शी शब्द यह हैं :—

'भूमाख्यं ब्रह्म . ...अजाति.. ...कस्मात्? अवयववैषम्याभावात्। यद्धि सावयवं वस्तु तदवयववैषम्यम् गच्छन् जायत इत्युच्यते। इदं तु निरवयवत्वात्समता गतमिति न कैश्चिदवयवै स्फुटति'

तात्पर्य यह है कि परब्रह्म के अंश बन कर यद्वा उनमें कुछ भेद विकार या परिणाम हो कर सृष्टि नहीं बनी है, प्रत्युत —

। प्रभव सर्वे भावानाम् सतामिति विनिश्चय
सर्वं जनयति प्राणश्चेतोंशून् पुरुष पृथक् ।
(आ प्र म ६ का ६)

ऐसा वृक्षकारणता का तत्त्व ही श्रीगौडपादने सिद्ध किया है। इस कारिका पर का भाष्य अतिसरस और स्पष्ट है। इसमे मुंडक उपनिषद् के प्रबल प्रमाण दिये गये हैं जिस से किसी संशय को अवसर नहीं रहने पाता। भाष्य में प्राण, पुरुष, इनका अर्थ अक्षरपरब्रह्म और 'सताम्' इस पदसे जगत् आकाश पुष्प नहीं है—ऐसा स्पष्ट बना दिया गया है।

(२) **अद्वैत विज्ञान** का मौलिक सिद्धान्त जो 'सत्कार्यवाद' है, और जिसको 'कार्यकारणों का अनन्यत्व' भी कहते हैं, उस में यही प्रमाणित किया गया है कि कोई भी कार्य, अपने उपादान कारण से भिन्न-अलग नहीं है, प्रत्येक कार्य अपने उपादान का ही स्वरूप है, उसी की कुछ विशिष्ट अवस्था बनाता है जैसे तन्तुओं का पट। इस दृष्टि से जगत् ब्रह्म ही है और दूसरा कोई विभिन्नपदार्थ नहीं, अतः जगत विभिन्न जन्मा हुआ नहीं ब्रह्म स्वरूप ही है देखिये रेखाङ्कित पंक्तियाँ पृष्ठ ८३।

बौद्ध सम्प्रदाय का भी एक अपना सत्कार्यवाद है, वे भी अद्वैती हैं, पर उनमें और उत्तरमीमांसा वालों में आकाश पाताल सा भेद है। द्वितीय पक्ष जगत् को ब्रह्मसंकल्पजन्य अर्थात् **चिद्विलास** रूप और ब्रह्म से अभिन्न मानता है, किन्तु बौद्ध सम्प्रदाय उसको मानव कल्पना प्रसूत मानता है। अब देखिये यह कितनी थोथी धारणा है! मानव तो सृष्टि के आदि काल में लगभग १४० कोटि वर्ष तक उत्पन्न ही नहीं हुआ था, अपि तु उसके उपरान्त भी लाखों वर्ष तक उसका पता ही नहीं था! उद्भिज्ज

अण्डजादि अनंत योनियों के अनन्तर कहीं इसकी उत्पत्ति हुई है। फिर उससे पूर्ववाला जगत् किस की कल्पना प्रसूति है? हाँ यह कहा जा सकता है कि श्रुतियों ने हिरण्यगर्भ को कहीं कहीं प्रथमजीव मान लिया है। पर उसकी उत्पत्ति भी परब्रह्म से ही बतायी है जैसे 'हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्' (श्वे. उ. ३-४) या 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्' (श्वे. उ. ६-१८)

अजातिवाद के विषय में एक मजे की शाब्दिक उलझन भी हो गई है; जन (जा) धातुका अर्थ जन्म होना या जन्म पाना, जात अर्थात् जन्मा हुआ, अतः अजातवाद का अर्थ 'न जन्मा हुआ वाद' ऐसा कुछ विचित्र सा होता है! प्रकट है कि यह शब्द व्याकरण या व्युत्पत्तिसे सिद्ध नहीं होता; फिर समझ में नहीं आता कि ऐसे अपाणिनीय शब्द का व्यवहार हमारे पण्डितों ने क्यों कर लिया है? श्रीगौडपाद 'अजातवाद' नहीं कहते। व्युत्पत्तिसिद्ध शब्द 'अजातिवाद' होता है, जिस का अर्थ, अजाति अर्थात् अजन्म का जिस में प्रतिपादन है ऐसा वाद। श्रीगौडपाद ने यही बताया है कि जैसा ब्रह्म अज है, अजाति है, वैसा जगत् भी अजाति, अजन्मा है, क्यों कि 'सत्कार्यवाद' के सिद्धान्त से भले ही ब्रह्म से अनन्त पदार्थों की उत्पत्ति स्थिति संहार हों, उसमें और इन पदार्थों में तनिक भेद नहीं है। भेद से जो उत्पत्ति होती है उसी को जन्म कहते हैं, और बिना भेद के जो आविष्कार होता है उसको विकाश या विलास कहते हैं। अतः जगत् अजाति है, **चिद्विलास** है।

परन्तु अर्वाचीन वेदान्त ग्रन्थों में अजाति का अजात बनाया गया, और फिर उसका अर्थ जो नहीं हैं ऐसा किया गया है? अजाति शब्द का अर्थ व्याकरण या व्युत्पत्ति से इस प्रकार हो नहीं सकता। जो जन्मा नहीं, कहना एक बात है, और जो है नहीं कहना दूसरी बात है। ब्रह्म भी अजन्मा है पर है नहीं यह बात नहीं; ठीक इसी प्रकार जगत् जन्मा नहीं दूसरे प्रकार से उत्पन्न हुआ है, ब्रह्म के खण्ड हो कर वह नहीं बना है यह सिद्धान्त है।

सच तो यह है कि यहाँ केवल शाब्दिक ही उलझन नहीं है, इसकी जड़ में बौद्धिक भ्रम भी भरा हुआ है। प्राचीन द्वैतवादी, जगत् को स्वयम्भु तथा परिणामी नित्य समझते थे, किन्तु बौद्ध सम्प्रदाय ने वह प्रातिभासिक और भ्रान्तिरूप है—ऐसी अभिनव कल्पना प्रस्तुत की, जिसको हमने भी अपनाया, और कमाल तो यह, कि बौद्ध प्रातिभासिक कहते हुए भी जगत् को व्यवहार्य मानते हैं, परन्तु हमारे कई पण्डित प्रातिभासिक भी है नहीं इस निरी नास्तिकता के असम्बद्ध पक्ष पर आरूढ़ हो गये हैं, यह बड़ी हास्य जनक बात है।

जैमिनीय पूर्वमीमांसा पर विख्यात विद्वान कुमारिल भट्ट ने 'मीमांसा श्लोक वार्तिक' नामक एक ग्रन्थ लिखा है, जिसमें बौद्धों के इस **निरालम्बवाद** का विस्तृत खंडन किया है। उस में एक श्लोक ऐसा है —

> । युक्त्यानुपेतामसतीं प्रकल्प्य
> यद्यामनामर्थनिराक्रियेयम्
> आम्नातिरत्यर्थमवादि बौद्धै
> र्माह गतास्तन् कथंचिदन्य ।
> (सूत्र ५ श्लोक २०१)

भावार्थ है कि लोग विषयों से लालायित न हों इस सदुद्देश्य से बाहर कोई भी पदार्थ नहीं है—ऐसा अयुक्तियुक्त और असत्य प्रतिपादन बौद्धों ने कर दिया, पर दूसरे ही जन किसी न किसी कारण, इस असत्य जंजाल में फँस पड़े हैं ! भट्ट महोदय का कथन आज भी कतिपय अद्वैत मार्गियों के विषय में अयथार्थ नहीं है।

बाहर एक भी पदार्थ नहीं है, जो कुछ है वह मानवी मस्तिष्क के अन्दर ही है, पदार्थ रूप से बाहर है—ऐसा केवल हमारी भ्रान्तिपूर्ण कल्पनाओं से दीख पड़ता है, यह बौद्धों का विचित्र सिद्धान्त यदि मान्य कर लें, तो उसका परिणाम अगतिकता से ईश्वरसृष्टि के अभाव में ही होता है, फिर विद्वित्ता

वाद या ब्रह्मकारणतावाद कहा के रहे ? मानवी मस्तिष्क का भ्रमण ही सर्वाधिष्ठान हो, तो बाहर न कोई मस्तिष्क बाकी रहता है न मस्तक, बस एक ही बडे मस्तिष्क का—यह सब स्वप्न है—यह बात क्रमप्राप्त होती है। **एक जीववाद** की जो श्रुतिबाह्य कल्पना हमारे वेदान्त ग्रन्थों में घुस गई है वह इसी ढग से, एसा यह बौद्धों के 'अजातिवाद का' जाल है।

इसी जाल मे स अन्यान्य विचित्र कल्पनाए उद्भूत हो गई हैं, जैसा कि 'युगपत्सृष्टि,' 'क्रमसृष्टि का अभाव' और ज्ञानसमकालसृष्टि। युगपत्सृष्टि की कल्पना तो बडी हास्यजनक है, सत, त्रेता, द्वापर, और कलि, यह सब एक बार, महाराजा दशरथ का जन्म श्रीरामचन्द्रजी का जन्म, विवाह, सीता हरण, रावणवध, श्रीकृष्णावतार, बुद्धावतार, इत्यादि इत्यादि, स्टॅफर्ड क्रिप्स का मिशन, स्वराज्यलाभ, और और क्या कहे ? पृथ्वीप्रलयान्त तक सब एक ही बार! इन बातो को क्या कहना-समझ में ही नहीं आता! शब्दों के कुछ अर्थ हैं या नहीं ? यदि कोई कहे कि यह ब्रह्माजी का क्षण है, या इस एकबार में सहस्रश युग भी सगृहीत हैं, तो फिर क्रमसृष्टि ने क्या पातक किया है? श्रुति माता ही जब 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' 'आत्मन आकाश' 'आकाशाद्वायु' इत्यादि इत्यादि साफ क्रम बता रही है, तो पण्डितजी आपको क्यों उसका दु ख हो रहा है ?

इस पर दूसरे पण्डित उठ खडे होते हैं और कहते हैं कि 'युगपत्सृष्टि में क्रमसृष्टि या कालानुक्रम का अभाव है एसा नहीं, किन्तु क्षण क्षण में नयी नयी सृष्टिया निर्माण हो जाती हैं और साथ ही नष्ट हो जाती है! जीव भी हर क्षण मे नया उत्पन्न होता है और पहला नष्ट * हुआ करता है'

* प्रिय पाठक देखिये, ध्यान दीजिये, यह पक्ति पढने वाले आप, अगली पक्ति पढी जाने के क्षण में नहीं थे और आगे की पक्ति पढने को आप नहीं रहेंगे, कोई दूसरा ही उत्पन्न होगा! ऐसी भ्रान्त कल्पनाओं से हम परिमुग्ध हो जाते हैं यह कैसी दयनीय दशा है ?

ठीक इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ का अस्तित्व उसके ज्ञानके समकाल ही रहता है आगे वा पीछे नहीं ! ज्ञान नष्ट होते ही पदार्थ का अभाव हो जाता है, यह युगपत्सृष्टि का तत्त्व है ! ज्ञानविजृंभण, नदीप्रवाह या दीपज्योति के सदृश अविरत चल रहा है। उसमें क्रम नहीं ऐसा नहीं। सृष्टि में भी क्रम अवश्य है, परन्तु पदार्थ और ज्ञान का यौगपद्य है इन दोनों में पूर्वापर भाव नहीं है। इसीको 'ज्ञातसत्ता' वाद कहते हैं। बहुत ठीक, परन्तु यही तो बौद्धों का **निरालम्बवाद** है और उसीको हमारे वेदान्ती जनों ने अंगीकार कर लिया है यही बड़ा अचम्मा है ! अब, यह दूसरा विचार भी कितना वितथ है, इसका निर्णय थोडी ही चिन्ता से हो सकता है।

पर्वत के भीतर कई जगह हीरे लाल या जवाहर रहते हैं। परन्तु उनके अस्तित्व का या उनके विशिष्ट स्थलों का किसी भी व्यक्ति को क्या ज्ञान रहाता है ? कोई नहीं जानता, केवल इसी कारण, इन वस्तुओं का अस्तित्त्व ही नहीं, यह कैसे कहा जाय ? हम धरित्री के पृष्ठ पर से चलते हैं, उसके तीन चार इंच नीचे क्या है इसका हमें अज्ञान है, इस कारण क्या हम भू-पृष्ठ को एक केवल पप्पड के समान ही समझते हैं ? और क्या ज्ञान नहीं, इस लिये नीचे कुछ भी नहीं, ऐसा ही समझते हैं ? आधुनिक भौतिक विज्ञान से अब यह ज्ञात हुआ है, कि परमाणुओं के भीतर विराट् शक्ति भरी हुई है। भला अब बताइए कि वहां वह रहने पर प्रवीण वैज्ञानिकों को ज्ञात हुई, अथवा उनके मस्तिष्क में प्रथम उसकी भावना उत्पन्न हुई और साथ ही वह परमाणुओं के भीतर उत्पन्न हो गई ? बाह्य जगत् की बात तो बहुत दूर रही, अपने शरीर के अन्दर क्या आश्चर्यकारी रचनाए और कारोबार हैं, किसे उसकी खबर तक है ? अपने पेट में कभी कभी कृमि उत्पन्न होते हैं, क्या वह ज्ञानसमकाल उत्पन्न होते हैं ? पेट में दर्द होना है, फिर हम वैद्यों के पास जाते हैं, और फिर उसकी परीक्षा के बाद हमको खबर होती है कि कृमि हैं या नहीं। कोई कुछ भी कह दे और हम अबुद्धिमानी से उसे सर झुकाये मान लें यह तत्त्वानुसंधान नहीं हो सकता।

अब **अद्वैतविज्ञान** के चैतन्यकारणता सिद्धान्त को लीजिए, उसमें ऐसी भूलभुलैयाँवाली बातें नहीं हैं। समग्र पदार्थों को **सत्तास्फुरण** अर्थात् अस्तित्व तथा गुणधर्म, देनेवाला एकमेवाद्वितीय ब्रह्म है। श्रुति माता स्वयं ही क्रम बताती है और उसका श्रीबादरायणाचार्यजी ने समन्वय भी दिखाया है, जो ब्रह्मसूत्र १-४-१४ के भाष्य में द्रष्टव्य है, उसको क्यों अमान्य किया जाय? ब्रह्मसत्त्व में क्रमसत्त्व सम्रहीत ही है, उसमें डरने की क्या बात है, समझ में नहीं आती!

इस प्रकार अजातवाद की विचित्र विडम्बना हमारे कतिपय ग्रन्थों में पाई जाती है। संभव है कि बौद्ध ग्रन्थों में ऐसी ऊटपटांग बातें कम हों, जो कुछ भी हो, श्रीगौडपाद ने बडी चातुरी से उनके प्रमुख सिद्धान्तों का परामर्श करते हुए, उनको ब्रह्मकारणता सिद्धान्त में परिवर्तित कर दिया है। श्रीगौडपाद की महत्व की कारिकाएं, जो उनकी विचारधारा का निदर्शन करती हैं, नीचे दी गई हैं —

। कल्पयत्यात्मनात्मानमात्मादेव स्वमायया
स एव बुध्यते भेदानिति वेदान्तनिश्चय ।
(वै प्र. का १२)

। स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणै ।
(वै प्र का ३१)

। सजाता स्वप्नवत्सर्वे आत्ममायाविसर्जिता
(अ प्र का १०)

। अद्वैतं परमार्थो हि द्वैतं तद्भेद उच्यते ।
(अ प्र. का- १८)

ऊपर की कारिकाओं का अर्थ प्रगट है, अवयकारिका के भाष्य में द्वैत प्रपंच अद्वैत (ब्रह्म) का कार्य है, क्यों कि 'एकमेवाद्वितीयम् तत्तेजोऽसृजत' एसी श्रुति है और उपपत्ति भी है, एसा स्पष्ट लिखा है।

। नेह नानेति चाम्नायादिन्द्रो मायाभिरित्यपि
अजायमानो बहुधा जायते मायया तु स ।
(अ प्र का २४)

भाष्य — ब्रह्म अपनी शक्ति से ही बहुविध दिखाई देता है, परमार्थ से उसकी बहुविधता नहीं है।

। सत्त्वा जायते सर्वं शाश्वतं नास्ति तेन वै
सद्भावेन हि अजं सर्वं उच्छेदस्तेन नास्ति वै ।
(अलात प्र, का. ५७)

भाष्य में बताया गया है कि लौकिक अज्ञान दृष्टि से जगत् के जन्मादि मान लिये गये हैं अर्थात् पदार्थ विनाशी हैं उनकी शाश्वतता नहीं मानी जा सकती। परन्तु ब्रह्मविद्या, की दृष्टि से देखा जाय तो सभी (याने उत्पत्ति,स्थिति और विनाश) ब्रह्मरूप हैं, अर्थात् यहां उच्छेद की बात ही नहीं है। सत्कार्यवाद का यही रहस्य आगे की कारिका में भी बताया गया है —

। न कश्चिज्जायते जीवः सम्भवोऽस्य न विद्यते
एतत् तदुत्तमं सत्यं यत्र किंचिन्न जायते ।
(अलात प्र का ७१)

भाष्य में बताया गया है कि व्यावहारिक सत्यता से भले ही जीवों के जन्म मरणादि होते रहे, परमार्थ सत्य यही है, कि कोई जीव, ब्रह्म से विभिन्न हो कर नहीं जन्मता, क्यों कि कोई कार्य अपने उपादानकारण से भिन्न नहीं है। फिर आगे की कारिका में बताया है --

। चित्तस्पन्दितमेवेद ग्राह्यग्राहकवद्द्वयम्
चित्त निर्विषय नित्यमसग तेन कीर्तितम् ।
(अलात प्र का ७२)

यहाँ भाष्य मे चित्त का अर्थ 'परमार्थत आत्मा एव' एसा किया गया है, क्यों कि वही निर्विषय तथा असग है। आशय यह है कि, ग्राह्य ग्राहक आदि निखिल प्रपंच, परब्रह्म का ही स्पन्दन है। यही **सत्कार्य** वाद की तत्त्व दृष्टि है, जिसका विवरण आगे प्रकरण (४१) परिच्छेद (१) मे किया जाएगा

। न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधक
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ।
(वै प्र का ३२)

यह कारिका बौद्धशिष्य नागार्जुन कृत माध्यमिक कारिका की प्रथम कारिका के बहुत सदृश है। भाष्य मे यही अभिप्राय बताया है, कि यह विश्व प्रपच कितना ही असीम क्यों न दिखाई दे द्वैत दृष्टि से सत्य नहीं है। अर्थात् यह सिद्धान्त है कि चाहे, बद्ध कहो, साधक कहो, या मुक्त कहो, परमार्थ दृष्टि से कुछ भी सत्य नहीं है। अर्थात् ब्रह्म के सकल्प से ही पदार्थो का आवागमनचक्र चलता आया है यथा आगे की कारिका मे स्पष्ट बताया है —

। भावैरसद्भिरेवायमद्वयेन च कल्पित
भावाऽप्यद्वयेनैव तस्मादद्वयता शिवा ।
(वै प्र का ३३)

असत याने अपरमार्थसत्य भावों से ही, अद्वय पर[illegible] न सृष्टि रचना की है, और भावों की उत्पत्ति भी उसी अद्वय प्रभु[illegible] । [illegible] मङ्गलमयी अद्वयता ही बनी हुई है।

एवं प्रिय पाठकों को विदित होगा कि माण्डूक्य उपनिषद् कारिकाओं का कदापि यह अभिप्राय नहीं है, कि अनिर्वचनीय जगत् हुआ ही नहीं। क्या दृष्टि सृष्टिवाद, क्या अजातिवाद, और क्या **अनिर्वचनीय** ख्याति का सिद्धान्त तीनों का एक ही तात्पर्य **अद्वैतविज्ञान** है।

इस प्रसंग में एक छोटा सा मनोरंजक संवाद नीचे दिया जाता है।

(३४) अजातिवाद विषयक असमंजस धारणाएँ

प्रथम महाशयजी, आप जो जगत् है ही नहीं, है ही नहीं, ऐसा वारंवार कहते हैं, उसका अर्थ ही कुछ नहीं हो सकता। आप मुझसे जो भाषण कर रहे हैं और मैं भी प्रत्युत्तर दे रहा हूँ, यही तो जगत् के अस्तित्व का प्रमाण है।

द्वितीय. सिद्धान्त में जगत् है ही नहीं।

प्रथम. पण्डितजी, आपका सिद्धान्तवाला जगत् क्या चन्द्रलोक विषयक है या सूर्यलोक विषयक है? कदाचित् वह न हो, परन्तु आप और मैं जो परस्पर सम्मुख बैठे हैं वह है या नहीं?

द्वितीय नहीं।

प्रथम यह तो बड़ी अचम्भे की बात है, सूर्य के प्रकाश को अन्धेरा कहने के समान है। विचार से उत्तर दीजिये, कुछ लक्षणा कीजिये स्वप्न या प्रतिभास सदृश जगत है ऐसा तो भी कहिए।

द्वितीय: देखिये, पण्डित निश्चलदासजी, विचारसागर, अंक २६७ में स्पष्ट लिखते हैं कि ज्ञाननिष्ठ पुरुष को जगत् तुच्छ अर्थात् शून्य प्रतीत

होता है और यही ज्ञानी का मत है ऐसा अङ्क ३२८ के नीचे उन्होंने लिखा है।

प्रथम पण्डितजी यहाँ कुछ समझ मे भेद दिखाई दे रहा है। क्यों कि अङ्क ५७ टि तथा अङ्क ४०२ मे आपके अभिप्राय के विरुद्ध प्रतिपादन है। 'शून्यप्रतीति' का अर्थ परमार्थ सत्यता मे प्रतीति नहीं' यही हो सकता है। ब्रह्मज्ञानी पुरुष को यदि शिष्य की प्रतीति ही न हो तो इस ससार मे गुरुपरपरा और ज्ञान, असभव है। आपकी दृष्टि से बडा ब्रह्मज्ञानी जो ईश्वर है, उसे तो त्रिभुवनों की प्रतीति होती है, फिर अनेकजन्मससिद्ध जो सम्यग्ज्ञानी यथा पूज्यपाद याज्ञवल्क्य या शुकमहर्षि इन पर ही आप की यह क्यों जबरदस्ती है, कि उनको यदि जग दिखाई दे तो उनका पूर्ण ज्ञान ही अमान्य करना हो ?

द्वितीय वेदान्त सिद्धान्त से यदि सब जगद्व्यवहार नितान्त स्वप्न है, और ज्ञान ही सच्ची जागृति है, तो जागृति के उपरान्त स्वप्न नष्ट होना ही आवश्यक है, फिर ज्ञानी को जगत् कैसे दिखाई दे ?

प्रथम शास्त्र मे जगत् के लिये जो स्वप्न का दृष्टान्त दिखाया गया है वह केवल उसकी विनाशिता बताने के लिये है, दृष्टान्त दार्ष्टान्त नहीं हो सकता। इसका स्पष्ट निर्णय ब्र सू. 'नाभाव उपलब्धे' (२-२ २८) और 'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्' (२-२-२९) के भाष्यों मे श्रीशकराचार्य ने कर दिया है। पूर्वोक्त सूत्र मे उन्होंने बाह्य पदार्थों का व्यावहारिक सत्यत्व सिद्ध कर दिया है, और दूसरे मे तो स्पष्टतया ही जगत स्वप्न नहीं है, यह प्रमाणित किया है। अतएव दृष्टान्तो की उलझनों मे पड़ने का कोई कारण नहीं है।

ब्रह्म अवाङ्मनसगोचर त्रिलोकातीत सामर्थ्यस्वरूप है—यह पहले ही अनेक वार परिस्फुट किया गया है, वेदों में उसका बहुभवन बताया गया है, जैसे 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति, तत्तेजोऽसृजत' (छां ६-२) 'पुरुष एवेदं सर्वम्' 'पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि'।

(२५) बहुभवन का क्या तात्पर्य है

इससे यह संशय होता है कि क्या यह विराट शक्ति, भौतिक विज्ञान वादियों के Ether ईथर * की भाँति, अथवा उससे भी अत्यंत विरल सर्व' व्यापी वस्तु है, और वही ब्रह्माण्ड के यावतीय पदार्थों में परिवर्तित या परिणत हुई है? उत्तर है कि इसी को भेदाभेद पक्ष कहते हैं। ब्रह्म ही सब कुछ बना है इस मत को भर्तृप्रपञ्च और इतर अनेक दार्शनिकों ने मान्यता दी है, पर यह अद्वैत सिद्धान्त नहीं है। भेदाभेद वाद का मार्मिक और निस्सदिग्ध खण्डन श्रीशंकराचार्य और श्रीसुरेश्वराचार्य ने अनेक स्थानों पर किया है। वेदों में मृत्तिका से घट, अग्नि से स्फुलिंग या मकड़ी से जाला, ऐसे दृष्टान्त तो दिये गये हैं, पर उनका तात्पर्य विभाजन, सूक्ष्म या स्थूल द्रव्यों और आकारों में परिवर्तन या परिणाम नहीं है। प्रत्युत ऐंद्रजालिक **लीला** मात्र है। ब्रह्म ही सब कुछ बना है—ऐसी धारणा जड़दृष्टि मानव-स्वभाव के लिये स्वाहजिक है, कितना भी कहो या समझाओ मनुष्य की बुद्धि, परमात्मतत्त्व को एक सर्वव्यापी अत्यंत विरल सूक्ष्मरूप कुछ न कुछ द्रव्य ही मानती आयी है पर द्रव्य कहने से हिचकिचाती है! और फिर, शक्कर के जैसे पदार्थ बनते हैं वैसे ही आत्मवस्तु से सब पदार्थ बने हैं—ऐसा मानती है! यही भेदाभेदवाद है जिसने यूरप में Pantheism के नाम से प्रसिद्धि पाई है। इसके प्रवर्तक डेकार्ट स्पिनोझा हेगेल इत्यादि

---

* गत शताब्दि में पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने मान्य किया था कि ऐसा एक विश्वव्यापी अतिविरल द्रव्य रहना आवश्यक है, परन्तु तदनन्तर की गवेषणा से सिद्ध हो गया है कि यह निगमन आकाश कुसुम रूप ही था। ऐसी वस्तु मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

हो गये हैं। परमात्मतत्त्व रूप भण्डार में से अनत सूक्ष्म अश बाहर आते हैं, ससार का दीर्घ काल तक अनुभव करते हैं और अन्त मे जब यथा कथञ्चित् मुक्ति का समय आता है, तब उसी परमात्मतत्त्व में मिल जाते हैं, यह कल्पना मानव की बुद्धि सुगमता मे ग्रहण कर लेती है। परन्तु निरवयव अक्षर और प्रशास्तृ रूप परमात्मा के अश कैसे हों? जिसमे देशदशिभाव और धर्मधर्मिभाव नहीं है उसमें से न कुछ निकल सकता है और न उसमें कुछ जा कर मिल सकता है। अर्थात् परमात्मा के ईक्षण या इच्छा मात्र से इस गारुड़—परन्तु व्यावहारिक प्रपच की सृष्टि होना, यही बहुभवन का लाक्षणिक अर्थ लेना आवश्यक है, क्यों कि जहाँ जहाँ बहुभवन का विषय आया है वहाँ वहाँ श्रुति माता ने 'असृजत' 'ससर्ज' ऐसे स्पष्ट शब्दों का भी व्यवहार किया है। गारुड ऐन्द्रजालिक शक्ति से विश्व का सृजन, **अद्वैतविज्ञान** का मौलिक सिद्धान्त है, जिसका उल्लेख ब्रह्मसूत्रभाष्यों मे अनेक स्थलों पर आया है। दे पृष्ठ ४० और ५२

(३६) परमात्मा का सर्वव्यापित्व

'ईश्वर सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' (गी १८-६१) 'ममैवांशो जीवलोके' (गी १५-७) 'अनेन जीवेनात्मनानु प्रविश्य नाम रूपे व्याकरवाणि' (छा. ६-३) 'अन्त प्रविष्ट शास्ता जनानाम्' (तै आ. ११) ऐसे अनेक स्थानों पर परमात्मा का प्रवेश बताया गया है। पर पहले से ही सर्वव्यापी निरवयव निर्द्रव्य परमात्मा, का कहीं प्रवेश (अर्थात् बाद में चलकर) होता है यह कहना ही असम्बद्ध है, अत भाष्य में प्रवेश शब्द को अनर्थक बता कर भावार्थ यह बताया गया है कि इन इन स्थानों पर परमात्मा के तप पूत भक्तों को दर्शन हो सकते हैं यह भाव है। इस सम्बन्ध में ब्रह्मसूत्र (१ २ ११) के भाष्य मे आचार्य का कथन है - 'सर्वगतस्यापि ब्रह्मणः उपलब्ध्यर्था देशविशेषोपदेश'।

सर्व व्यापी अपरिच्छिन्न निरवयव वस्तु, परिच्छिन्नवस्तु के अन्दर प्रवेश करती है यह कहना अयोग्य है, प्रत्युत परिच्छिन्न वस्तु ही अपरिच्छिन्न वस्तु

के अन्दर रहती है, यही कहा जा सकता है। और यों भी वह उसे बाधा पहुँचाती है यह बात नहीं; अर्थात् उसकी सर्वव्यापिता ज्यों की त्यों बनी रहती है। यही भाव श्रीमद्भगवद्गीता के निम्न श्लोकों मे दर्शाया गया है—

। ये चैव सात्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥ ७-१०

। मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना
मत्स्थानि सर्व भूतानि न चाहं तेषु अवस्थित ॥ ९-४

। न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावन ॥

। मयाध्यक्षेण प्रकृति· सूयते सचराचरम् । ९—१०

इस सम्बन्ध में और एक मर्म की बात ज्ञातव्य है वह यह, कि 'व्यापित्व' शब्द का अर्थ, घड़े में जैसा जल भरा जाता है, अथवा आकाश में जैसा वायु भरा रहता है, वैसा नैयायिकों वाला जड अर्थ वेदान्त शास्त्र को मान्य नहीं है। व्यापित्व का मार्मिक अभिप्राय 'सर्वाधिष्ठानत्व' है जो पण्डित प्रकाशानन्दकृत सिद्धान्त मुक्तावली के २५ वें श्लोक की व्याख्या मे बताया गया है। इसका और भी विवरण 'आत्मन· **सर्वाधिष्ठानत्वं** नाम अध्यस्तस्य **सत्तास्फूर्ति प्रदत्वम्**' अर्थात् उत्पत्तिस्थिति कारित्व, है ऐसा स्पष्ट किया गया है। अध्यक्ष शब्द का भी अधिष्ठाता व्यवस्थापक यही अर्थ है, (देखिये सर्व लक्षण संग्रह) अब देखिये, गीता मे 'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना' इस पर भाष्य मे संक्षेपत 'मया अव्यक्तमूर्तिना **व्याप्तम्**' इतना ही लिखा है, पर उपरोक्त परिभाषा से 'मया अव्यक्त मूर्तिना **सत्तास्फूर्ति** प्रदानेन इदं विश्वं विस्तारितम् ऐसा रहस्यग्राही अर्थ निष्पन्न होता है। 'मयाध्यक्षेण' इस

श्लोक का भी ठीक यही अर्थ है। आत्मविज्ञान का मन्तव्य स्थूल दृष्टि की व्याप्ति बताने का नहीं हो सकता, क्योंकि परब्रह्म द्रव्यरूप नहीं है।

(३७)'आत्मदर्शन' अथवा 'आत्मज्ञान' का रहस्य

बृहदारण्यक उपनिषद् अध्याय ४ ब्राह्मण ५ मंत्र १५ में 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत् तत्केन कं जिघ्रेत् तत्केन कं रसयेत् तत्केन कमभिवदत् तत्केन कं शृणुयात्' इत्यादि प्रश्न आये हैं। इनके भावार्थ के विषय में, वेदान्त के साधारण अभ्यासकों में इतनी विचित्र कल्पनाएँ पायी जाती हैं कि कुछ कहते नहीं बनता। इनका आशय बनाया जाता है, कि जब ज्ञानी पुरुष को या महात्मा को चारों ओर आत्मा ही आत्मा का अनुभव होता है, तो फिर वह 'किससे किसको देखे, किससे किसको सूँघे, किससे किसका आस्वाद ले, कैसे किससे बात करें ?' अर्थात् ज्ञानी पुरुष को कोई कुछ शेष ही नहीं रहता, तो फिर आप जो 'अक्षरब्रह्म का प्रशासन' 'ब्रह्मकारणता सिद्धान्त' ऐसी आडम्बर वाली बातें लिये बैठे हैं, उनका प्रमाण ही कहां है ? ये आक्षेप विचित्र हैं, अतः उनकी यहाँ कथञ्चित् आलोचना की जाती है।

श्रुति वचनों को सार्थकता से समझने के लिये पूर्वग्रहों को हटा देना आवश्यक है। उदाहरण के लिये 'द्रष्टा' शब्द लीजिये। वेदान्ती अभ्यासकों में इस शब्द का अर्थ 'न देखने वाला' 'कुछ भी न जानने वाला' ऐसा रूढ हो गया है! भले ही कोई इन अभ्यासकों को यथार्थ समझाने का प्रयत्न करें, कोई सफलता नहीं होती। एक बार ब्रह्म, अकर्तृ, निरसम्बन्ध, निष्प्रभ, शून्य तुल्य है, ऐसा निश्चय गढ लिया गया, तो फिर द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता (बृ ३-८-११) यह शब्द अर्थहीन हो जाते हैं। दुर्भाग्य हमारा कि पञ्चदशीकार श्रीविद्यारण्य ने वेदान्त का जो गम्भीर शब्द 'साक्षी' उसको नाटकस्थ दीप की उपमा दी है! इससे तो हमारी भ्रान्त धारणाएँ और भी पुष्ट हो गई हैं! 'साक्षादीक्षत इति साक्षी' ऐसी सुस्पष्ट व्युत्पत्ति श्रीमदाचार्यने अपने विष्णुसहस्रनाम स्तोत्र के भाष्य में दी है, 'साक्षाद्द्रष्टा

मज्ञायाम्' (५-२-०१) एमा पाणिनीय सूत्र है। वृहदारण्यक उपनिषद् में (अ ४ ब्रा ३ मन्त्र २२ से ३० तक) निर्विवाद बताया गया है कि 'न हि द्रष्टुर्दृष्टेः विपरिलोपो विद्यते' इत्यादि। अपि च 'सर्वोपनिषद्' के तीसरे मन्त्र में 'ज्ञातृज्ञानज्ञेयानामाविर्भावतिरोभावज्ञाता स्वयमेवाविर्भावतिरोभावहीन स साक्षी' एमा बताया गया है। ज्ञाता, ज्ञान, और ज्ञेय, ये जब भ्रान्तिजन्य या अहंकार से सम्पृक्त रहते हैं, तब ही त्याज्य होते हैं, ज्ञानी पुरुष को किसी प्रकार से ये भाव रहते ही नहीं एसी बात नहीं, यह, उपर्युक्त साक्षी की व्याख्या से ही प्रमाणित होता है परन्तु 'त्रिपुटी राहित्य' का अर्थ इन तीनों का स्वरूपत अभाव! एसा असम्भवनीय और वेदान्त शास्त्र के रहस्य के विपरीत किया जाता है, इसका क्या इलाज? प्रेमी पाठकों को स्मरण होगा कि इसी भाँति की उलझन **वृत्तिनिरोध** के विषय में भी हो गई है जिसका विवेचन पीछे पृष्ठ २२, २३ तथा २५ पर किया गया है।

अब उपर्युक्त बृहदारण्यक श्रुतिगत प्रश्नों के सम्बन्ध में कुछ विमर्श प्रस्तुत किया जाता है। इनके जो मनचाहे अर्थ लगाये जाते हैं, उसका कारण यही है कि एसे महत्त्व के विषय के अध्ययन में जो आद्योपान्त पढ़ने का कष्ट उठाना आवश्यक है उतना कष्ट नहीं उठाया जाता।

मीमांसकों के विचारों के सम्बन्ध में इस पुस्तक में बहुत कुछ लिखा गया है; उनकी यह दृढ निष्ठा थी कि वेदों ने मानव के क्रमाभ्युदय तथा नि श्रेयस के लिये 'यावज्जीव कर्मानुष्ठान' का सुन्दर राजपथ निर्माण कर रक्खा है। नि श्रेयस की प्राप्ति के लिये 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्य इत्यादि (उ २-४-५) में जो आदेश दिया गया है, वह प्रत्यक्ष विधि है, और उसके दृढ अनुष्ठान से हम ब्रह्म को साक्षात् कर सकते हैं और अक्षय्य अपरिमेय सुख भी प्राप्त कर सकते हैं।

इस पर **अद्वैत सिद्धान्त** का यह आक्षेप है कि यह 'विधि श्रुति' नहीं हो सकती, अर्थात् अनुष्ठान की कल्पना ही त्याज्य है। ब्रह्मज्ञान वस्तुतन्त्र है।

किसी भी अनुष्ठान से उत्पाद्य, आप्य, विकार्य या संस्कार्य, नहीं है, (बृ उ ४-४-२२ भाष्य) एवम् ऊपर की श्रुति साधकों को, आत्मविज्ञान की ओर प्रवर्तित कराने के लिये है, विधि रूप नहीं है। इस विषय को लक्ष्य कर श्रीशङ्कराचार्य का भाष्य बड़ा मार्मिक और ममर्पक है, अल्प शब्दों म उसका तात्पर्य यह है कि, यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति पश्यति शृणोति . इ ' जहाँ द्वैतभाव बना है, वहां सब विधिरूप कारक क्रिया फल का व्यवहार हो सकता है, परन्तु ब्रह्मज्ञान के लिये इस कर्मफल के व्यवहार की आवश्यकता नहीं है। और क्षणभर द्वैत दृष्टि का अंगीकार करें, तो भी अदृश्य अग्राह्य ब्रह्म वस्तु को आप देखेंगे या सूंघेंगे कैसे? सम्भव है कि आप अनुष्ठानों के बल से इन्द्रादि देवताओं को चाक्षुष प्रत्यक्ष अथवा मानस प्रत्यक्ष भी कर सकें, किंतु यह भी बाह्यदर्शन है, इसको प्रत्य, ग्दर्शन नहीं कह सकते। ज्ञानेन्द्रियों की रचना ही बाह्यदर्शन के लिये की गई है, चाहे वह मन के अन्दर क्यों न हो। अर्थात् प्रत्यगात्मभूत और सर्वव्यापी ब्रह्म को विषय करने के लिए, 'केन पश्येत' किस ज्ञानेन्द्रिय से देखेंगे? आपके ज्ञानेन्द्रियों की रचना ही उसके योग्य नहीं है और हठात् मान लें तो भी 'क पश्येत?' ब्रह्म स्वय ही ज्ञानेन्द्रियाँ या स्थूल बुद्धि को गम्य नहीं है। अत द्वैतदृष्टि से भी 'आत्मा वाऽरे-द्रष्टव्य' इत्यादि उपदेश 'विधि' रूप नहीं हो सकते।

अब **अद्वैतविज्ञान** की दृष्टि निराली है। यह स्वीकृत सिद्धान्त है कि आत्मविज्ञान के लिये भावनाओं या अनुष्ठानों का कोइ साक्षात् उपयोग नहीं है। कहा जाता है कि ब्रह्म अवाङ्मनसगोचर है, पर उसका अभिप्राय यही है कि वह ज्ञानेन्द्रियों या स्थूल बुद्धि को अगम्य है जानने को बहुत कठिन है, इतना ही है। परन्तु सूक्ष्म बुद्धि का विषय नहीं ऐसा कदापि नहीं। इसीलिये कठोपनिषत् (१-३-) में 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभि' और भ गीता में 'एवं बुद्धे परं बुद्ध्वा' (३-४-) ज्ञातु द्रष्टुञ्च तत्त्वेन (११-५४) 'ज्ञान ज्ञेय ज्ञानगम्यम्' (१३-१७) इत्यादि अनेक वचन

आते हैं। श्रीशंकरानन्द स्वामी भगवद् गीता अध्याय १८ श्लोक ५० की अपनी व्याख्या में लिखते हैं —

'ततो ज्ञातृत्वेन अस्मत्प्रत्ययार्थत्वेन सर्वव्यवहारकारणत्वेन परमप्रेमास्पदत्वेन च प्रसिद्धत्वादात्मा नायमत्यन्ताविषयो भवति। किन्तु स्वच्छत्वान्निर्मलत्वात्सूक्ष्मत्वाच्च बुद्धि आत्मचैतन्यव्याप्त्या, सूर्यप्रकाशव्याप्त्या स्फटिक सूर्यवद्यथा, तथा आत्मवदवभासते। तादृश बुद्धिव्याप्त्या मन आदि स्थूलान्त सर्वमात्मवदवभासने शान्तश्चिद्घन आनन्दघन आत्मा, ज्ञानचक्षुश सम्य गिविषयो भवति'

तात्पर्य यह है कि तीव्र जिज्ञासा से उत्प्रेरित साधक, जब शास्त्रोक्त साधनाओं द्वारा अपने अन्तःकरण को सुनिर्मल कर लेता है, और श्रवण मनन निदिध्यासन से उसकी बुद्धि सूक्ष्मग्राही बन जाती है, तब उसके हृदयाकाश में स्वयं ही आत्मज्योति उदित हो जाती है, जिसका दर्शन ही साधक का स्वानुभूति रूप साक्षात् है। इसके अनन्तर, उसे जगत् के अखिल पदार्थ, आत्मचैतन्य से आलोकित दिखाई देते हैं। पर इसका अभिप्राय यह नहीं है कि आत्मज्योति कोई प्रकाश जैसी वस्तु है। प्रकाश का अर्थ ज्ञान तथा प्रभाव शालिता है। तात्पर्य यह है कि ऐसे तपस्यापूत मेधावी साधक को आत्मचैतन्य की प्रभाविता का अनुभव उसकी सूक्ष्म बुद्धि में ही हो जाता है। इसके अनन्तर उसे सारा जगत् इसी प्रभाविता से प्रभावित है ऐसा निःसंदिग्ध ज्ञान हो जाता है। श्रीशंकराचार्य के नाम से ख्यात 'शतश्लोकी' स्तोत्र में यही विचार निम्न श्लोक में स्पष्ट किया गया है —

> आत्मानात्मप्रतीति प्रथममभिहिता सत्यमिथ्यात्वयोगात्
> द्वेधा ब्रह्मप्रतीति निगमनिगदिता स्वानुभूत्योपपत्त्या
> आद्या देहानुबन्धाद्भवति तदपरा सा च सर्वात्मकत्वात्
> आदौ ब्रह्माहमस्मीत्यनुभव उदिते खल्विदं ब्रह्म पश्चात्। ३

इसे पढ़ कर किस साधक का हृदय उत्तजना स परिपूर्ण और आत्मविभोर नहीं होगा ? ऐसा सर्वस्व ज्ञान और सर्वात्मभाव जागृत होने पर ज्ञानी महात्मा ' केन क पश्यत् जिस आख से ब्रह्मदर्शन करा ऍन की विधि मीमांसक बता रहे हैं वही जब आत्मज्योति का स्वय ही परिचय प्रदान कर रही है तो बाहर किधर और कहाँ जाएँ ? सब पदार्थब्रह्मरूप हैं चर्म चक्षु को तो य अवश्य दिखते हैं पर ज्ञान चक्षु को उनमें आत्मदर्शन होते हैं, इसमें बाधा डालने की मजाल न चर्म चक्षु की है और न किसी और वस्तु की है। जैसे एक प्रथितयश कलाकार की नयनाभिराम कृति को देखते ही उसकी कलापूर्ण मूर्ति प्रत्यक्ष हो जाती है वैसे ही उसकी भद्दी कृति को देख कर कलाकार के सम्बन्ध में वही अनिन्द्य सुन्दर भाव उत्पन्न होते हैं क्यों कि कलाकार तो कभी भद्दा नहीं होता, और उस कृति म भी उसका कुछ गूढ भाव रहता है जो हमारी समझ में नहीं आता।

प्रिय पाठक समझ लेंगे कि तत्केन क पश्यत् तत्केन क जिघ्रत्' इन से लेकर अन्त में विज्ञातारमरे केन विजानीयात् यहाँ तक के प्रश्नों का सम्बन्ध केनोपनिषत्' के प्रश्नों तक जा पहुँचता है। बृहदारण्यक श्रुतिवाणी यहाँ पर यही रहस्य बता रही है कि —

। यतो रात्धि प्रमाणाना स कथ तै प्रसिद्ध्यति ?
(सुरेश्वराचार्य)

अत इन प्रश्नों का जो विचित्र अर्थ किया जाता है कि ब्रह्म में कुछ है नहीं, अक्षरब्रह्म के प्रशासन नियन्त्रण इत्यादि विषय के वचन, और ब्रह्मकारणता सिद्धान्त, सब असत्य बातें हैं, केवल प्रगाढ अज्ञानता का निदर्शक है।

कहा जाता है कि ब्रह्मज्ञान वस्तुतन्त्र है और निवृत्तिक है ठीक है पर वस्तुत सभी ज्ञान ऐसे हैं। शास्त्रीय विषय, ज्यामिति व्याकरण गणित इत्यादि ज्ञान भी वस्तुतन्त्र तथा निर्वृत्तिक हैं। भावनाएँ भली ही उत्तिमयी हों उनका ज्ञान भी वस्तुतन्त्र और निवृत्तिक ही है इसका उल्लेख पहले पृष्ठ २३ पर किया गया है।

एक बार ब्रह्मज्ञान होने के अनन्तर वह कभी लुप्त नहीं होता, अत उसके स्मरण विस्मरण आवर्तन या अनुसन्धान का प्रश्न ही नहीं उठता। स्मरण विस्मरणादि जागतिक विषयों के सम्बन्ध में ही हुआ करते हैं, आत्मज्ञान के विषय में नहीं, क्यों कि वह स्वानुभूतिरूप है। कई पण्डितों का प्रतिपादन हुआ करता है, कि ब्रह्मज्ञान हमारे अन्तस्तल में सिद्ध है, वह होता जाता नहीं, केवल आवरण दूर करने की देरी है, पर यह मत युक्तिसंगत नहीं है। ब्रह्मज्ञान आज हमें उपलब्ध नहीं है, उसको हमें प्राप्त करना है, पर उसकी उपलब्धि होती नहीं यह बात नहीं, जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है।

(३८) तत्वज्ञान समझाने की प्रक्रियाएँ

पण्डित निश्चलदासजी तथा पीताम्बर मिश्रजी और दूसरे विद्वानों के ग्रन्थों में दार्शनिक सिद्धान्त समझा देने के निमित्त कई प्रक्रियाओं को स्वीकार किया हुआ रहता है। उदाहरण के लिए, ब्रह्म चैतन्य के विविध नामों पर ध्यान दीजिये। स्वरूपलक्षण से निर्दिष्ट ब्रह्म, नितान्त मानों सोलह आने शुद्ध बताया जाता है, इसी के, निर्बीज चैतन्य, ज्ञातत्वरूप उपलक्षण से लक्षित ब्रह्म, लक्ष्य ब्रह्म, नेति नेति स्वरूप, ऐसे अनेक अभिधान हैं। उपहित ब्रह्म कुछ निचले दर्जे का मानों १४॥ साढे चौदह आने चैतन्य ब्रह्म है ऐसा कुछ माना जाता है। फिर इसके नीचे सबीज ब्रह्म, शबल ब्रह्म, मायाविशिष्ट ब्रह्म, वाच्य ब्रह्म, इत्यादि नाम आते हैं। इसके अनन्तर अत.करणविशिष्ट चैतन्य, वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य, प्रमाण चैतन्य, प्रमिति चैतन्य, पदार्थावच्छिन्न चैतन्य, इत्यादि इत्यादि बडा ही प्रपंच रचित किया हुआ पाया जाता है।

इस रीति से चैतन्य का विविध अवच्छेदों के साथ विवेचन करना, बड़ी भूल का कारण होता है, और हो गया है। ऐसा विभाजन ऊपर कथित पण्डितवर्यों ने स्वयं कर रखा है ऐसा नहीं, सम्भवत किसी बौद्धशासन कालीन गीर्वाण पण्डित की ही यह रचना है। औपनिषत्तत्त्वज्ञान में ऐसी सोपान परंपरा नहीं है। चैतन्य के कई प्रकार समझ कर उनमें कुछ ऊपर वाले

और कुछ क्रम देनेवाले समझना और समझाना, याथात्म्य ज्ञान के मार्ग में मानों बड़ी बाधाएँ उत्पन्न करने के समान है।

बृहदारण्यक अध्याय ३ ब्राह्मण ८ मंत्र १२ के भाष्य में श्रीमदाचार्य लिखते हैं —

तत्र केचित् आचक्षते। परस्य महासमुद्रस्थानीयस्य ब्रह्मणोऽक्षरस्याप्रचलितस्वरूपस्येषत् प्रचलितावस्थाऽन्तर्यामी। अत्यन्तप्रचलितावस्था क्षेत्रज्ञो यस्तं न वेदान्तर्यामिणम्। तथान्या पञ्चावस्था परिकल्पयन्ति। तथाऽष्टावस्था ब्रह्मणो भवन्तीति वदन्ति। अन्येऽक्षरस्य शक्तय एता इति वदन्ति अनन्तशक्तिमदक्षरमिति च। अन्ये तु अक्षरस्य विकारा इति वदन्ति। अवस्थाशक्ती तावन्नोपपद्येते। अक्षरस्याशनायादि संसारधर्मातीतत्वश्रुतेः। नहि अशनायाद्यतीतत्वमशनायादिधर्मवदवस्थावत्त्वं चैकस्य युगपदुपपद्यते। तथाशक्तिमत्त्वं च। विकारावयवत्वे च दोषाः प्रदर्शिताश्चतुर्थे। तस्मादेता असत्याः सर्वाः कल्पनाः।

कस्तर्हि भेद एषाम्। उपाधिकृत इति ब्रूमो, न स्वत एषाम् भेदोऽभेदो वा सैन्धवघनवत् प्रज्ञानघनैकरसस्वाभाव्यात्। 'अपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्" "अयमात्मा ब्रह्म" इति च श्रुतेः। "सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः" इति चाऽऽथर्वणे। तस्मात् निरुपाधिकस्याऽऽत्मनो निरुपाख्यत्वान्निर्विशेषत्वादेकत्वाच्च नेति नेति इति व्यपदेशो भवति। अविद्याकामकर्मविशिष्टकार्यकरणोपाधिरात्मा संसारी जीव उच्यते। नित्यनिरतिशयज्ञानशक्त्युपाधिरात्माऽन्तर्यामीश्वर उच्यते। तथा हिरण्यगर्भाव्याकृतदेवताजातिपिण्डमनुष्यतिर्यक्प्रेतादिकार्यकरणोपाधिभिर्विशिष्टस्तदाख्यस्तद्रूपो भवति। तथा च तदेजति तन्नैजतीति व्याख्यातम्। तथा एष त आत्मा, एष सर्वभूतान्तरात्मा" "एष सर्वेषु भूतेषु गूढः" "तत्त्वमसि" "अहमेवेदम् सर्वम्" "आत्मैवेदं सर्वम्" "नान्योऽतोऽस्तिद्रष्टा" इत्यादि श्रुतयो न विरुध्यन्ते। कल्पनान्तरेष्वेता श्रुतयो न गच्छन्ति। तस्मादुपाधिभेदेनैवैषां भेदो नान्यथा एकमेवाद्वितीयमित्यवधारणात्सर्वोपनिषत्सु।

उपरिलिखित भाष्य वाक्यों में सहस्रावधि वर्षों के प्राचीन विचार प्रदर्शित किये गये हैं, उन पर समुचित ध्यान देने की बड़ी आवश्यकता है। 'अविद्याकामकर्मविशिष्टकार्यकरणोपाधिरात्मा ससारी जीव उच्यते', इसका अर्थ कर्मफल विपाक के नियमानुसार उत्पन्न, शरीरेंद्रियसघात के चालक चैतन्य को ससारी जीव कहते हैं। किन्तु चैतन्य कदापि ससारी नहीं बनता यह पहले ही बार बार बताया गया है। अर्थात् यहा 'अह वैश्वानरोभूत्वा' या 'ईश्वर सर्व भूतानाम्' (भ गी १५-१४ और १८-६१) यही प्रत्यगात्मब्रह्म विवक्षित है, उपाधिधर्मों के कारण भले ही वह हम परिच्छिन्न प्रतीत हो, किन्तु 'यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह' (कठ ४-१०) इस दृष्टि से चैतन्य में न तो विभाग है और न कहीं न्यूनता या आधिक्य।

अत मायाविशिष्ट चैतन्य निचले दर्जे का और माया उपहित ऊँचा, शुद्ध चैतन्य सृष्टि नहीं रचता है, शबल चैतन्य ही यह सब कोलाहल मचाता है, यह वाच्य ब्रह्म है, और यह लक्ष्य ब्रह्म है, ऐसी धारणाएँ दुर्ग्रहों को ही परिपुष्ट करती हैं। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट होगा। समझ लीजिए कि पूर्व दिशा में चन्द्रमा पूर्ण वर्तुलाकार दिख रहा है, वह कदम्ब वृक्ष के माथे पर है, रोहिणी नक्षत्र के समीप है, और एक कृष्णमेघ से कुछ आच्छन्न है। तो उसके वर्णन (१) प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र (२) पूर्णवर्तुलश्चन्द्र (३) कदम्बशाखाशिरस्थश्चन्द्र (४) रोहिणी नक्षत्रोपहितश्चद्र और (५) कृष्णमेघावच्छिन्नश्चद्र, ऐसे हो सकते हैं, यद्यपि चन्द्रमा एक ही है। प्रथम, स्वरूप लक्षण, द्वितीय, तटस्थ लक्षण, और शेष सब उपलक्षण हैं। ठीक इसी प्रकार (१) सच्चिदानंद ब्रह्म, स्वरूपलक्षण, 'यतोवाइमानि (तै. ३-१) या, 'जन्माद्यस्य' (ब्र. सू ३-२) इत्यादि, तटस्थ लक्षण और (३) मायोपहित, शबल, मायाविशिष्ट, सबीज, इत्यादि सब उपलक्षण हैं। प्रत्येक पदार्थ में प्रत्यगात्मा है और वह शुद्ध ही है। सूर्य के तेज का, वायु के बल का, तथा पृथ्वी के धर्मों का भी अधिष्ठान वही है, भेद इतना ही है कि वहां वहा वह उसी उसी प्रभाव की सत्ता का निदर्शक है। अग्नि का तेज उसी से है, परन्तु चैतन्य वहां जलता नहीं, 'नचैन क्लेदयन्त्याप' (भ. गी २-३) इत्यादि श्लोकों में यही तत्त्व

बताया गया है। हृदयस्थ नारायण वही है जो शरीरयन्त्र का सचालक है, इसीको कार्यब्रह्म या मायाविशिष्ट ब्रह्म कहते हैं, तथापि उसके शुद्धत्व म यत्किंचित् भी विगाड़ नहीं। और अगर विगाड़ होता है, यह मान ल तो उसको ब्रह्म कहेगा कौन ? यह तो 'मूले कुठार ' वाली बात है। प्रक्रियाकारों ने विशिष्ट और उपहित मे भेद मान लिया है, और कारण यह बताया है, कि विशेषण, पदार्थ की कुछ अश से विकृति बताता है, और उपाधि दूर ही रहती है, उसके धर्म, पदार्थ में ससृष्ट नहीं होते। व्यावहारिक दृष्टि से यह भेद ठीक है, परन्तु ब्रह्मके विषय में यह कल्पना नितान्त असम्बद्ध है, क्यों कि ब्रह्मको विकृत करने की किसी की भी मात्रा नहीं है। पूर्वोक्त उदाहरण से भी विदित हो सकता है कि चन्द्रमा के अन्दर किसी भी औपाधिक या बाह्य विशेषण का प्रवेश नहीं हुआ है। चैतन्य को चाहे विशिष्ट कहो, अवच्छिन्न कहो, मायोपहित कहो, शबल कहो, सबीज कहो, उसमें अणुमात्र अन्तर नहीं, वह * अत्यत शुद्ध ही है।

परब्रह्म के अखण्डत्व तथा एकरसत्व के सम्बन्ध में गत प्रकरण (३०) में स्पष्ट रूप से विवेचन किया गया है। **अद्वैत विज्ञान** की दृष्टि से,

---

* इस पर यह आपत्ति की जा सकती है, कि यदि प्रति स्थान चैतन्य शुद्ध ही है, तो यह शरीरधारी मूढ जीव है कौन ? उत्तर है कि यह चैतन्य नहीं, अनात्मा है, इसका विशेष प्रतिपादन आगे प्रकरण (४७) 'ससारी जीव कौन है' मे किया गया है। श्रुति भी स्पष्ट बता रही है 'एतेभ्यो भूतेभ्य समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य सज्ञाऽस्ति' (बृ ४ ५-१३), अर्थात् इस की उत्पत्ति भूतों से ही है और भूतों के साथ ही इसका नाश है। इस श्रुति का आधार चार्वाक भी बताते हैं, उनके मतमें जड द्रव्यों के मिश्रण से ही जीव बनता है, परन्तु उनके और अद्वैत सिद्धान्त के अभ्युपगमों में विशाल भेद है, उनकी प्रकृति स्वयम्भू और पारमार्थिक सत्य है, हमारी प्रकृति अपरमार्थ है और उसका नियामक चैतन्य है। इतना ही नहीं, समस्त अध्यस्त द्वैत प्रपच को स्वतन्त्र अस्तित्व है ही नहीं, यह हमारा उच्च सिद्धान्त है, और इसीलिए हमारा सिद्धान्त **अद्वैत विज्ञान** इस नाम से विख्यात है।

परब्रह्म में तनिक भी विभाग नहीं माना जा सकता। श्रुति माता ने ऐसे 'नानात्वदर्शन' की कड़ी निन्दा की है, जैसे —यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भय भवति' (छाँ० ६-२-१), 'मृत्यो स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (बृ० ४-४-१९ तथा कठ २-४-११), सनत्सुजातीय ग्रन्थ में भी चेतावनी दी गई है 'दोषो महानत्र विभेद योगे (१-२०)। चैतन्य की किसी प्रकार से बँट नहीं होती, परन्तु कई मध्यकालीन और अर्वाचीन विद्वानों ने उपर्युक्त विशेषणों के अलग अलग अर्थ लगाकर विभिन्नता की एक विचित्र सृष्टि निर्माण की है। वे कहते हैं कि शुद्ध ब्रह्म एक अलग वस्तु है, मायोपहित चैतन्य भी अलग है, और मायाविशिष्ट चैतन्य तीसरी ही कोटि है। मान्य है कि श्रीशङ्कराचार्य ने अपने ग्रन्थों में कहीं कहीं लिखा है कि मायाशबलित या मायोपहित चैतन्य सृष्टि करता है। परन्तु इससे उनका ऐसा कदापि अभिप्राय नहीं है कि वह शुद्ध ब्रह्म नहीं है, अथवा शबलित होने से या उपहित होने से शुद्धब्रह्म विकृत या अशुद्ध होता है। ये विशेषण सज्ञा मात्र है, एक अवस्था बताते हैं, भेद नहीं बताते। परन्तु उपर्युक्त पण्डित गण ने अकारण ही मान लिया है कि ईक्षण से या सृष्टिकर्तृत्व से परब्रह्म विकारी या भ्रष्ट हो जाता है। अतएव उसकी इस क्षति से रक्षा करने के अर्थ इन्होंने शब्दों के अर्थ ही बदल दिये हैं, और व्याकरण शास्त्र को भी कुचल डाला है। कहने को तो ये पूर्वाचार्यों के शब्दों से कह देते हैं कि 'मायोपहित चैतन्य सृष्टि करता है, परन्तु अपने मन ही मन, अर्थ लगा लेते हैं कि माया ही सृष्टि रचती है, चैतन्य निर्गुण असग अक्रिय रहने से उसको इस व्यापार की खबर तक नहीं है। उपर्युक्त वाक्य में 'करता है' इस क्रियापद का कर्त्ता, चैतन्य है, माया का विशेषण लगने से उसको वाक्यार्थ में से उड़ा देना यह तो व्याकरण शास्त्र पर जुल्म है। 'धनुर्धारी श्रीरामचन्द्रजी दण्डकारण्य को पधारे' इसका अर्थ उनका धनुष ही दण्डकारण्य को गया और श्रीरामचन्द्रजी को इसकी खबर तक नहीं हुई, ऐसा अर्थ लगा लेना एक आश्चर्य की बात है।

'इन्द्रो मायाभि पुरुरूप ईयते' (ऋ ६-४७-१८) इस वैदिक सिद्धान्त का भी इन्होंने व्याकरण शास्त्र के विरुद्ध विपरीत अर्थ लगाया है

कि माया ही सब कुछ करती है और इन्द्र याने परब्रह्म तो इस की वार्त्ता तक नहीं है ! याने परमात्मा और उसकी अभिन्न शक्ति में (देखिये पृष्ठ ६१) एक द्वैत की अभेद्य दीवार इन्होंने खड़ी कर दी है जिससे जड़कारणता ही आपन्न होती है ! इसी विपर्यस्त धारणा से इन पण्डितों ने परमात्मा और श्रीकृष्ण भगवान् में पक्का द्वैतभाव ही प्रस्थापित कर रखा है ! क्योंकि इनका काल्पनिक परब्रह्म महात्मा बुद्ध के **शून्यवाद** वाला (देखिए पृष्ठ २२) रहने से वह अवतार नहीं ले सकता ! हमारा धर्म और तत्वज्ञान अतः तैश्वर्यनिकेतन श्रीकृष्णचन्द्र को पूर्ण परब्रह्म मानता है। परन्तु सनातन धर्म की छत्र छाया में पलते और प्रतिष्ठा पाते हुए, उसीके तत्वग्राही सिद्धान्तों के विरुद्ध इन पण्डितों का उत्थान, सैकड़ा वर्ष चलते रहना, यह एक कराल काल की विडम्बना है !

गत इतिहास में भारतवर्ष में बौद्ध साम्प्रदायिकता का शासन कैसा प्रभावोत्पादक रहा और उसका गहरा परिणाम हमारे धार्मिक सामाजिक और राजनीतिक जीवन पर किस प्रकार हो गया इसका उल्लेख पीछे पृष्ठ २५ की टिप्पणी में किया गया है, इसी भँवर में, स्वाभाविक है, कि हमारे पण्डितगण भी आगए, और हमारे प्राचीन दार्शनिक सिद्धान्त बौद्ध तत्वज्ञान में कितने मिलते जुलते हैं इसीको प्रमाणित कर देने में यदि उन्होंने एक गौरव गरिमा का अनुभव किया हो, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। बुद्धशिष्य नागार्जुनने इस ससार की उत्पत्ति '**समष्टिअज्ञान**' से हुई है, ऐसी एक विचित्र और अभिनव कल्पना प्रवर्तित की। इसका विशेष विवेचन आगे चल कर 'अज्ञान जगत् का कारण नहीं' इस प्रकरण में किया जाएगा। परन्तु इस भ्रांतिचक्र में बड़े बड़े पण्डित लोग भी आ गये और हमारे सिद्धान्त में जिसे माया कहा जाता है उसीका यह नाम है ऐसा मान्य होने को देर नहीं लगी। पर प्राचीन प्रभाव, जल्दी नहीं छूटते, इस कारण सबीज ब्रह्म, शबल ब्रह्म, माया विशिष्ट ब्रह्म ये शब्द **समष्टिअज्ञान** के ही नाम हैं ऐसा बौद्ध छापे का मतवाद हमारे समाज में प्रवृत्त हो गया। यह दार्शनिक डाँवाडोल अनेक शताब्दि से चला आ रहा है। बौद्धशासन नष्ट भी हो गया, सनातन धर्म के राज्यों की फिरसे स्थापना भी हुई, कुमारिलभट्ट ने बौद्धमत का विस्तार से खडन भी

किया, अनंतर, श्रीमच्छंकराचार्य ने भी धर्म संस्थापना में बड़ा महत्व प्राप्त कर लिया परन्तु शताब्दियों की यह दुरवस्था और घोर अज्ञान निःशेष कैसे चले जाएँ? आज भी यह बौद्ध टकसाल के विचार हमारे समाज में प्रभावी पाए जाते हैं; फिर सौ सवासौ वर्ष के आगे पण्डित निश्चलदासजी के समय में इन कलुषित मतों का असर कहीं गहरा रहने में संदेह नहीं है। तथापि इन पण्डितों ने बौद्ध प्रक्रियाओं को लेते हुए भी ब्रह्म कारणता ही प्रमाणित की, यह उनके बड़े ही हमारे ऊपर उपकार हैं।

इस अनुपथ में अब, और एक प्रक्रिया विचार के लिये यहा ली जाती है, वह प्रतिज्ञान विषयक है। बौद्ध सम्प्रदाय में जो सौत्रान्तिक मत है, उसमें चित्तरूप विज्ञान के पंच स्कंध माने गये हैं, उनमें एक 'विज्ञान स्कंध' है जो, 'आलय विज्ञान' और 'प्रवृत्ति विज्ञान प्रवाह' ऐसा दो प्रकार का माना गया है।

इसी प्रक्रिया को हमारे पण्डितोंने वेदान्त पुस्तकों में समाविष्ट कर दिया है। धर्मराजाध्वरींद्र इस शुभ नाम के एक बड़े पण्डित ने 'वेदान्त परिभाषा' नामक ग्रन्थ लिखा है। उसके प्रथम 'प्रथम परिच्छेद' में यह पंक्तियाँ हैं :—

'तत्र यथा तडागोदकं छिद्रान्निर्गत्य कुल्यात्मना केदारान्प्रविश्य तद्वदेव चतुष्कोणाद्याकारं भवति तथा तैजसमन्तःकरणमपि चक्षुरादिद्वारा निर्गत्य घटादिविषयदेशं गत्वा घटादिविषयाकारेण परिणमते। स एव परिणामो वृत्तिरिति उच्यते। तथा च 'अयं घटः' इत्यादि प्रत्यक्षस्थले तदाकारवृत्तेर्बहिरेकत्रदेशे समवस्थानात्तदुभयावच्छिन्नं चैतन्यमेकमेव। विभाजकयोरपि अन्तःकरणवृत्ति-घटादिविषययोः एकदेशस्थत्वेन भेदाजनकत्वात्। अतएव मठान्तर्वर्तिघटावच्छिन्नाकाशः न मठावच्छिन्नाकाशाद्भिद्यते।'

अक्षर परब्रह्म निरवयव ज्ञप्ति स्वरूप और प्रज्ञामित् है, इसका याथात्म्य ज्ञान तो बहुत ही दूर है, परन्तु इसके सम्बन्ध में सम्यक् कल्पना भी हमारी

बुद्धि पर आरूढ होना दुर्घट है. हम कहने के समय तो कह जाते हैं कि आत्म-तत्त्व अद्रव्य है निरवयव है इत्यादि, किन्तु फिर भी वह आकाश से भी सुसूक्ष्म और सर्वव्यापी द्रव्यरूप है, ऐसा भाव हमारी बुद्धि पर छा ही जाता है और आकाश को जैसे उपाधि से अवच्छेद होता है वैसे चैतन्य को भी उपाधि से अवच्छेद होता है यह बात समापन्न ही होती है। परन्तु चैतन्य की बात और है, और आकाश की बात और है। चैतन्य को देशकाल परिच्छेद नहीं, उसका व्यापित्व भी आकाश के व्यापित्व से कुछ और है, यह बातें हमारी समझ में नहीं आती (देखिये परमात्मा का सर्वव्यापित्व' पृष्ट १२२) परिणाम यह होता है, कि आकाश व दृष्टान्त को हम दार्ष्टान्त ही बना देते हैं और फिर, अन्त करणावच्छिन्न चैतन्य, वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य, प्रमाण चैतन्य, प्रमिति चैतन्य, इत्यादि बड़ा ही प्रपच हमने रच दिया है, जल की भाप जब तक आकाश में अपरिच्छिन्न है, कुछ बल का कार्य नहीं कर सकती, परन्तु वही जब इजन के अन्दर एक विशिष्ट आकार में जकडित की जाता है तो अति बलिष्ट हो कर माल गाड़ियों के बड़े बड़े डिब्बों को सैकड़ों मील खींचती चली जाती है। ठीक इसी जड दृष्टांत की भाँति, सामान्य चैतन्य तो मानों ढीला है, कुछ भी कार्य करने का उसमें सामर्थ्य ही नहीं है, किन्तु वही जब बुद्धि विशिष्ट या वृत्यवच्छिन्न या स्थूल शरीर की उपाधि में जकड़ा जाता है, तो बड़े ही विस्मयकारी कार्य कर डालता है! ऐसा मनोरजक प्रतिपादन विज्ञ वेदान्ती पण्डित भी करते हैं और उससे बड़े धन्य धन्य होते हैं। परन्तु यह सब असमीचीन प्रतिपादन है।

ज्ञानेन्द्रियों के विषय में यह प्रक्रिया बताई जाती है, कि जीवान्तर्गत प्रमातृ चैतन्य, ज्ञानेद्रियों द्वारा अत करण वृत्तियों की प्रणाली से विषय तक पहुँचता है, वहां विषयावच्छिन्न चैतन्य से उसका मिलन और ऐक्य हो जाने पर ही, हमको ज्ञान का साक्षत् होता है। ऐसी उपपत्तियां, तत्वानुसन्धान में बाधाएँ ही उपस्थित कर देतीं हैं। कारण कि वे हमारी चैतन्य विषयक जड भावनाओं को ही परिपुष्ट करा देती हैं! इस पर कुछ पण्डित गण कहते हैं कि चैतन्य का निरवयवत्व और अखण्डत्व हमें मान्य ही

है, परन्तु प्रकरण वशात कुछ प्रमेय समझाने के अर्थ, विविध प्रक्रियाएं स्वीकारनी पड़ती हैं। उत्तर है, कि सिद्धान्त के विरोधी अभ्युपगम भले ही मनोरंजक हों सम्यग्ज्ञान के लिए पुनरा अनर्थकारी हैं, बुद्धि पर विपरीत बात एक बार ठँस गई तो वज्रलेप के समान होती हैं और उनका निराकरण बहुत दुर्घट होता है। ऊपर लिखित प्रतिपादन से यह स्पष्ट होगा कि बौद्धों के 'आलय विज्ञान' और 'प्रवृत्तिविज्ञानप्रवाह' की कल्पनाएं हमारे वेदान्त में कैसी प्रश्रय पा गयी हैं।

हमें ज्ञानेंद्रिया द्वारा विषयों का ज्ञान कैसे होता है, इसके उपलक्ष्य में आधुनिक भौतिक विज्ञान शास्त्र का सशोधन मनोमुग्धकर और विचारणीय है। बाह्य पदार्थ चाहे कोट्यावधि मील दूर हों या कहिये अतिनिकट क्यों न हों, जिसको 'अन्त करण का वृत्ति रूप परिणाम' या चित्तवृत्ति कहते हैं, उसको शरीर के बाहर जाने का कारण ही नहीं होता। प्रक्रिया यह है, कि प्रकाश की किरणें, दृश्य पदार्थ से निकल कर अपनी नेत्रगोलक पर आ पड़ते ही, नेत्र के भीतर जो (Retina) रेटिना नामक पटल है, उस पर दृश्य पदार्थका फोटोग्राफ बन जाता है, और हमारी चित्तवृत्ति को इस फोटो का ही ज्ञान होता है। जो कुछ वृत्ति का प्रवास या व्यवहार होता है, वह शरीर के भीतर, अन्त करण से निकल कर इंद्रियगोलक तक ही मर्यादित है। शब्द ज्ञान की भी यही प्रक्रिया है, शब्द या गाने की हवाई लहरें, चाह कहीं भी उत्पन्न हों, हमारे कर्णपटल पर जब आ गिरती हैं, तब उनका ज्ञान, हमें मस्तिष्क के अन्दर की रासायनिक क्रियासे होता है। चित्तवृत्ति का जो कुछ व्यवहार हो, अन्त करण से मस्तिष्क तक ही मर्यादित है। सूर्य, पृथ्वी से ० २८ कोटि मील दूर है, और चन्द्रमा केवल २ ३८ लक्ष मील दूर है, परन्तु यह प्रचण्ड भेद, हमारी अन्त करण वृत्तिको ज्ञात नहीं होता, साधारणत हम उनको, पृथ्वी से समान दूरी पर ही समझते हैं। इसीसे सिद्ध है कि अन्त करण के वृत्तिरूप परिणामको अन्त करण से निकल कर दृश्य पदार्थ तक जाने की आवश्यकता ही नहीं, यदि होती, तो इस विशाल प्रवास के अन्तर का भी ज्ञान हमें जान पड़ता पर वह नहीं होता, यह तो अनुभव है। निम्न तालिका में

अन्तरिक्ष के कुछ तेजो गोल के अन्तर, और उनसे प्रकाश की रश्मिया धरित्री तक आने का काल दिया गया है वह मनोरजक होगा ।

तेजो गोल का नाम	उसका पृथ्वी से अन्तर	उसकी रश्मिया पृथ्वी तक आने का काल	विशेष
चन्द्रमा	२ ३८ लक्ष मील	१। सेकण्ड	
सूर्य	९ २८ कोटि मील	८॥ मिनट	
व्याध नक्षत्र	४८ पद्म मील	८ वर्ष	
मृग नक्षत्र का लाल तारा	११४० पद्म मील	१९० वर्ष	

इससे परिस्फुट होगा कि चित्तका वृत्तिरूप परिणाम कहीं जाता आता नहीं, और कहीं जाता है तो वह शरीर के भीतर ही । 'मेरी वृत्ति चन्द्रमा तक गई' या 'मेरी दृष्टि व्याधनक्षत्र तक गई' यह एक वाक्प्रचार है, कहने की रूढ़ि है । इसका अर्थ, मेरा मन इन पदार्थो की ओर उन्मुख हुआ अर्थात् इनके विचारों में, मै प्रवर्तित हो गया, इतना ही है ।

गत कालीन ग्रन्थकारों ने तात्कालिक शिक्षा ज्ञान और भावनाओ के अनुसार, अपने अपने विषयों के प्रतिपादन किये हैं, इसमे उनका कोई दोष नहीं है । यह काल की महिमा है । प्रक्रियाएँ किसी की क्यों न हों, वे यथार्थ और मौलिक प्रमेयों की विरोधी न हों, तभी उपयुक्त हो सकती है, अन्यथा वह अहितकारक ही होतीं है ।

आर्य संस्कृति में त्याग की बड़ी महत्ता मानी गई है। हमारे धर्म शास्त्रों में इसके संबन्ध में जितना सम्पूर्णांग, समुज्ज्वल विचार किया गया है, उतना सम्भवतः संसार के इतर धर्मशास्त्रों में विरल मिल सकेगा। हमारी प्राचीन सामाजिक रचना तथा व्यवस्था में त्याग और भोग का सुन्दर समन्वय रक्खा गया है। जिससे प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में शोभा जनक सामञ्जस्य स्थापित कराया जा सकता है।

(३९) *अकर्मण्यता वाद*

त्याग शब्द का अर्थ अपने स्वामित्व की वस्तु दूसरे को दे देना है। वैदिक काल से चले आये यज्ञ विधानों में अग्नि में जो आहुति दी जाती है, उसकी संज्ञा भी त्याग है। हमारे और हमारे समाज के कल्याण के लिए अनेक यज्ञ विधानों में, देवताओं को हवि अर्पण कर सन्तुष्ट करना और उनका अनुग्रह संपादन करना ही, वैदिकधर्म का प्रधान स्वरूप था। इन्हीं के द्वारा अभ्युदय तथा निःश्रेयस की प्राप्ति हो सकती है यही जैमिनि महर्षि की सम्मति रही है।

आर्य संस्कृति में मानव की आयु, यज्ञमय है ऐसी प्राचीन काल से भावना रही है। मानव का जन्म, ऋषि ऋण, देव ऋण, और पितृ ऋण, इन तीन ऋणों को माथे पर लिए हुए होता है, जिसके निराकरण के लिए, पञ्चमहायज्ञों का विधान बनाया गया है। वेदाध्ययन ब्रह्मयज्ञ, तर्पण पितृयज्ञ, होम देवयज्ञ, बलि भूतयज्ञ और अतिथि संतर्पण मनुष्य यज्ञ है। पितरों का ऋण फेरने के लिए प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सी (तै १-११) ऐसी कुटुम्ब परम्परा बनाए रखने की आज्ञा है। भगवान मनु साफ बताते हैं —

१ ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः । ३५

। अधीत्य विधिवद्वेदान् पुत्राश्चोत्पाद्य धर्मत
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् । ३६
(मनुस्मृति अ ६)

जिनकी शिक्षा दीक्षा और भरणपोषण की जिम्मेदारी हम पर है उनकी उपेक्षा करना और केवल अपनी स्वार्थता के हेतु जंगल भगना या सन्यास ग्रहण करना, कर्तव्यपराङ्मुखता और कायरता है। इससे मनोमालिन्य और कर्मबन्ध और दृढ होते हैं। किसी प्रकार से हम कर्मफल विपाकों के नियमों को चकमा नहीं दे सकते। धीरता और सफलता ही हमारे लिये सच्चे तारक हैं। अपने कर्तव्यों को भली प्रकार निपटा कर साधन चतुष्टय की सम्पत्ति से वानप्रस्थ और सन्यास का स्वीकार ही पारिवारिक जीवन का सुयोग्य पर्यवसान है। एवं, आर्य जीवन में 'त्याग' का सूत्र कैसा अनुस्यूत है, स्पष्ट हो सकता है।

त्याग शब्द की व्याख्या श्रीमद्भगवद्गीता में विशेष रूप से याने 'निष्काम कर्म' के उच्च तत्व की दृष्टि से की गई है, जो सारे आर्य धर्मों का मधुर निचोड़ है, पर इसको समझ लेने में बहुत व्यक्तियों को कुछ असमञ्जस होता है। प्रश्न होता है, कि यदि फल भावना ही छोड़ दी जाय, तो मनुष्य से कर्म ही कैसे बनेगा? मैं एम् ए की परीक्षा में अवश्य उत्तीर्ण हूँगा, इस विश्वास की दृढता से ही विद्यार्थी सुयोग्य प्रयत्न कर सकता है। पर यदि उत्तीर्ण होने के विषय में उदासीनता ही बनी रही, तो फिर निष्फलता ही हाथ आना अनिवार्य है।

शंका योग्य है। उत्तर यह है, कि 'निष्काम' शब्द का अर्थ निरुद्देश्य नहीं है। कर्म के दो फल होते हैं, एक साधारण स्वाभाविक फल और दूसरा उदात्त असाधारण फल। पहला वैषयिक होता और दूसरा आध्यात्मिक। निष्काम कर्म को ही कर्तव्य दृष्टि का कर्म अथवा कर्म के लिए कर्म, कहते हैं। यह भोग के लिये नहीं होता। यदि उदात्त अनुदात्त, किसी भी फल की कामना न हो, तो कर्म ही नहीं हो सकता यह आक्षेप सर्वथा योग्य है। अर्थात् उदात्त फल

की आकांक्षा तो अत्यावश्यक है, जानना है कि इसको, शास्त्र की परिभाषा से कामनिक नहीं कहते। आध्यात्मिक उद्देश्य कामना नहीं है।

यही कारण है, जिससे निष्काम कर्म को ईश्वरार्पण बुद्धिवाला कर्म कहते हैं। मेरे सारे कर्म ईश्वर के तुष्टि की लिये हैं, इस उद्देश्य में जो गम्भीरता और प्रसन्नता है, वह दूसरे किसी उद्देश्य में नहीं है।

समझ लीजिये कि आपके गांव में दो बगीचें है। एक आपका है और एक आपके प्रेमी मित्र का। मान लीजिए कि आपके मित्र को एक महत्त्व के कार्य के वश, एक वर्ष के लिये परदेश जाना है, और वह अपना बगीचा आपकी निगरानी में दे देता है। ऐसी दशा में आप अपने मित्र के लिये कितने सजग और सचेष्ट रहेंगे? कदाचित् आप अपने बगीचे की इतनी चिन्ता नहीं करेंगे। आप अपना हिसाब किताब नहीं रखेंगे पर अपने मित्र का पाई पाई का हिसाब रखेंगे और पूर्णतया निगरानी भी करेंगे, क्योंकि, यहा विश्वास सौहार्द और, प्रेम का सम्बन्ध है। एक दृष्टि से यह उदात्त फल की आकाक्षा अर्थात् निष्काम कर्म है, और इसी कारण आपका कर्म भी सुयोग्य होकर सुफल होता है।

अब देखिये, आपके मित्र के बजाय यदि परमेश्वर एक बगीचा आपके सुपुर्द करे तो आपका व्यवहार कितना अधिक मात्रा में मधुर और उत्प्रेरक हो जायगा। आपके मित्र के स्वार्थ के लिये सम्भव है कि आप किसी कामवाले को ठगाने की नियत रखें, पर जहां ईश्वर प्रीत्यर्थ कर्म है, वहाँ तो सब ही जीव उसके घर के रहने से, उनके साथ आपका पूर्ण प्रेम और न्यायनिष्ठता का बर्ताव रहेगा। तात्पर्य, परमेश्वर का यदि काम हो, तो आप उसकी परिपूर्ति शतगुण चिन्ताशीलता से और भक्ति से करेंगे, क्योंकि आपका सच्चा मित्र और कल्याण कर्ता परमात्मा ही है। इसीसे, कर्तव्य के लिये कर्म, या कर्म के लिये कर्म, कहा जाता है। मर्म की बात यह है, कि निष्काम कर्म करने वाले को कर्म के दोनों फलों का लाभ होता है, भले ही उसके हृदय में उनकी आकाक्षा न हो।

यहाँ आशंका हो सकती है कि परमेश्वर के घर का काम ही क्या हो सकता है? निर्गुण की क्या कहें, सगुण भी निर्गुण है उसीके सकल्प से सगुण का प्रादुर्भाव है, '*माया एषा मया सृष्टा यन्मा पश्यसि नारद*' देखिये ब्रह्मसूत्र भाष्य १-१-२०। अर्थात् सगुण के भी कोई निजी हाथ पैर नहीं हैं। उनको न खाने की न पीने की न अन्य कुछ अपेक्षा है। जब वे परिपूर्ण और नित्यतृप्त हैं, तो हम उनको दे ही क्या सकते हैं? एवं उनकी सेवा करना असम्भव है। है तो बात ठीक, परमेश्वर को कुछ नहीं चाहिए, पर एक बात की उन्हें बड़ी आवश्यकता है, वह है अपने भक्तों की परिपालना। इसके लिये वे बड़े तरसते रहते हैं। उनके लिये यह कोई कठिन तो नहीं है, पर वे इसको स्वयं करना नहीं चाहते, और इसमें भी कुछ रहस्य है जो दिव्यदृष्टि महर्षि ही जानते हैं। खैर कुछ भी क्यों न हो, हमारे लिये यह बड़ी सुविधा है, जो भक्तों की सेवा, परमात्मा को पहुचती है। इतना ही नहीं, प्राणिमात्र पर भगवान की करुणा दृष्टि है अतः इनकी हित साधना और सुख साधना मे प्रति दिन प्रयत्नशील रहना, यह भी परमात्मा की सर्वोत्तम सेवा है। किसी भी परिस्थिति में हम क्यों न रहे, हमारे पुरुषार्थ इसी दृष्टि से बने रहने में ही हमारे जन्म की सफलता है। निष्कामकर्म के सिद्धान्त की यही महनीयता है कि उसमें निष्फलता जैसी वस्तु के लिये कोई स्थान नहीं है।

इस प्रकार, ब्रह्मचर्य, गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थाश्रम में शास्त्रसिद्ध कर्म कर करते करते मनुष्य के चित्त की परिशुद्धि हो जाती है, जिसके पश्चात् विविदिषा सन्यास का आश्रम आता है, जिसमें भी कर्तव्य कर्म रहते हैं। अन्त में विद्वत् सन्यास सिद्ध हो जाता है, जिसमें कोई कर्तव्य शेष नहीं रहते। यही सर्वश्रेष्ठ अकर्मण्यता की सिद्धि है। पर इसका अर्थ ज्ञानी पुरुष निरुद्यम होते हों सो बात नहीं। वह सकुचित स्वार्थ की सभी सीमाएँ लाँघ जाता है, अर्थात् उसके सब कर्म, शास्त्र दृष्टि से अकर्म रूप होते हैं। शिष्यों को वह धार्मिक नैतिक और पारमार्थिक शिक्षा अवश्य देता है। वह अनजान नहीं रहता कि देश में सुराज्य की प्रतिष्ठा अत्यावश्यकीय है, कारण उसी जीवनी शक्ति पर धर्म संस्थापना और अध्यात्म विद्या का प्रसार निर्भर करते हैं। और वही प्राणिमात्र

के कल्याण के अव्यर्थ साधन हैं। इस दृष्टि के उसके सब प्रयत्न, वैसे ही **अकर्म** रूप हैं, जैसे भगवान **शंकर** उदाहरण देते हैं, 'यथा भगवतो वासुदेवस्य क्षत्रधर्म चेष्टितम्' (देखिये उनका भाष्य गी अ. २ श्लोक १०)

तात्पर्य वेदान्त शास्त्र इसको **'अकर्तृता'** कहता है, कर्माभाव को नहीं।

परन्तु बड़े दुर्भाग्य की स्थिति है, कि हम लोग कर्माभाव को ही अकर्तृता और नैष्कर्म्य समझ बैठे हैं। बड़े २ प्रकाण्ड पण्डित भी प्रतिपादन करते हैं, कि जीवात्मा में तथा परमात्मा में, किसी दृष्टि से कर्तृत्व या कर्तृता सामर्थ्य कण मात्र नहीं है, और इसी परमोच्चध्येय को हमें पहुँचना है। सुधी पाठक विचार कर सकते है कि **अद्वैत सिद्धान्त** क नाम पर यदि ऐसे भ्रान्त मत रूढ हों, तो क्या अनर्थ हो सकता है। फलस्वरूप, आज भारत वर्ष में इतने गुसाईं, वैरागियों के जत्थे, और इतनी आलस्य पूर्ण बेकार लोगों की सख्या दिखाई देती है, कि जितनी ससार के किसी देश मे नहीं मिलेगी! भीख माग के खाना, और अपनी पूरी आयु को गुमा देना, इतना ही नहीं हो रहा है, अफीम भग, तम्बाकू, गांजा इत्यादि दुर्व्यसनों को बढावा मिल कर, ठगी चोरी प्रवचना *पापाचरण के परिणामों से, समाज के एक बडे विभाग के व्यक्तियों की आयु, मटिया-*मेट हो गई है। सम्भवत इस समय देश मे अन्न धान्य के लाल पड़ने के कारण तथा दारिद्र्यवृद्धि और धार्मिक भावनाओं मे अविश्वास होने के कारण इनकी सख्या में पहले की अपेक्षा कुछ कमी हो गई हो। परन्तु हमारे राष्ट्र और समाज के भविष्यत् प्रगति की दृष्टि से भारतवर्ष की दशा कुछ आशादायक नहीं दिखाई देती है। स्वराज्य लाभ तो हो गया, पर सच्ची स्वाधीनता और ससार के राष्ट्रों में समादरित स्थान की दृष्टि से अभी हम परिसुप्त अवस्था में ही हैं। राष्ट्र के धार्मिक सामाजिक और राजनैतिक अभ्युदय तथा आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए, आवश्यकता है कि हमारे आदर्श, ऊँचे से ऊँचे हो, जो हमको अच्छी तरह सजीवित प्रेरित और प्रभावित कर सकें। हमारे तत्त्वज्ञान का आदर्श यदि उच्चतम हो, तो इन सब क्षेत्रों पर उसका प्रभावोत्पादक सुपरिणाम हो सकता है,

परतु यदि वही ध्रुवतारक, अज्ञानघनघटा से अच्छादित हो, और *अकर्मण्यता* हा आदर्श बने, तो सिवाय आल्स्य और विनाश के, कोइ दूसरी गति नहीं हा सकती।

कोई ढाई हजार वर्ष क आगे समार के सब देशो मे हमारी सस्कृति आदरणीय और अनुकरणीय मानी जाती थी। उम समय हम, औपनिषदिक तत्वज्ञान, (जिसका रहस्य हमारी पवित्रतम पुस्तक श्रीमद्भगवद्गीता में बडी हृदयग्राहिणी रीति से सग्रहीत किया गया है,) के पराक्रमी मार्ग से चलते थे। अज्ञान और अकर्मण्यता का भूत उस समय उत्पन्न नहीं हुआ था, महर्षि मनुजी ने अपनी अनमोल स्मृति में

एतद्दश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन
स्व स्व चरित्रम् शिक्षेरन् पृथिव्या सर्वमानवा
(मनु स्मृ २-२०)

ऐसी गौरव गरिमा की उक्ति लिख कर रक्खी है। इतिहास साक्षी है, कि ग्रीस देश के शासकों के बुलावे पर यहां के कतिपय विद्वान वहा गये थे। हमारे बहुत से विचार ग्रीस देश मे सक्रमित हो गये हैं। इसके अनन्तर बौद्ध और वैदिक धर्मी राजन्यगण तथा प्रजा किस सौन्दर्य सभ्यता और शान्ति से, इस विशाल देश मे रहती थी, सुविख्यात चीनी यात्री फाहियान (इसा सन् ४५८) और ह्यु एन् त्सिऍंग (ईसा सन की सातवीं शताब्दि के प्रारंभ में,) ने जो इस देश में आये थे, और अनेक वर्ष यहां अनेक प्रान्तों में फिरते रहे, अपनी यात्रा के वर्णन में लिख रक्खा है।

यदि हमको हमारी प्राचीन संस्कृति की पुन प्रतिष्ठा करनी है और समार के राष्ट्रों मे सम्मान और प्रभावशालिता प्राप्त करनी है, तो हमको गीता माता के तत्वज्ञान की शरण लेना ही अत्यावश्यकीय है। अत सर्वप्रथम मध्य,कालीन अज्ञानकारणता और अकर्मण्यता के प्रभाव को नष्ट कर देना हमारा कर्तव्य हो जाता है।

ऊपर प्रमाण में ही बताया गया है कि हमारे जो प्राचीन दार्शनिक शास्त्रग्रन्थ हैं, उनमें ऐसी बात नहीं है जिससे ये नासमझियाँ उत्पन्न हों, ऐसी **अकर्मण्यता** का उपदेश मूल वेदों में, दशोपनिषदों में, अथवा भगवद्गीता में कहा भी नहीं है। त्याग का अर्थ कर्तव्य कर्मों को त्यागना कदापि नहीं है। जो कुछ उपदेश है वह कर्मफल के त्याग का है अपनी स्वार्थ लोलुपता के त्याग का है। 'कर्मज्यायोह्यकर्मण' (गी ३ ८) 'नकर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यंपुरुषोऽश्नुते' (गी ३ ४) सक्ता कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् (गी ३ २५) जोषयेत्सर्वकर्माणि (गी ३ २६) उद्धरेदात्मनात्मानम् (गी ६ ५) मामनुस्मर युध्यच (गी ८-७) एतान्यपि तु कर्माणि, कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् (गी १८-६) ऐसे शतशः निस्सन्दिग्ध उपदेश भगवान स्वयं करते हैं। वरन् अर्जुन से उत्तम क्षत्रिय को उचित ऐसा दारुण धर्म्य संग्राम भी कराते हैं। परन्तु आश्चर्य की बात है, कि इसी भगवद्गीता में से 'अकर्मण्यता' का उपदेश साम्प्रदायिक टीकाकार, किसी ना किसी ढंग से निकालने की प्रबल चेष्टा करते आए हैं, जिससे अध्ययनशील पाठकों को बड़ी दिशाहीनता का कारण हो जाता है। चेतन की कर्तृता से **अद्वैत विज्ञान** को कैसे ठेस पहुँचती है, हमारी तुच्छ बुद्धि में नहीं धँसता, विचार करने की बात है, कि चेतन और जड, ये दो विभाग तो सभी आस्तिक नास्तिक मानते हैं, और यदि चेतन में अथवा चैतन्य में कर्तृत्व नहीं है, और जीव जो एक चिदाभास रूप है, उसमें भी यदि कोई कर्तृत्व नहीं है, तो फिर इस संसार में जो हमारी दृष्टि के सामने अपरम्पार हलचल दीख जा रही है, सूर्य, चन्द्रमा, धरणी, और ग्रहतारकगण के सुनियमित परिभ्रमण हो रहे हैं, पृथ्वी पर ऋतु, वर्षा, और वायु का प्रताप अनुभव हो रहा है, नदियाँ बह रही हैं, प्राणियों के तथा मनुष्यों के सतत व्यवहार हो रहे हैं, रेल, जहाज, वायुयान इनके अजस्र व्यवहार, युद्धों की घमासानी, ऐसी नानाविध शक्तियों का जो हुरदंग मचा हुआ है, उसका उद्गम क्या जड़ ही जड है? मान्य है, कि इनमें अनेक व्यवहारों को मनुष्य अपनी अभिलाषा

से तथा काम क्रोधादि दुर्भावनाओं के वश हो कर कर रहा है, परन्तु इसकी परिधि तो अति क्षुद्र है। जगत् के नानाविध अथाह शक्तियों का **अधिष्ठान** एव नियामक और प्रशासक तत्त्व जड़ से परे अर्थात् चैतन्य ही होना अत्यंत युक्तियुक्त है। 'पराऽस्य शक्तिर्विविधैवश्रूयते। स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' (श्वे ६-८) यह तो **अद्वैत विज्ञान** का मौलिक सिद्धान्त है। प्रत्युत, जीवात्मा का स्वरूप भी, अति परिच्छिन्न रूप से क्यों न हो 'ज्ञानबलक्रिया' लक्षण है, इस विषय पर आगे के प्रकरण (४०) 'वेदान्त शास्त्र और परिभाषा' में विशेष रूप से प्रकाश डाला जाएगा,

इस विषय में, एक प्रबल आक्षेप किया जाता है, कि **शङ्कर** भगवान् ने अपने ग्रन्थों और विशेषत गीता के अठारहवें अध्याय के भाष्य में, अपनी अलौकिक प्रज्ञा से जीवात्मा की **अकर्मण्यता** या **अकर्तृता** ही प्रतिपादन की है। इस आक्षेप का उत्तर वेदान्त परिभाषा से सम्बध रखता है अत इसकी विशेष रूप से चर्चा आगे के प्रकरण में की जाएगी।

पर इसका संक्षिप्त रूप से उत्तर यहा पर भी दिया जा सकता है। **शङ्कर** भगवान् दार्शनिक ऊँचे सिद्धान्तों को छोड़, कभी किसी विषय की चर्चा नहीं करते, उनकी जीवात्मा की 'अकर्तृता' उसकी 'साभिलाषता' या निरभिलाषता पर निर्भर करती है, कर्म या कर्माभाव पर नहीं। जीवात्मा यदि तृष्णा या तत्सम उन्मादों के वश में चला जाय, तो उसको कर्म बन्धों से छुटकारा नहीं हो सकता, भले ही वह हाथ पैर जोड़ के बैठ रहे। पर, यदि वह इन उन्मादों पर विजय पाले, तो उसके सारे कर्म **अकर्म हैं**, उसकी **अकर्तृता** या कूटस्थता स्वयंसिद्ध और अक्षुण्ण है, भले ही वह युद्ध जैसा कर्म भी अर्थात् सद्धर्मप्रतिष्ठा और 'सर्वभूतहितेरतत्व' की दृष्टि से करे, ठीक यही न्याय उसकी 'प्रमातृता' के विषय में भी उपपन्न है इस दार्शनिकता की दृष्टि से यदि उनके ग्रन्थों को पढ़ लिया जाए तो विभ्रमों को कोई स्थान नहीं मिल सकता।

मानव समाज की समुन्नति में, नानाविध भौतिक शास्त्रों के आविष्कार और विकास से, जितनी सहायता हुई है, उतनी किसी दूसरे कारणों से नहीं हुई है, शास्त्रजगत की प्रगति का इतिहास और मानव समाज की प्रगति का इतिहास, एक वस्तु है।

(४०) वेदान्त शास्त्र और परिभाषा

यों तो कहा जाता है कि आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है ; परन्तु उस में भी मानव की तीव्र जिज्ञासा वुद्धि एक अपूर्व स्थान रखती है, जिसके फल स्वरूप सतत अनुशीलन और अनुधावन होते हैं, और जिससे शास्त्र की रचना बनती जाती है। अतएव इस मन्थन और विमर्श में जो शब्दों का व्यवहार निश्चित् किया जाता है, उसीको 'परिभाषा' कहते हैं।

किसी भी शास्त्रीय ग्रन्थ को आप उठा कर देखें, तो विदित होगा कि उसकी उन्नति में पारिभाषिक शब्दों ने अद्योपान्त और व्यापक सहायता दी है। उदाहरणार्थ ज्यामिति शास्त्र को देखिये। यदि बिन्दु और रेखा इत्यादि प्राथमिक बातों की व्याख्याएँ निश्चित् न हों, तो आप एक पग भी आगे नहीं बढ सकते। कारण यह है कि बिना ऐसे निश्चय के कोई भी शास्त्रकार अपने मन्तव्य दूसरों को नहीं समझा सकता। कहना न होगा कि परिभाषा की पटरियों पर से हर एक शास्त्र की रेलगाडी अग्रसर होती आ रही है और अपने उद्दिष्ट सिद्धान्तो के स्टेशनों पर पहुँच गई है। यदि पटरियाँ ही स्थिर न हों, तो गाडी आगे बढ नहीं सकती।

शास्त्रजगत् मे वेदान्त शास्त्र का सदा से ही विशेष स्थान बना रहा है। उसकी भी परिभाषा और लक्षण उपनिषत्काल से बने बनाये चले आये हैं, और परवर्ती काल में विषय के स्पष्टीकरण के हेतु मूर्धन्य विद्वानों ने और भी बना कर रखे हैं। एवं, साधकों को आवश्यक है कि उनको हृदयगम कर ले, और सचेत रहे कि उनकी मर्यादाएँ कहीं उल्लंघित न हों। उदाहरण के लिये श्रीगौडपाद अथवा पण्डित निश्चलदासजी अथवा अन्य किसी

प्रकाण्ड पण्डित के ग्रन्थ को लीजिये। श्रीगौड़पाद ने लिखा है, 'आदावन्तेच यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा (दे उनकी माड्क्य उपनिषत् कारिका (६) वैतथ्य प्रकरण) तो क्या उनका यह भाव है कि मै और मेरे सुनने वाले शिष्य ये दो मात्र है, और बाकी कुछ है ही नहीं ? यदि कोई कहे कि 'जब दिवाभाग के पूर्वकाल म सूर्य प्रकाश नहीं रहता, और पश्चात भी नहीं होता, तब वह दिवाभाग में भी नहीं है,' तो क्या यह सिद्धान्त युक्तियुक्त होगा ? किसी दृष्टि से ऐसा उनका विपरीत मतव्य हो नहीं सकता। उनका वक्तव्य जगत् के आत्यन्तिक प्रलय के सिद्धान्त की ओर दृष्टि क्षेप करा रहा है। उनकी अभिमति यह है, कि यहा कोई पदार्थ पारमार्थिक सत्य नहीं है। वेदान्त, दैनंदिन प्रलय खण्ड प्रलय या महाकल्पान्तिक प्रलय को भी कोई महत्ता नहीं देता, क्यों कि ये सब प्राकृतिक है, सामयिक हैं, और आगमापायी हैं। वेदान्त बता रहा है, कि यह जगत् जीता जागता रहते हुए भी नित्यनिवृत्त है, और यही आत्यंतिक प्रलय का स्वरूप और लक्षण है। यह 'सत्कार्य वाद की' प्रक्रिया और परिभाषा है, जिसका समूचा विवरण आगे के प्रकरण (४०) प्रथम अवच्छेद मे किया जाएगा, यहा शब्दों के उत्तान अर्थों को लेकर भागने से काम नहीं बनता पदार्थों के रहते हुए भी जो उनकी ब्रह्मसत्ता से अनन्यता है याने द्वैत रूपता का अभाव है उसीको यहाँ जगत् का अत्यन्ताभाव कहा गया है।

महाराष्ट्र के सुनाम धन्य समर्थ श्रीरामदासजी ने अपने एक ग्रन्थ मे लिखा है: 'अरे जें जालेंचि नाहीं । त्याची वार्ता पुससी काई' (दासबोध ८–३–१) अर्थात् 'जो (जगत्) हुआ ही नहीं उसका वृत्तान्त आप क्या पूछते हो ।' तो इसका मतलब, श्रीरामदासजी भी हुए नहीं और अर्थात उन्होंने ऐसा कुछ लिखा ही नहीं, ऐसा कैसे माना जाय ? बडे खेद की बात है कि ऐसा असम्भाव्य अर्थ हमारे कुछ पण्डित गण लिये बैठे है और उसीमे अपने को धन्य धन्य मान ले रहे हैं।

पंडित निश्चलदासजी के ग्रन्थों के सम्बन्ध मे भी ऐसी ही कुछ पहेलियाँ उत्पन्न होती हैं, जिसके सम्बन्ध मे विमर्श होना समुचित जान पड़ता है,

जो हजारों परमाणु हैं वे भी खोखले हैं, और उनके भी जो सूक्ष्मघटक द्रव्य हैं, वे भी खोखले हैं और अत्यन्तगति से अपनी अपनी कक्षा में चक्कर काट रहे हैं। एवं जिसको हम व्यवहार में घनत्व या घनता कहते हैं, वह केवल आपेक्षिक वस्तु है, इस संसार में सभी पदार्थ अगणित छिद्रोंवाले हैं। परन्तु इससे यह अर्थ नहीं निकलता, कि प्रोफेसर महोदय की चाय की प्याली, छलनी के समान है, और उसमें से उनकी चाय की धाराएँ उनके वस्त्रों पर झर रही हैं? शास्त्रीय भाषा सुयोग्य रीतिसे समझ लेनी है अधूरे वाक्यार्थों से मतलब नहीं निकलता। रसायन शास्त्र की दृष्टि से हीरे या कङ्कर और कोयला, इनमें एक ही 'कार्बन' मूल द्रव्य है अतः शास्त्रज्ञगण हीरे को कूड़ा करकट में फेंक देते हों सो बात नहीं। प्रत्येक शास्त्र अपनी निजी कक्षा में सिरमौर है। भगवान् शंकर ने कहा है 'स्वविषयशूराणि हि प्रमाणानि' (बृ उ २-१-१० का भाष्य) शास्त्र वचन अपनी परिभाषा से नितान्त सत्य हैं, और कोई शास्त्रकार या शास्त्रज्ञ इस मर्यादा के अतिक्रमण की सम्मति नहीं देता। परन्तु अर्धशिक्षित अभ्यासक, विचित्र नासमझी एवं भूल में फँसे पाये जाते हैं। कतिपय वेदान्ती पण्डित कहा करते हैं, कि अजातवाद के सिद्धान्त से, इस संसार में पारमार्थिक और प्रातिभासिक दो ही सत्ताएँ हैं, व्यावहारिक सत्ता है नहीं। तो इसका मतलब यह नहीं निकलता, कि आप अपने ऋण की अदाई, स्वप्न में ही किये चले जाइये, कोई हर्ज की बात नहीं, अथवा मृगजल से ही अपने स्नान पानादि व्यवहारों को चला लीजिये, गंगाजल कचरा भ्रांति रूप है और व्यर्थ है। जानना यह है कि अजातिवाद में जो 'प्रातिभासिक' शब्द का प्रयोग किया गया है वह मृगजल वाली प्रातिभासिकता का संकेत नहीं करता। उसकी कक्षा बहुत ही व्यापक और गम्भीर है। उसमें तो भगवान् रामकृष्णादि महान् अवतारों के कार्य आते हैं। निखिल ब्रह्माण्डों की रचना उसमें आती है, ब्रह्मविद्या के सब मौलिक ग्रन्थ, जिन्होंने वेदान्त साहित्य की श्रीवृद्धि में सुयोग प्रदान किया है, वे भी इसमें हैं। तात्पर्य कार्यक्षमता का उसमें अत्यन्ताभाव है, यह बात नहीं

है। वेदान्त शास्त्र का पठन पाठन और परिशीलन, परिभाषा की दृष्टि से ही होना आवश्यक है। यदि इसमें असावधानी हो, तो उलझनों को कैसा बढ़ावा मिलता है, एक उदाहरण से स्पष्ट किया जाता है।

दन्तकथा है, कि एक समय भगवान् **शंकर** श्री काशीजी की एक रथ्या से जा रहे थे, कि एक उन्मत्त हाथी ने उनका पीछा किया, वे शीघ्रता से बाजू में छिप गये जिससे वह संकट प्रसंग टल गया। इस घटना को देख कर एक पण्डित ने उनसे प्रश्न किया, कि जब आपके सिद्धान्तानुसार हाथी **मिथ्या** है, तो आपको भागने की आवश्यकता ही क्या थी? इस पर उन्होंने उत्तर दिया 'गजो मिथ्या पलायनमपि मिथ्या'। ज्ञात नहीं, यह कथानक कहां तक सत्य है, पर शंकर भगवान् का उपर्युक्त उत्तर, जन साधारण की दृष्टि में समाधान दायक नहीं जचता, वह एक छलवाद सा ही प्रतीत होता है, जो उनकी श्रेष्ठता की दृष्टि से सुयोग्य नहीं दिखाई देता। इस का कारण है, कि **मिथ्या** शब्द का अर्थ 'सरासर झूठ, प्रातिभासिक, भ्रम रूप' यही हमने अपने अन्तःकरणों में गढ़ लिया है। (दे० पृष्ठ २१) परन्तु शास्त्रीय परिभाषा की दृष्टि से इस शब्द का अर्थ 'सदसद्विलक्षण' याने त्रिकालाबाधित सत्य भी नहीं और असत् याने अभाव रूप या झूठा भी नहीं, अर्थात् व्यावहारिकता की मर्यादा तक सत्य, यही है, इस से हट कर कुछ अलग अर्थ लगाना, अपने को और दूसरों को वञ्चित करना है। इस विषय पर आद्योपान्त विवरण आगे प्रकरण (४१) में किया जाएगा। अब इस विचार दृष्टि से देखा जाय तो स्पष्ट होगा, कि **शंकर** भगवान् के उपर्युक्त उत्तर पर कोई दोषा रोपण नहीं हो सकता। वे कहते हैं कि गज का धावा जैसा व्यावहारिक सत्य है, ठीक उसी प्रकार मेरा पलायन भी व्यावहारिक दृष्टि से योग्य है। **मिथ्या** शब्द की व्याप्ति में, केवल जागतिक व्यवहार ही नहीं, प्रत्युत कर्म फल विपाकों के नियम, परमात्मा का प्रशासन, हमारे जन्मकर्मबन्ध, और तो क्या, सर्व वेदान्त-शास्त्र, एवं ब्रह्मसूत्रभाष्यादि प्रस्थानत्रयी के ग्रन्थ भी आते हैं, जो किसी दृष्टि से झूठ नहीं कहे जा सकते। परमात्मा ने मुझे एक महनीय उदारकार्य अर्थात् धर्म तथा अध्यात्मविज्ञान के सदुपदेश और प्रचारकार्य से लोक कल्याण

करन के लिये जन्म दिया है, तो मैं प्राणनाश करने पर क्यों उतारू हो जाऊँ, जिसका परिणाम भवबन्ध में अधिक फस जाने म हा हो सकता है ? अविवेकता स सहसा कुछ का कुछ कर बैठना, या आत्मघात कर लेना, धम दृष्टि से घोर पातक है । हाँ, जहाँ कहीं धार्मिक या आध्यात्मिक विशेष प्रयोजन से प्राणत्याग करना कर्त्तव्य निर्धारित होता है, वहाँ कोइ भी ज्ञानी पुरुष पश्चात् पद नहीं होगा, प्रत्युत मार्गदर्शी ही रहगा ।

स्मरण रहे, कि **मिथ्यात्व** *अर्थात् सदसद्विलक्षणत्व याने जगद्व्यापारों* की व्यावहारिकता का सिद्धान्त 'द्वैतभूमिका' वाला नहीं है । **अद्वैतविज्ञान** की सर्वकषा दृष्टि से ही यह सिद्धान्त निर्धारित किया गया है । 'अद्वैत' का अभिप्राय प्रपच के अभाव या नाश म नहीं है, द्वैत की पारमार्थिकता क अभाव म है, जैसा पहले पृष्ठ ७१ से ७४ तक स्पष्ट रूप से बताया गया है । कौन सी वस्तु पारमार्थिक है, कौनसी व्यावहारिक है और कौनसी प्रातिभासिक या भ्रमरूप है, इसके सम्बन्ध में निर्णय देने का अधिकार उपर्युक्त सर्वंकषा वेदान्त दृष्टि को ही है । श्रुति माता ने अपनी अमर वाणी से प्रतिज्ञा कर रखी है, 'एकेन विज्ञानेन सर्वं विज्ञात भवति' (छा ६-१-३) ऐसी इस शास्त्र की महनीयता आघोषित कर दी गयी है । पर बड़ खेद की बात ह, कि जन साधारण को तो छोड़िये हमारे विद्वानों में भी वेदान्तशास्त्र के विषय में एक अनादर एव उपहास की भावना रूढ हो गइ है, इसका कारण पारिभाषिकता का अज्ञान ही है । 'मिथ्या' शब्द का मम यदि जाना जाय तो आध्यात्मिक विचारों के सवन्ध म कोइ आक्षेप नहीं हो सकता ।

प्रेमी पाठकों को स्मरण होगा कि, हमारी अयथार्थ धारणाओं को सुलझाने के निमित्त, इस पुस्तक के पृष्ठ ६८ पर दाशरथी श्रीरामचन्द्र प्रभु का एक कल्पित उदाहरण दिया गया है । लेखक क एक वेदान्त प्रेमी मित्र की सम्मति है, कि भगवान् रामचन्द्र की द्वैत सत्यत्व' बुद्धि नष्ट नहीं हुइ थी, इसलिये उन्होंने सीतामाता के प्राप्त्यर्थ सुग्रीव से मैत्री, वाली का वध, रावण से युद्ध और उसका प्राणनाश इत्यादि भयानक घटाटोप किया । यदि वे *यथार्थ* ज्ञानी

होते, तो सीतापहरण को भूल जाते और शुक्योगीन्द्र के सदृश दण्डकारण्य में देहान्त तक नग्न, विचरण करते ! इन उद्भ्रात मतों को देख कर हृदय खिन्न हो जाता है। आपके मत से सच्चा ज्ञानी नग्नावस्था में ही रहता है, और जो वैसा नहीं रहता वह केवल द्वैत पन्थी है ! यह भी एक अविद्यारण्य का नमूना है, अधिक क्या कहें ?

गत प्रकरण के अन्तिम विभाग में, जीवात्मा के कर्तृत्व स्वातन्त्र्य के विषय पर, जो आक्षेपकों की ओर से शका उठाई गई थी, उसका उत्तर, सैद्धान्तिक दृष्टि से दिया गया था। अब इस सम्बन्ध में जो और भी सन्देह हो सकते हैं उनका विचार आरम्भ किया जाता है।

कहा जाता है, जीवात्मा का स्वरूप ही बुद्धिस्थ चिदाभास रूप है, वह निर्द्रव्य है, उसमें किसी क्रिया की सम्भावना ही नहीं, और न उसके निजी हाथ पैर हैं, अत जब उसकी अकर्तृता स्वयसिद्ध है, तो फिर उसमें कर्तृत्व सामर्थ्य है, कहके सिद्ध करने और अकर्तृता का दार्शनिक अर्थ लगाने का प्रयोजन ही क्या है ? उत्तर यह है, कि वेदान्त तथ्य दृष्टि का पक्षपाती है, क्रिया राहित्य तो मोटी स्थूलदृष्टि वाली अकर्तृता है, जिसकी ओर वेदान्त सकेत नहीं कर रहा है, उसका कटाक्ष निसारिता के विरुद्ध है, कामक्रोधों के विरुद्ध है, क्रियाएं तो बाह्य आविष्कार रूप हैं, इनके नष्ट होने से कोई मतलब नहीं है, और न वे कभी नष्ट भी हो सकती हैं। भगवद्गीता साफ बता रही है कि 'न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' (गी३ ५) परन्तु इस सम्बन्ध में और भी एक मर्म की बात है, वह यह, कि चिदाभास कितना भी निरवयव हो उसमें क्रिया कारिता नहीं सो बात नहीं। उदाहरण के लिये देखिये जितनी भौतिक शक्तियां हैं, वे भी निर्द्रव्य और निरवयव हैं, अग्नि शक्ति अमूर्त है, परन्तु लाखों खण्डी इन्धन को भस्म कर देता है, और फिर भी निर्लिप्त और अक्षुण्ण रहती है। गुरुत्वाकर्षण शक्ति भी निजी रूप से निर्द्रव्य है, विद्युत् शक्ति भी वैसी ही है, परन्तु क्रियाकारित्व तो इन शक्तियों में अपरम्पार भरा हुआ है। इसी प्रकार जीवात्मा भी एक आध्यात्मिक शक्ति का केन्द्र है, भले ही

जड़द्रव्यों के सामर्थ्य की यह बात है, तो परब्रह्म के प्रशासनादि सामर्थ्य के विषय में संशय ही क्या हो सकता है ?

इस उपलम्भ में, और एक तारतम्य दृष्टि का विचार उत्पन्न होता है। क्षणभर के लिये यदि मान लिया जाय कि जीवात्मा में निजी कर्तृता है नहीं, जो कुछ कर्तृत्व है वह बुद्धि का ही है। तो फिर वह एक बैल के समान हो जाता है। अथवा बुद्धि का किंकर है, ऐसा मानना पड़ता है, और यदि ऐसा हो, तो उस पर कोई दायित्व नहीं हो सकता। हमारा सेवक यदि हमारी आज्ञा से किसी का माल उठा लाए तो चोर हम होते हैं, और मुख्य शिक्षा हमें होनी चाहिये, सेवक को नहीं। इसी प्रकार बुद्धि की वशता में आ कर यदि जीवात्मा, कुछ पुण्य पाप करे, तो उसका मुख्य फल बुद्धि को होना चाहिए। जीवात्मा को नहीं, अन्यथा अकृताभ्यागम और कृतप्रणाश की आपत्ति आती है। और भ्रांति से भी यदि जीवात्मा मान ले कि बुद्धि का किया हुआ कर्म अपना है, तो वह यथार्थ कैसे हो सकता है ? यदि मेरे प्रतिवेशी ने एक दिन, सहस्र विद्वानों को भोजन करा कर सम्मानित किया, और मैं यदि भ्रांति से मान लूं कि मैंने ही यह सब पुण्यकर्म किया है, तो क्या मुझको उसका फल मिलेगा और मेरा पड़ोसी मित्र उससे वंचित रह जायगा ? अथवा हम दोनों भी उसके फल भागी रहेंगे ? यह तो एक विचित्र बात हो जायगी।

तात्पर्य यह है, कि सांख्यों के सिद्धान्तों के भँवर में हमको नहीं आना चाहिये। जीवात्मा अद्रव्यमय होने से भले ही निष्क्रिय हो, उसका कर्तृत्व स्वातन्त्र्य और कारकान्तरप्रयोक्तृत्व सुसिद्ध है, और उसीसे उसके सब पुरुषार्थ बनते हैं इसमें आपत्ति की कोई बात नहीं है।

वेदान्त का विरोध, तृष्णायुक्त वाली कर्तृता से है, निरभिलाप कर्तृता से नहीं, अतः ध्यान रहे कि —

१) कर्तृता का और द्रव्यरूपता का कोई सम्बन्ध नहीं है, बड़े बड़े पर्वत द्रव्यों की राशि रहते हुए भी निष्क्रिय हैं। और सिंह, व्याघ्र, हाथी, स्थूल,

यह स्वय अद्रव्य रूप और अमूर्त हो। उसमे जैसी स्वरूपभूत ज्ञानशक्ति है, वैसी ही सारे शरीर और इन्द्रियों का सम्प्रेरित और सचालित कर देने की क्रिया शक्ति है, जिसका साक्षात् तो सभी को होता है। अर्थात् इसको कोई भी महा पण्डित अमान्य नहीं कर सकता, और न वेदान्त इसका निषेध कर रहा है। यही तथ्य ब्र. सू. (२-३-३७) 'उपलब्धिवदनियम' में स्पष्ट किया गया है। कर्तृत्व शब्द के दो अर्थ होते हैं। एक स्वय हलचल वाला और दूसरा स्वय अद्रव्य रूप होते हुए भी इतर पदार्थों म हल्चल उत्पन्न करा देने वाला सामर्थ्य। उपर्युक्त सूत्र के भाष्य पर श्रीमदद्वैतानन्द की 'ब्रह्मविद्याभरणम्' नामक टीका है, उसमें वे लिखते हैं 'कारकान्तराप्रयोज्यत्वेमति इतर कारकप्रयोक्तृत्वेन क्रियाशून्यत्वमेव हि स्वातन्त्र्यापर पर्याय कर्तृत्वम् तच्च सहायापेक्षस्य न विरुध्यते'। आशय यह है, कि जीवात्मा को कर्म कराने के लिये भले ही इतर वस्तुओं की सहायता लेनी पड़े, उससे कर्तृस्वातन्त्र्य नहीं है यह बात नहीं होती।

इसी सूत्र पर श्रीवाचस्पति मिश्र अपनी भामती व्याख्या म लिखते हैं —'करणादीनिकारकान्तराणि कर्ता प्रयुक्ते, नत्वयकारकान्तरै प्रयुज्यते इत्येतावन्मात्रमस्य स्वातन्त्र्यम्। नतु कार्यक्रियाया न कारकांतराणि अपेक्षते इति। ईदृश स्वातन्त्र्य नेश्वरस्यापि अनभवतोऽस्तीति उत्सन्नसकथ कर्ता स्यात् भामतीकार बडी मार्मिकता से बताते हैं, कि कार्य करने के लिये इतर वस्तुओं की अपेक्षा रहती है इसी कारण यदि जीव का कर्तृत्व स्वातन्त्र्य अमान्य हो तो फिर, ईश्वर का भी स्वातन्त्र्य नहीं है, यह मानना पड़ेगा!!

जडद्रव्यों के सामर्थ्य की यह बात है, तो परब्रह्म के प्रशासनादि सामर्थ्य के विषय में सशय ही क्या हो सकता है ?

इस उपलक्ष में, और एक तारतम्य दृष्टि का विचार उत्पन्न होता है। क्षणभर के लिये यदि मान लिया जाय कि जीवात्मा में निजी कर्तृता है नहीं, जो कुछ कर्तृत्व है वह बुद्धि का ही है। तो फिर वह एक बैल के समान हो जाता है। अथवा बुद्धि का किंकर है, ऐसा मानना पड़ता है, और यदि ऐसा हो, तो उस पर कोई दायित्व नहीं हो सकता। हमारा सेवक यदि हमारी आज्ञा से किसी का माल उठा लाए तो चोर हम होते हैं, और मुख्य शिक्षा हमें होनी चाहिये, सेवक को नहीं। इसी प्रकार बुद्धि की वशता में आ कर यदि जीवात्मा, कुछ पुण्य पाप करे, तो उसका मुख्य फल बुद्धि को होना चाहिए। जीवात्मा को नहीं, अन्यथा अकृताभ्यागम और कृतप्रणाश की आपत्ति आती है। और भ्रांति से भी यदि जीवात्मा मान ले कि बुद्धि का किया हुआ कर्म अपना है, तो वह यथार्थ कैसे हो सकता है ? यदि मेरे प्रतिवेशी ने एक दिन, सहस्र विद्वानों को भोजन करा कर सम्मानित किया, और मैं यदि भ्रांति से मान लूं कि मैंने ही यह सब पुण्यकर्म किया है, तो क्या मुझको उसका फल मिलेगा और मेरा पड़ोसी मित्र उससे वंचित रह जायगा ? अथवा हम दोनों भी उसके फल भागी रहेंगे ? यह तो एक विचित्र बात हो जायगी।

तात्पर्य यह है, कि सांख्यों के सिद्धान्तों के भँवर में हमको नहीं आना चाहिये। जीवात्मा अद्रव्यमय होने से भले ही निष्क्रिय हो, उसका कर्तृत्व स्वातन्त्र्य और कारकान्तरप्रयोक्तृत्व सुसिद्ध है, और उसीसे उसके सब पुरुषार्थ बनते हैं, इसमें आपत्ति की कोई बात नहीं है।

वेदान्त का विरोध, तृष्णासह वाली कर्तृता से है, निरभिलाष कर्तृता से नहीं, अत ध्यान रहे कि —

(१) कर्तृता का और द्रव्यरूपता का कोई सम्बन्ध नहीं है, बड़े बड़े पर्वत द्रव्यों की राशि रहते हुए भी निष्क्रिय हैं। और सिंह, व्याघ्र, हाथी, स्थूल,

द्रव्यरूप रहते हुए भी कार्यकारी है, वायु और समुद्र भी क्रिया कारी हैं।

(२) अग्नि आदि भौतिक शक्तियां निर्द्रव्य होते हुए भी असीम कार्यकारी हैं, उनमें द्रव्य रूप स्फुरण न होते हुए भी इतर द्रव्यमय पदार्थों में प्रचंड दाह और हल्चल करा देने की शक्ति है।

(३) ठीक यही बात जीवात्मा में भी घटित होती है, स्वयं निर्द्रव्य होते हुए भी उसकी कर्तृता स्वयंसिद्ध है। ब्रह्मविद्या से नष्ट होने वाले केवल काम-क्रोधादि विकार और उन्माद हैं, और अनेक जन्मों की तपस्या तथा ब्रह्मविद्या की प्रभाविता से इनका समूल उच्छेद हो जाता है। इसके पश्चात् जीवात्मा की कर्तृता और प्रमातृता नष्ट नहीं होते, परन्तु उनमें तृष्णा का लवलेश भी न होने से, उनको, परिभाषा से अकर्तृता कहने की रीति है। जीवात्मा का अहंकार भी शास्त्रीय या विचाररूप होने से, अनहंकार ही है, 'हत्वापि स इमाल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते' (गीता १०—१७) यही यहां दार्शनिक रहस्य है।

अब प्रश्न होता है, कि अविकारी कर्तृता एवं '**अकर्तृता**' क्या जीवात्मा का स्वभाव है, अथवा दैवी सम्पत्ति उपासना या ब्रह्मविद्या, से उत्पन्न होनेवाली एक अवस्था है? महर्षियों ने इसका उत्तर दिया है, कि जैसे 'अविकारिता' या **कूटस्थता** परमात्मा में स्वाभाविक है वैसे ही जीवात्मा में भी स्वाभाविक है, परन्तु भेद इतना है, कि परमात्मा में वह कदापि अन्तर्धान नहीं होती, और जीवात्मा, रागद्वेषादि विकारों के वश होने से उसकी **कूटस्थता** नष्ट हो जाती है, अतः जीवात्मा यदि अध्यात्मविद्या सम्पादन कर ले, तो उसके काम क्रोधादि उन्मादों के बीज ही नष्ट हो जाते हैं, और फिर उसे यह विकारिता छूने नहीं पाती। उदाहरण के लिये देखिये, पानी में तैरना प्राणिमात्र के लिये स्वाभाविक ही है, परन्तु मानव केवल अपनी अज्ञता से यह दृढ़ भावना लिये बैठा है कि मैं पानी में डूब कर मर जाऊंगा! और

उसी भय से वह मरता भी है, पर जब वह तीरना सीख जाता है, एवं जब उसकी एतद्विषयक अज्ञता नष्ट हो जाती है, तो उसे पानी से कभी भय नहीं होता। ठीक यही प्रकार जीवात्मा की अविकारिता का है। जब वह साम्य-ज्ञान से समझ जाता है, कि अग्नि की जैसी स्वाभाविक अविकारी कर्तृता है, वैसी ही मेरी स्वभावत अविकारी कर्तृता है, जो मेरी आध्यात्मिक उन्नति के लिये बड़ी ही सहायक है, और जीवन्मुक्ति के लिये किसी दृष्टि से बाधक नहीं है। यही न्याय प्रमातृत्व के विषय में भी उपपन्न होता है। साभिलाष प्रमातृत्व ही बाधक है, निरभिलाष जो है, वह अप्रमातृत्व ही है। फलत सांख्य विचारों के भँवर में आने से कुछ काम नहीं बनता। श्रीमच्छंकराचार्यजी के आद्योपान्त गम्भीर विवरण का अध्ययन किया जाय तो यही उनका नि सदिग्ध मन्तव्य स्पष्ट हो जाएगा।

विचार करने की बात है, कि हमारी धार्मिक पुस्तकों में, जीवात्मा की निजी कर्तृता को लक्ष्य कर सहस्रश श्लोकोंपर सुन्दर सुन्दर उपदेश किये हुए हैं, क्या वे भ्रांतिजन्य कर्तृता से सम्बन्ध रखते हैं? भगवद्गीता में भी 'उद्धरेदात्मनात्मानम्' 'युद्धस्व विगतज्वर' 'पाप्मानं प्रजहि ह्येनम्' 'कार्यं कर्म समाचर' ऐसे सैकड़ों वचन हैं, और अन्त में 'नष्टो मोह स्मृतिर्लब्धा' 'करिष्ये वचन तव' यह सब वचन, क्या 'भ्रांतिजन्य कर्तृता' वाले हैं? यह तो पराकाष्ठा की भूल है। भ्रान्ति तो एक मनोधर्म है, जो आवरण विक्षेपों को कारण होती है। पर इन विक्षेपों को जानना, और फिर इनके अनुसार चलना या इनका निषेध या निरोध करना, ये भी तो क्रियाएँ ही हैं। क्या इन क्रियाओं को भी भ्रान्ति ही कर देती है? अत जीवात्मा का तारतम्य ज्ञान और निश्चय स्वातन्त्र्य बरबस मान्य ही करने पड़ते हैं, ये बातें पत्थर में तो नहीं हो सकतीं। यदि जीवात्मा में ही उपर्युक्त ज्ञातृता, या कर्तृता, या कर्तृ स्वातन्त्र्य या सयम स्वातन्त्र्य, या निश्चयस्वाधीनता न हो, तो हमारा सनातन धर्म और सारे पुरुषार्थ विगतार्थ हो जाते हैं। हमारा अध्यात्मशास्त्र ही व्यर्थ हो जाता है। श्रवण मनन निदिध्यासन भी तो क्रियाएँ हैं, यदि जीवात्मा में कर्तृता ही नहीं तो यह काम कौन करेगा? क्षण भर के लिये यदि

मान्य भी किया जाय कि भ्रांति ही कराती है, तो भी करता तो जीवात्मा ही है। यदि श्रवण मनन इसके नहीं, तो फिर उसकी मुक्ति भी नितान्त असम्भव है। एवं सुधी पाठकों को यह स्पष्ट होगा, कि जहां तहां ऐसी सर्वभक्षा अकर्तृता की कल्पना लिये बैठना वेदान्त के शिक्षार्थियों की एक भयानक भूल है। जीवात्मा की ज्ञातृता और कर्तृता स्वयंसिद्ध है, और यदि ये न हों, तो उसके कोई मुक्तिसाधन ही नहीं बन पाते। निषेध, अभिलाषा या तृष्णा युक्त कर्तृताभिमान का है, निजी ज्ञान किया सामर्थ्य का नहीं।

अब परमात्मा की अकर्तृता के सम्बन्ध में कथंचित् विचार प्रस्तुत किया जाता है। श्रुतिमाता ने इनको सच्चिदानंदस्वरूप, निर्द्वन्द्व, निरवद्य, एकमेवाद्वितीय नेति नेति स्वरूप, इत्यादि बताया है 'निष्कलं निष्क्रियं शांतं निरवद्यम् निरंजनम् अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम्' (श्वे. ६-१९) ऐसा इनका गम्भीर वर्णन किया है। यहां, तथा कठोपनिषद् (१-५-९) में, परब्रह्म को अग्नि की उपमा दी गई है, अर्थात् इनका कर्तृत्वसामर्थ्य अक्षुण्ण अव्यय और निर्लिप्त है, यही इस उपनिषत् में दर्शाया गया है। यहां निष्क्रिय शब्द का अर्थ वही है जो अग्नि के सम्बन्ध में पहले बताया जा चुका है, द्रव्यदृष्टि से अंदर कोई हलचल नहीं परन्तु कर्तृत्वसामर्थ्य तो अजस्र है। निष्क्रिय शब्द का अर्थ अपने भाष्य में भगवान् शंकर ने 'क्रियाहीन' नहीं किया है, वरन् 'कूटस्थ अर्थात् अविकारी' किया है, और फिर 'अस्मात् मायी सृजते विश्वमेतत्' (श्वे. ४-९) के भाष्य में 'कूटस्थस्यापि स्वशक्ति वशात् सर्वस्रष्टृत्वमुपपन्नम्' ऐसा स्पष्ट मर्म बता दिया है। परमात्मा की अलौकिक सामर्थ्य के सम्बन्ध में, इस श्वेताश्वतर उपनिषद् में तो ऐसा निस्संदिग्ध वर्णन है, कि उसको हम किसी भी कारण से आँखों से ओझल नहीं कर सकते। परमात्मा की अकर्तृता, अविकारिता रूप है, कर्माभाव या कर्तृत्वाभाववाली नहीं है। वे स्वयं बताते हैं, 'तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्' (गी. ४-१३)

इसपर यह कहा जाता है, कि माण्डूक्य उपनिषत् के सातवें मन्त्र में, परमात्मा को 'अदृश्यमव्यवहार्यम्' ऐसा बताया गया है। ठीक है, परन्तु इसका अर्थ, कर्तृत्वसामर्थ्यहीन कैसे हो सकता है? भाष्य में इसका अर्थ 'अग्राह्य कर्मेन्द्रियैः' ऐसा स्पष्ट दिया गया है, अकर्ता है ऐसा नहीं, क्योंकि पिछले ही मन्त्र में परमात्मा को 'सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, अन्तर्यामी, एष योनिः सर्वस्य, प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्' ऐसा स्पष्ट कहा गया है, और भाष्य में 'सभेदं जगत्प्रसूयते' यह भी निःसंदिग्धता से बताया है। परमात्मा का जगत्कर्तृत्वसामर्थ्य पारमार्थिक सत्य है, चाहे उतने, सृष्टि और जगदन्त-पाती सब व्यवहार, अपारमार्थिक हों। दृश्य पदार्थ भले ही अपारमार्थिक हों, द्रष्टृत्व तो पारमार्थिक सत्य है; क्योंकि अभाव का भी द्रष्टृत्व परमात्मा का ही है। 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ—श्रोतृ—मतृ—विज्ञातृ' (बृ ३-८-११) न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते' (बृ ४-३-२३) 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' (बृ ४-५-१५) ध्यान रहे कि विज्ञातृत्व का अर्थ अविज्ञातृत्व नहीं हो सकता, जैसा कि कुछ अर्वाचीन पण्डित किये बैठे हैं।

अब रही स्फुरण की बात, परमात्मा, निर्द्रव्य, निरवयव होने से उनमें द्रव्य रूप हलचल असंभव है, जैसी कि अग्नि में भी, यह बात तो मान्य है, परन्तु दूसरे पदार्थों में हलचल करा देने की एवं कार्यकरिता की सामर्थ्य नहीं, सो बात नहीं, स्वयं अविचलित रहते हुए भी पदार्थों को **सत्तास्फूर्ति** देना, ईक्षण मात्र से सृष्टि स्थिति लयों को प्रेरित करा देना, ये तो पारमार्थिक सत्य हैं, भले ही प्रेरित पदार्थ जागतिक हों, देखिये प्रकरण (२८) पृष्ठ ५४। हमारा गायत्री मन्त्र, ब्रह्मविद्या रूप है, और वह सवितादेव अर्थात् सृष्टिस्थितिलय करने वाले परमात्मा के, पारमार्थिक प्रेरणा सामर्थ्य को स्पष्ट बता रहा है, भले ही जन्य प्रेरणा अपारमार्थिक हो। जैसे अग्नि और अग्नि की सामर्थ्य में भेद नहीं है, वैसे ही परमात्मा और उनकी प्रेरकता, प्रशासन, नियन्त्रण इत्यादि सामर्थ्य में तनिक मात्र भेद नहीं। उनका आविर्भाव सामयिकता से क्यों न हो, उनकी कार्यकारित्व शक्ति पारमार्थिक सत्य है, और वह परिभाषा से, **अकर्तृता** ही है, क्यों कि उन में तृष्णादि विकारों का नाम तक नहीं है।

इसी स्तोत्र के २५ वें श्लोक के भाष्य में इसकी युक्ति भी उन्होंने बता दी है, वह यह है —

"इद जगत् ब्रह्माभिन्नं तत्सत्तास्फूर्ति नियत प्रकाशज्ञानविषयत्वात्। यत् यन्नियत सत्ता प्रकाशवान् स तदभिन्न यथा तन्तुकार्य पट "

इससे निर्विवाद है, कि 'बाध' का आशय जगत्, ब्रह्म से कभी भी 'भिन्न' नहीं है, यह ज्ञान है। ब्रह्म कारण है, और जगत् उसका कार्य है, कोई भी कार्य, अपने कारण से त्रिकाल 'भिन्न' नहीं रहता, यही सत्कार्यवाद की अपनी अनूठी रीति है, जो आगे स्पष्ट की जाएगी। श्रीमधुसूदनजी ने अपनी व्याख्या में भी 'बाध' शब्द का इसी रीति से व्यवहार किया है, इस विषय की मूलाधार चर्चा छान्दोग्य उपनिषद् में की गयी है। इस के अध्याय ४ खण्ड ३ के आरंभ में ही साफ कह दिया गया है —'सर्वं खल्विद ब्रह्म तज्जलान् इति शान्त उपासीत' सारा ससार ब्रह्म रूप है, क्यों कि ब्रह्म से ही उसके उत्पत्ति स्थिति, और सहार होते हैं, अर्थात् यहाँ निर्विवाद कारणता बताई गई है, नाश का अर्थ यहाँ है नहीं !

उपर्युक्त व्याख्या से यह स्पष्ट होता है, कि जगत् रज्जुसर्प या शुक्तिरजत सी भ्रान्ति वाली वस्तु नहीं है, क्यों कि ऐसी भ्रान्ति तो साधारण व्यावहारिक ज्ञान से ही नष्ट होती रहती है। अर्थात् जगत् एक ऐसी वस्तु है, जिसके सम्बन्ध में हमारी अयथार्थ धारणाएँ केवल ब्रह्मविद्या से ही नाश हो सकती हैं। भगवान् शंकर ने अपने ब्रह्मसूत्र (२-२-२८ तथा २९ के) भाष्य में निर्णय दे रखा है कि जगत् न तो प्रतिभास-भ्रम है, और न स्वप्न। देखिये आगे इसी प्रकरण के परिच्छेद (७) और (४)

' भारतवर्ष में, नैयायिक और वैशेपिक ये दो प्रबल तार्किक सम्प्रदाय हो गये हैं, जिनका सिद्धान्त है, कि अनन्त अपरम्पार और अविनाशी परमाणुओं से उत्पन्न होने वाला जगत् सत्य है, और क्यों कि प्रत्येक कार्य अपने उपादान

कारणों से एकदम भिन्न रहता है, जगत् भी परमाणुओं से अत्यन्त निराली वस्तु है। जिस तन्तु समूह से पट बनता है, वे तन्तु ही कपड़ा नहीं हैं, प्रत्युत कपड़ा, सूत या तन्तुओं से स्वतन्त्र वस्तु है। वह उत्पत्ति से प्रथम कारण में अविद्यमान है। एवं असत् कार्य कि उत्पत्ति होती है। इसको वे **असत्-कार्यवाद या आरम्भवाद** कहते हैं,

नैयायिकों और वैशेषिकों के इस सिद्धान्त के समर्थन में आधुनिक रसायन शास्त्र के अनुशोधनों का दृष्टान्त दिया जा सकता है। ऑक्सिजन और हाइड्रोजन दो विभिन्न वायु के संयोग से, एक तीसरा ही पदार्थ जल उत्पन्न हो जाता है, जो उपादान वायु में पहले नाम को नहीं था, और जिसके गुणधर्म उनसे अत्यंत भिन्न हैं, इस दृष्टि से आरम्भवाद अथवा असद् कार्यवाद सुसिद्ध होता है।

इसके विरोध में सांख्यों का परिणामवाद है, जिसको वे **सत्कार्यवाद** कहते हैं। उनका प्रतिपादन है, कि उत्पत्ति से पूर्व, कार्य अपने कारणों में अवश्यमेव, पर अव्यक्त रूप से विद्यमान है अर्थात् वह अपने उपादान कारणों से कदापि भिन्न नहीं रहता, कार्य की अव्यक्तावस्था का नाम ही कारण है, और कारण की व्यक्तावस्था की संज्ञा ही कार्य है। एवं इन दोनों का भेद भले ही व्यावहारिकता से दिखाई दे, अभेद ही तथ्य रूप और तात्विक है। इसकी पुष्टि में सांख्याचार्यों ने अनेक सारगर्भित युक्तियां दी हैं, जो संक्षेपतः पण्डित ईश्वर कृष्णने—

> । असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्
> शक्तस्य शक्य करणात् कारणभावाच्च **सत्**कार्यम् ।९।

इस कारिका में ग्रथित कर दी हैं।

इस विचार प्रणाली का पर्यालोचन सांख्यों के ग्रन्थों से ही भली भांति हो सकता है। उनके सिद्धान्त से, कारणव्यापार के पहले भी कारण में

कार्य की सत्ता रहती है, अत न तो किसी अपूर्व वस्तु की उत्पत्ति होती है और न विनाश, कर्तृव्यापार से वस्तु का आविर्भाव मात्र होता है और अन्त में फिर से वस्तु, अव्यक्तावस्था को प्राप्त हो कर सूक्ष्म भाव में लीन हो जाती है।

ऊपर जो रसायन शास्त्र की दृष्टि का, आरम्भवाद का समर्थन बताया गया है, उसका प्रत्युत्तर भी दिया जा सकता है, कि यदि अत्यन्त भिन्न कारणों से एक तीसरी अत्यन्त भिन्न वस्तु, जो पहले नाम को नहीं थी उत्पन्न हो सकती है, तो फिर नाइट्रोजन और कार्बन के सयोग से उदक क्यों उत्पन्न नहीं किया जा सकता ? यदि कार्य कारणों में किसी प्रकार का सम्बन्ध या अन्वय ही न हो, तो किसी भी पदार्थ से कुछ भी होता जाएगा, जो एक विचित्र बात होगी। अर्थात् उनमें अवश्य एक **अन्वयक्षमता** रहती है, जिसको मानना अनिवार्य होता है, चाहे आप उसे अनिर्वचनीय कहिये, परन्तु है अवश्य। इसी * **क्षमता** के **अन्वय** या सम्बन्ध को वेदान्त शास्त्र में **तादात्म्य** या **अनन्यत्व** या **अनिर्वचनीय** ख्याति कहा गया है।

---

* इसपर आपत्ति की जा सकती है, कि उपर्युक्त **क्षमता** में भले ही अनाविर्भूत कार्य रहे, उसका जो 'आविर्भाव' होता है, वह तो नया होता है। अर्थात् यही असत् कार्यवाद या आरम्भवाद का सिद्धान्त है। वेदान्त शास्त्र में भी, **माया** को 'अघटित घटना पटीयसी' माना गया है। एव जो नहीं था उसकी उत्पत्ति का स्वीकार करना अनिवार्यता से प्राप्त होता है। देखिए, एराप्लेन जो पहले नहीं था, अब बन गया है। परमाणुओं के भीतर जो विराट शक्ति है, उसका आविष्कार भी एक अभूत पूर्व बात है। उत्तर यह है, कि यहाँ मानव बुद्धि द्वारा होने वाला गवेषणाओं का प्रश्न नहीं है। मानव को जो अज्ञात था वह अब ज्ञात हो रहा है और किया जा रहा है यह सब ठीक है। पर **सत्कार्य** सिद्धान्त इतना ही बता रहा है कि जो कारण में नहीं है, वह उत्पन्न नहीं किया जा सकता। कारण में जो **क्षमता** है, उसमें जैसी कार्य की अवस्थिति है, वैसे ही अनाविर्भाव को आविर्भाव

इसके लिये एक स्थूल परन्तु सुन्दर दृष्टान्त, बीजशक्ति और वृक्ष का दिया जा सकता है। बीज बोने के पश्चात् बीज का आकार तो नष्ट होता है, पर बीज शक्ति तो रहती ही है, और काल पा कर उसी का पूर्णायतन वृक्ष बनता है, तो फिर क्या कहा जा सकता है, कि वृक्ष का निचला हिस्सा कारण रूप बीज शक्ति है, और ऊपर वाला कार्य रूप वृक्ष है? आमूलाग्र बीजशक्ति ही विकास रूप से वृक्ष बन गई है, यहाँ कहीं भी कारण और कार्य में विभाजन या भेद नहीं रहता, यही **'अनन्यत्व'** या **तादात्म्य** सम्बन्ध है। ठीक यही न्याय पानी के बिन्दु में भी उपपन्न है, उसमें भी यह भाग उपादान वायु वाला, है, और यह भाग कार्य रूप, जल है, ऐसी बात नहीं है।

सांख्यों के **'सत्कार्यवाद'** की ऐसी रहस्यग्राहिणी सुन्दर रचना है और आश्चर्य की बात है, कि पश्चिम का भौतिक विज्ञान भी इसी सिद्धान्त की

(पिछले पृष्ठ से अनुवृत्त)

में परिणत कर देने की भी तो **क्षमता** है। यदि वह न हो, तो आविर्भाव बनने ही नहीं पाएगा। उसको मानव क्या करेगा? सम्भवनीयता से ही सम्भव होता है, असम्भवनीयता हो, तो मानव का कुछ वश नहीं चल सकता। **माया** के सम्बन्ध में भी यह कहा जा सकता है, कि जिस घटना को हम अपनी अल्पज्ञता से 'अघटित' कहते हैं वह माया के लिए क्षणमपि अघटित, अर्थात् दुर्घट नहीं है। इस दृष्टि से कोई आपत्ति नहीं की जा सकती।

आगे चल कर बताया जाएगा, कि **सत्कार्य** वाद का मौलिक सिद्धान्त **अद्वैत विज्ञान** का है, सांख्यों का जड़ दृष्टि वाला है, परन्तु हमारा 'चैतन्य कारणता' वाला है। परमात्मा की शक्ति के बाहर की बात, तो कोई हो नहीं सकती। **माया** कोई अलग वस्तु नहीं है, वह तो पारमेश्वरी अभिन्ना शक्ति है, यह पहले ही प्रकरण (३०) परिच्छेद (२) में पर्याप्त रीति से बताया गया है। एवं 'स्वशक्त्या नटवत् ब्रह्म कारण **शंकरो**ऽब्रवीत्' (दे० उपोद्घात प्रकरण ५) यही रहस्यग्राही तत्त्वज्ञान सिद्ध होता है।

ओर दौड़ा जा रहा है। इस विज्ञान में, प्रधानतः दो तत्त्व माने गये हैं एक Matter याने जड़ तत्त्व और दूसरा Energy याने जड़ को गति देने वाला या, उसमें प्रेरणा उत्पन्न करने वाला प्रेरक तत्त्व। जड़ तत्त्वों की अविनाशिता का सिद्धान्त लगभग एक शतक के पूर्व ही निश्चित हो चुका है, इस की प्रयोग द्वारा खोज योरप में, फ्रान्सीसी भौतिक शास्त्रज्ञ 'लॅव्होजिए' ने की, और कोई ६०-७० साल के पूर्व से यह सिद्धान्त हमारी पाठशालाओं में Conservation of mass या Indestructibility of matter इस नाम से पढ़ाया गया और आज भी पढ़ाया जा रहा है। ऊपर के प्रश्नवाले दृष्टान्त में जैसी बीज-शक्ति सर्वव्यापिनी और कुछ काल के लिये क्यों न हो, अक्षुण्ण बनी रहती है, उसी प्रकार इस विश्व में भौतिक मूल द्रव्यों की प्रभाविता अक्षुण्ण बनी रहती है, कितने ही उनमें रचना भेद होते रहें, मूलद्रव्यों का नाश नहीं है।

अब वर्तमान काल में Consrevation of Energy याने प्रेरक तत्त्वों की एकात्म्यता तथा अविनाशिता का एक नया सिद्धान्त निकल आया है। आधुनिक जगत् के विद्वन्मूर्धन्य जर्मन पण्डित प्रोफेसर आलबर्ट आइनस्टाइन का अनुशोधन है, कि इस संसार में एक भी पदार्थ 'जड़' या 'घन' रूप नहीं है। जैसा कि पहले पृष्ट १३३ पर बताया गया है। सभी पदार्थ खोखले हैं, और उनके अन्दर जो हजारों परमाणु हैं, और उनके भी भीतर जो प्रोटान्स न्यूट्रॉन्स और इलेक्ट्रॉन्स हैं, वे सब खोखले ही खोखले हैं इतना ही नहीं, तो वे एक अनूठी आवर्तगति के पुञ्ज मात्र हैं, जो अपनी अपनी कक्षा में अजस्र गति से चक्कर काट रहे हैं। उनमें जड द्रव्य का नाम तक नहीं है। विश्वाकाश (A Unified Electro Magnetic field) एक एकरस

गति त्रिभुवन म रहीं नहीं है । सभी गतियां टेढ़ी ही टेढ़ी हैं, क्यों की उपर्युक्त अद्‌भुत 'विश्वक्षेत्र' का यह स्वभाव है । यथार्थित् कल्पना होने की सुविधा के लिये, कहा जा सकता है, कि जैसी झूले की गति ऊपर की रस्सी के कारण ठीक क्षितिज समान्तर सरल रखा में नहीं रहती, इसी प्रकार सभी पदार्थ इस क्षेत्र के विचित्र आकर्षण विकर्षण के बन्धनों म जकड़े हुए रहने से, अपनी ही गति विधि से चलते । रहते हैं, वे महामना न्यूटन की आज्ञा से सीधे सरल क्यों कर चलने ? तात्पर्य आधुनिकतम गवेषणाओं का निदान है, कि विश्व के सभी पदार्थ, उपर्युक्त प्रभावी क्षेत्र की शक्ति के अविराम विजृम्भण रूप हैं । Matter और Energy विभिन्न नहीं हैं । अर्थात् Conservation of Energy यह एक ही सिद्धान्त अब माना जा रहा है। 'विश्वक्षेत्र' की प्रभाव शालिता अक्षुण्ण बनी हुई है, विजृम्भणों के आकार प्रकारों म भले ही अनन्त भेद क्यों न हों !

प्रेमी पाठक गण अब उसी वृक्ष के दृष्टान्त को लीजिये । उसम जैसा बीजशक्ति का विजृम्भण ओत प्रोत है, कारण शक्ति और कार्य रूप विजृम्भण में कहीं भेद नहीं है, दोनो का 'अनन्यत्व' है, ठीक उसी प्रकार विश्व क्षेत्र की विद्युच्चुम्बकीय शक्ति और उसके विजृम्भण की बात है । यहाँ प्रत्येकपदार्थ चाहे जल हो, वायु हो, जड़ हो, प्रकाश हो, उष्णता हो, या विद्युत् हो, उसी विराट शक्ति केविवर्त रूप या वीचि रूप (Electro Magnetic Wave) हैं । एव सांख्यों के **सत्कार्यवाद** का जो कार्य कारणों के **अनन्यत्व**'का सिद्धान्त है, वही पश्चिम के भौतिक विज्ञान शास्त्रज्ञों को भी अब सम्मत हो रहा है, यह आश्चर्य की बात है ।

अद्वैत विज्ञान का भी यही सिद्धान्त सहस्त्राब्दियों के पूर्व से चला आ रहा है। अति प्राचीन काल में सांख्य और अद्वैत वेदान्त एक ही थे । **शङ्कर** भगवान ने विकृत द्वैत वादी सांख्य का खण्डन किया है, मूलसांख्य सम्प्रदाय का नहीं। श्रीमद्भगवद्‌गीता मूल सांख्य सिद्धान्त की सराहना ही करती है । वही हमारा वेदान्त है । श्री गीता के दूसरे अध्याय में कहा गया है

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत.
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभि ।
(श्री गीता. अ २ श्लोक २६)

यहा हमारे सत्कार्यवाद का मूलतत्त्व है । इसी सिद्धान्त को 'न सता नाश न असतः उत्पत्ति' इन शब्दों से जैन सम्प्रदाय ने स्वीकृत कर लिया है और अनुमान है कि यूनान के तत्त्वज्ञ एम्पिडोक्लीस ने (ईसा सन पूर्व ४९० से ४३०) सम्भवत यहीं से लेकर इस सिद्धान्त को यूरप में अनदित कर दिया। एरिस्टॉटल के शब्दों मे एम्पिडोक्लीस का सिद्धान्त यों है —'Nothing can be made out of nothing and it is impossible to annihilate any thing All that happens in the world depends on a change of form and upon the mixture or seperation of bodies' इसके बाद ईसाकी अठारहवीं शताब्दि के मध्य मे ख्यात नाम फ्रान्सीसी तत्त्वज्ञ लव्होजिए ने इसको प्रयोग द्वारा सिद्ध किया, जिसका उल्लेख ऊपर आ चुका है।

प्रोफेसर आइनस्टाइन 'एक एकरस विद्युच्चुम्बकीय शक्ति' को अखिल प्रपञ्च का उपादान कारण मानते है। पर उनकी इस अजस्र महिमा वाली शक्ति का भी कोई नियामक या प्रशासक है या नहीं, इस विषय मे वे, या पश्चिम का भौतिक विज्ञान, अभी आगे नहीं बढ़ा है। आर्य तत्त्वज्ञान मे अति प्राचीन काल से इस प्रभावशाली शक्ति को अक्षर परब्रह्म के नाम से अभिहित किया गया है, और इसकी सुन्दर वर्णना और प्रशसा वेदो मे तथा उपनिषदों में अनेक स्थानों पर रहस्यस्यन्दि वाणी से की गई है। यह तत्त्व अखण्ड निरवयव एकरस 'नेति नेति' स्वरूप होते हुए भी, 'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' (श्वे उ अ ६ मन्त्र ८) इस प्रकार दर्शा कर, फिर नानाविध उपमा और दृष्टान्त दे कर, इसका सर्वव्यापित्व, प्रभावित्व, सर्वशक्तिमत्व, विश्वरूपत्व, एकमेवाद्वितीयत्व, कारणकारणत्व, मानों पूरा वेदान्त रहस्य इस उपनिषद में वर्णित किया गया है। ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त

१२१ 'हिरण्यगर्भ, समवर्त्तताग्रे' इ यदि में इसका इतना रस विभोर वर्णन है, कि वैसा क्वचित् ही कहीं मिल सकेगा। इस सूक्त की दस ऋचाएं है, जिन मे नौ ऋचाओं मे **कस्मै देवाय हविषा विधेम** यह मार्मिक प्रश्न टेक या ध्रुपद के रूप से किया गया है। मानों मन्त्रद्रष्टा ऋषि प्रत्येक मन्त्र के पहले तीन चरणों में, परमात्मा का रहस्य ग्राही वर्णन कर फिर पूंछते हैं, जानते हो हम किस परा देवता को यज्ञादि कर्मो मे हवि प्रदान कर आराधना करते हैं? प्रथम वर्णन मे ही स्पष्टतया बता दिया गया है, कि यह वही हिरण्य गर्भ रूप परमात्म है जो सुख स्वरूप है, जिसने इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि की है, जो सब का स्वामी है, आत्मज्ञान देनेवाला है, एकमेवाद्वितीय है, स्वर्ग पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा, आदि का धारक है, और जिस के कारण देदीप्यमान सूर्य, की भी शोभा प्राप्त होती है, इत्यादि इत्यादि। यहा उपर्युक्त महर्षि के वाणी की अकृत्रिमता और सजीवता ने अपने भावों को इतना सुस्पष्ट और हृदयग्राही बना दिया है, कि पाठक का अन्त करण रहस्यमय तथा उज्ज्वल कल्पनाओ से परिपूर्ण हो जाता है। इस सूक्त की सरल मनोहर भाषा और उच्च आभामय विचारों को देखकर, पश्चिम के बड़े बड़े विद्वान दंग रह गये हैं।

नेति' स्वरूप ब्रह्म और दृश्यमान जगत् इनका **अनन्यत्व** या **तादात्म्य** सम्बन्ध सिद्ध करता है। अपने अपरोक्षानुभूति स्तोत्र में, भगवान् **शङ्कर** कहते हैं :—

। उपादानं प्रपञ्चस्य ब्रह्मणोऽन्यन्न विद्यते
तस्मात्सर्वप्रपञ्चोऽयं ब्रह्मैवास्ति न चेतरत् । ४५

। ब्रह्मैव सर्वं नामानि रूपाणि विविधानि च
कर्माण्यपि समग्राणि बिभर्तीति श्रुतिर्जगौ । ४८

जैसे वृक्ष के दृष्टान्त में, वैसे ही यहां भी अमुक भाग केवल कारण ब्रह्म है, और अमुक भाग केवल कार्य रूप है, ऐसा विभेद नहीं है। पर इतना भेद तो अवश्य है, कि इन अनन्त ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति स्थितिलय करने पर भी कारण ब्रह्म में कोई विकृति नहीं हो पाती। इस लिये **अद्वैतविज्ञान** अपने सिद्धान्त को अविकृत परिणाम या **विवर्तवाद** कहता है। जगत्, ब्रह्म का कार्य अवश्य है, पर वह कोई अलग वस्तु नहीं है, जो नैयायिकों या वैशेषिकों के जगत् की भाति, जैसे घट में बेर, वैसे ब्रह्म वस्तु में, समवाय सम्बन्ध से, या संयोग सम्बन्ध से, या आधार आधेय सम्बन्ध से, उत्पत्तिस्थितिलय पा सके।

जिस प्रकार इन्द्रजालिक अपनी जादू के द्वारा, विचित्र पदार्थ उत्पन्न करता है, ठीक उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा **'मायावीव** विजृम्भयत्यपि महायोगीव यः स्वेच्छया' (दक्षिणामूर्तिस्तोत्र श्लोक २) अपनी **स्पन्द शक्ति** के द्वारा, सृष्टि की उत्पत्त्यादि करते हैं। **अद्वैतविज्ञान** के इस अभिराम रहस्य से जो अनभिज्ञ हैं, उन व्यक्तियों के लिए भले ही यह जगत् अपनी अलग सत्ता वाला दिखाई दे, परंतु रहस्यज्ञानियों के लिये वह ब्रह्म सत्ता से 'अनन्य' है, और व्यामोह का विषय नहीं है। यही अनन्यता सिद्धान्त सुचारु रूप से 'तदनन्यत्वमारम्भण शब्दादिभ्यः' ब्र. सू. २-१-१४ के भाष्य में **शङ्कर** भगवान् ने चर्चित किया है। यही मौलिक आभामय तत्त्व श्रीमधुसूदनसरस्वतीजी

अपनी **मिथ्यात्व** की व्याख्या मे बता रहे हैं। मानो व नैयायिकों को और वैशेपिकों को उन्हीं की न्याय जटिल भाषा में प्रत्युत्तर दे रहे है। वे कहते हैं, कि 'सत्त्वेन प्रतीतर्हं जगत् नहीं है सो बात नहीं, परब्रह्म से विभिन्न सत्ता वाला जगत, ब्रह्मसत्ता मे, समवाय, या सयोग, या आधाराधेय, सम्बन्ध से त्रिकाल नही है। प्रतिपन्नोपाधौ और सत्त्वेन प्रतीत्यर्हम् यह दो विशेषण लगा कर बौद्धों को बता रहे है, कि जगत् शून्याधिष्ठित अथवा शशशृंग रूप नहीं है। **सत्कार्यवाद** का यही तत्व है, कि कारण और कार्य मे कहीं जोड़ नहीं होता, आमूलाग्र वे एक रस रहते है। कारण का आत्मभूत कार्य है, और कार्य के आत्मभूत ही कारण है। उनका **तादात्म्य** या **अनन्यत्व** सम्बन्ध है, आश्रय आश्रयी या आधाराधेय सम्बन्ध नहीं। उपर्युक्त ब्र सूत्र पर व्याख्या करते हुए मेधावी विद्वान वाचस्पति मिश्र ने अपनी हृदयग्राहिणी भाषा से एक चुटीली, एव मर्म की बात बताई है। व लिखते है, 'नखलु अनन्यत्वम् इति अभेद ब्रूम, किन्तु भेद व्यासेधाम ', अर्थात् जगत है नहीं सो बात नहीं ब्रह्म व्यतिरिक्त यहा एक भी पदार्थ नहीं है, यह **अद्वैत सिद्धान्त** है।

यहा और एक मर्म की बात बताने की आवश्यकता है, वह यह कि बहुत से लोग 'विवर्त वाद' को प्रतिभास वाद या आभास वाद कहते हैं, पर यह समीचीन नहीं है। **अद्वैतविज्ञान** का **सत्कार्यवाद** ही उसका **विवर्त** सिद्धान्त है। स्वयं श्रुति ने, मृत्तिका सुवर्ण और लोह इन पदार्थो के दृष्टान्त दिये हैं, कोई भ्रमवाले दृष्टान्त नहीं दिये हैं, देखिये छान्दोग्य उ ६ १ ४। **सत्कार्य** वाद का सुचारु रूप से प्रतिपादन छान्दोग्य उ छठवे अध्याय के द्वितीय खण्ड मे आया हैं, ब्रह्म रूप कारण ही, अनन्त आकारो को धारण कर यहां हमको जगत् रूप से दिखाई द रहा है। भाष्य के शब्द हैं — 'सदेव (ब्रह्म एव) सस्थानान्तरण (आकारान्तरेण) अवतिष्ठते यथा सर्प कुण्डली भवती यथाच मृत् चूर्ण पिण्ड घट कपालादि प्रभेदैः'। श्रीविद्यारण्य स्वामी ने भी इसी सत्कार्य वाद की सुन्दर चर्चा अपनी 'पञ्चदशी' के प्रकरण १३ मे की है। उनके निम्न श्लोक —

। इदुग्गोधे पुमथा मनमद्वैतवा दनाम्
मृद्रूपस्यापरित्यागात विवर्तत्वं घटे स्थितम् । ४८

। परिणामे पूर्वरूप त्यजेत्तत्क्षीर रूपवत्
मत्सुवर्णं विवर्तेत घटकुण्डलयाने हि । ४८

स्पष्टतया बता रहे हैं कि हमारा '**सत्कार्यवाद**' ही **विवर्त** वाद है, वह बौद्धों जैसा भ्रान्ति या प्रतिभास वाद नहीं है। भगवान् शङ्कर अपने ब्र सू २–१–१८ के भाष्य में 'न हि देवदत्त सङ्कोचित हस्तपाद प्रसारित हस्तपादश्च वस्त्वन्यत्व गच्छति स एवेति प्रत्यभिज्ञानात' ऐसा लिखते हैं। एवं **विवर्त** वाद मिथ्यात्व का सङ्केत नहीं करता जैसा कि उपोद्घात प्रकरण में दिखाया गया है। श्रीअमलानन्द की अभिमति में 'स्वशक्त्या नटवद् ब्रह्म कारण शङ्करोऽब्रवीत्' यही ब्रह्मकारणता सिद्धान्त है।

(२) परिच्छेद जगत् भ्रम नहीं है

कई ग्रन्थों में **मिथ्या** शब्द की व्याख्या 'ज्ञान निवर्त्य' कह कर की गई है। पर वह सुसगत नहीं हो सकती, क्योंकि 'ज्ञाननिवर्त्य' केवल अज्ञान अथवा भ्रम ही हो सकता है। भगवान् **शङ्कर** स्पष्ट तया बताते हैं, 'न हि क्वचित्कदाचित् वस्तुधर्मस्य अपोढा दृष्टा कर्ता वा ब्रह्मविद्या . ...विज्ञानस्य च मिथ्या ज्ञान निवर्तकत्व व्यतिरेकेण अकार-कत्वमित्यवोचाम' देखिये सू १–४–१० पर का उनका भाष्य। ससार में प्रति-भास, भ्रम, अध्यास, तो होते हैं, पर इस विराट प्रपंच की अपेक्षा वे नगण्य हैं। अगणित नक्षत्र तारक, हजारों पहाड़ पर्वत, सैकड़ों नद नदियां, अरबों वृक्षलताएँ, पञ्चमहाभूतों का अथाह विस्तार, ये किसी भी ज्ञान से निवृत्त नहीं होने वाले हैं, अर्थात् वे भ्रम नहीं हैं। इनके सम्बन्ध में जो हमारा अयथार्थ ज्ञान है वही ज्ञान से निवृत्त होता है और वह तो केवल हमारे मस्तिष्क में है, बाहर कहीं नहीं है। रज्जुसर्प, रज्जु में नहीं, वह हमारे मन के अन्दर है, क्योंकि वह केवल भ्रान्त मनुष्य को ही प्रतीत होता है, दूसरे किसी को नहीं। भ्रम तो

केवल मनोधर्म है। शास्त्र स्पष्ट बता रहा है, 'शोकमोहौ मनोधर्मौ,' अज्ञान भी मोह में आता है, ये कोई बाहर वाले पदार्थ नहीं हैं, और न ये किसी पदार्थ के अन्दर निवास करते हैं! एवं अखिल ईशसृष्ट प्रपच कथमपि अज्ञान या भ्रम नहीं हो सकता।

सारे का सारा जगत् भ्रम है, ऐसा तत्त्वज्ञान बौद्धो का है, हमारा नहीं। किन्तु एक विचित्र अज्ञान से हमारे मध्यकालीन और अर्वाचीन पण्डितों ने इसी धारणा को अपना लिया है! यही कारण है, कि इनके ग्रन्थों में, जगत् के सम्बन्ध में, जगद्विभ्रम, जगत्प्रतिभास, ज्ञान निवर्त्य, बाधयोग्य, इत्यादि शब्द आते हैं। प्रतिभास का लक्षण अद्वैतसिद्धि में 'ब्रह्मज्ञानेतर बाध्यत्वम्' ऐसा किया गया है। व्यावहारिक ज्ञान से ही यह नष्ट हो जाता है, अर्थात जगत् प्रतिभास या भ्रम नहीं है। शङ्कर भगवान् अपने ब्रह्मसूत्र "नाभाव उपलब्धे" (२-२-२८) के भाष्य में पदार्थों का व्यावहारिक सत्यत्व प्रमाणित करते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता का भी यही अभिमत है (देखिये आगे परिच्छेद ५), बाध के सम्बन्ध में परिच्छेद (१) पृष्ठ १४५ पर स्पष्ट विवेचन किया गया है।

कई पण्डितों का यह विवाद है, कि वेदान्त भाषा अलग है, और व्यावहारिक भाषा अलग है, अत जगत् को प्रतिभास, वेदान्त भाषा से, कह सकते हैं। वेदान्त और व्यवहार भले ही अलग हों भाषा मे विरोध रहना उचित नहीं है, मृगजल प्रतिभास है पर गगाजल प्रतिभास नहीं कहा जा सकता. दोनों अपरमार्थ हैं, किन्तु शास्त्रदृष्टि से एक व्यावहारिक सत्य है और दूसरा असत्य प्रातिभासिक है। वेदान्त भाषा और व्यवहार भाषा विरोधिनी नहीं हो सकती वेदान्त ब्रह्म को परमार्थ सत्य कहता है इसमें व्यवहार का क्या विरोध है? प्रत्यगात्मा ब्रह्म है, दृश्य अहंकार अब्रह्म है, ऐसा कहता है, इससे व्यवहार का क्या बिगड़ता है? वैषयिक सुख अशाश्वत हैं यह बताता है, यह तो अज्ञजनों को भी मान्य है 'नेह नानास्ति किंचन,' ब्रह्म में नानात्व है नहीं, और यहां एक भी वस्तु ब्रह्म सत्ता से पृथक् नहीं ऐसा कहता है, इसमें भी व्यवहार का क्या

विरोध हो गया ? व्यवहार में जो तत्त्व अज्ञात हैं उनको भी वेदान्त बता देता है, पर इससे कोई विरोध नहीं होता। हाँ अगद् व्यवहार का वेदान्त कट्टर विरोधी है जैसा कि हमारा धर्म शास्त्र भी है। वेदान्त की दृष्टि

> (प्रज्ञाप्रसाद मारुह्य अशोच्य शोचतो जनान्
> भूमिष्ठान् इव शैलस्थ सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति ।
> (पातजल योगसूत्र १—४७)

ऐसी विशाल और विशुद्ध होती है। वह व्यवहार को समझती है और परमार्थ को भी जानती है, शिष्य कहा भ्रान्त है और कहां नहीं सठीक समझती है। वेदान्त का सच्चा ज्ञानी सदाचार का विरोध क्यों करेगा ? हाँ भ्रान्त धारणाओं और जघन्य आचार विचारों का तो वह, अवश्य विरोधी है।

परिच्छेद (३) जगत् के त्रैकालिक अत्यंताभाव की विचित्र कल्पना

अद्वैत तत्व ज्ञान के अभ्यासकों और पण्डितों में जगत का त्रैकालिक अत्यंताभाव ' 'यद्दृष्ट तन्नष्टम्' 'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा' 'इद जगत् नास्ति नाभून् न भविष्यति' ऐसी डके की चोट उद्घोषणा की जाती है, और इस जगन्नास्तिता वाद की सर्वापेक्षा प्रधानता स्थापित करने के लिये बडी स्पर्धा हुआ करती है। इसे देख अभ्यासक और साधक हैरान होते हैं, और इन आडम्बर वाले वचनों का क्या अर्थ लगाना उनकी समझ मे नहीं आता, यह कौतूहल जनक सार्वभौम अभाव की प्रक्रिया वेदान्त शास्त्र में कैसी जटिलता उत्पन्न करती है, इस पर पिछले परिच्छेद (१) में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। अब और कुछ विमर्श किया जाता है। पहले तो यह समझना है, कि यह चर्चा अद्वैत शास्त्र की नहीं है।

वैशेषिक तथा नैय्यायिक मतों से इसका सबन्ध है। ये सम्प्रदाय द्वैतवादी हैं, विविध पदार्थों को पारमार्थिक सत्य मानते है। अर्थात् परस्परापेक्ष अथवा परस्पर संसर्ग या सम्बन्ध के अभाव कितने प्रकार के हो सक्ते हैं, यह उनकी खोज है। **अद्वैतविज्ञान** मे एक ही ब्रह्म पारमार्थिक सत्य है इतर

नहीं हो सकती।

वेदान्त ग्रन्थों में जगत् को स्वप्न का दृष्टांत दिया हुआ पाया जाता है। प्रकट है, कि दृष्टान्त एकदेशी ही रहता है, वह दार्ष्टान्त नहीं हो सकता, स्वप्न और जागृति का शास्त्र से ही विरोध सिद्ध है; स्वप्न में काल का ज्ञान नहीं रहता, अगला पिछला स्मरण नहीं रहता; व्यवहार में स्मरण और प्रत्यभिज्ञा रहती है। स्वप्नव्यवहार जागृति में नष्ट होता है, किन्तु स्वप्न की स्मृति रहती है, उस प्रकार स्वप्न में पूर्व जागृति की स्मृति नहीं रहती, जागृति में जगत् के बड़े बड़े कार्यक्रम नियम शृंखला से चलाए जाते हैं; उनका वृत्तान्त तैयार किया जाता है, रिपोर्ट छपते हैं, अनेक देशों से पत्र व्यवहार, लेन देन, प्रवास, परिषदों के अधिवेशन, इत्यादि इत्यादि बहुविध कार्य प्रणालियां अनुसधान के साथ वर्षानुवर्ष जारी रहती हैं, स्वप्न में यह कुछ रहता ही नहीं। जैसा कि रज्जुसर्प के प्रकरण में स्पष्ट किया गया है. स्वप्न और जागृति में समानता अत्यन्त अल्प मात्रा में है, अर्थात् साधकों को सचेत् रहना चाहिए कि ऐसे दोषयुक्त दृष्टान्तों के चक्कर में न आऍं। इस विषय में ब्रह्म सूत्र 'नाभावः उपलब्धेः' (२-२-२८) और 'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्' (२-२-२९) इनके भाष्यों में स्पष्टतया निर्णय दिया गया है। पहले में बाह्य पदार्थों का व्यावहारिक सत्यत्व सिद्ध कर दिया है, और दूसरे में जगत् स्वप्न है, इस भ्रान्त धारणा का साफ निराकरण कर दिया गया है। हमको चाहिए कि हम सैद्धान्तिक दृष्टि का अवलम्बन करें। दृष्टान्त तो दार्ष्टान्त बना कर जगत् का प्रातिभासिकत्व सिद्ध करने के लिए अट्टहास करते रहना, अपनी और दूसरों की सरासर वंचना करना है। दुर्भाग्य है, कि ऐसी भुलावा देनेवाली भाषा हमारे वेदान्त ग्रन्थों में अनर्गल लिखी गई है, जिसके परिणामस्वरूप हमारी भ्रांति ही बढ़ी है। हिटलर कहता था- कि झूठ क्यों न हो, बार बार ऊंचे स्वर से कहते चले जाइए, कालान्तर से वही सच्चा प्रतीत होता है। बस, यही अनुभव वेदान्त में भी आ गया है।

परीच्छेद (४) जगत् स्वप्न नहीं है

श्रीमद्भगवद्गीता की दृष्टि से जगत् को असत्य नहीं कहा जा सकता। जगत् को झूठ कहना आसुरी वृत्ति है, इस विपरीत भावना से अल्पबुद्धि लोग दुराचारी बनते हैं, जिसका परिणाम नाश में ही होता है। गीता के १६ वें अध्याय में यह श्लोक है —

परिच्छेद (५) श्रीमद्भगवद्गीता की दृष्टि से जगत् व्यावहारिक सत्य है

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च
दैवो विस्तरश प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ।६

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुरः
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्
अपरस्परसंभूतं किमन्यत् कामहैतुकम् ॥८॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥९॥

निष्कर्ष यह है, कि जगत् को मिथ्या अर्थात् सदसद्विलक्षण कह सकते हैं, किन्तु उसे अभाव रूप, झूठ प्रातिभासिक, प्रतिपादन करना, अद्वैत सिद्धान्त के विरुद्ध है, असत्य का तात्पर्य अगर त्रिकालाबाधित सत्यत्व है, तो उसे कोई नाहीं नहीं करेगा, किन्तु बिना शब्दों की व्याख्या किये, कुछ का कुछ कह देना ठीक नहीं है। श्रीमद्भगवद्गीता जगत् को व्यावहारिक सत्य मानती है। इसी लिए जगत् को असत्य मानने वालों की उसने कठोर निन्दा की है।

बहुत वेदान्ती सज्जनों की धारणा है, कि जगत् एक आरोप है। परिभाषा की दृष्टि से इसके दो अर्थ होते हैं —

परिच्छेद (६) जगत् आरोप है क्या ?

(१) आहार्य आरोप; जैसा प्रतिमा या किसी आलम्बन में अपने इष्ट देवता या शिव विष्णु आदि की भावना करना और भक्ति भाव से पूजा, अर्चा, करना। ये तो जानबूझ कर की हुई उपासनाएँ हैं। इनमें अपने को या दूसरों को फँसाने की बात ही नहीं है, अर्थात् यह भ्रम नहीं है। आहार्य आरोप के दूसरे उदाहरण 'सिंहो माणवकः', 'आयुर्वै घृतम्' इत्यादि हैं, जो भ्रम नहीं हैं। ये तो साहित्यिक अलङ्कारिक भाषा मात्र है।

(२) अनाहार्य आरोप; यह भ्रम है, जिसकी व्याख्या शांकर भाष्य में 'अतस्मिंस्तद्बुद्धिः' की गई है। जहा बुद्धिगत भ्रान्ति से ऐसी भावना होती है, जैसे रज्जुसर्प में, या शुक्ति रौप्य में, वहां पर ही भ्रम होता है। परन्तु जहा जानबूझ कर अंक [१] में बताए प्रकार धारणा की जाती है, वह आहार्य रूप रहने से, उक्त व्याख्या या लक्षण में नहीं आती। वहां वास्तविक 'अतस्मिंस्तद्बुद्धिः' नहीं है। एवम् जब आरोप कर्ता पुरुष स्वयं भ्रान्त होता है, तब ही उपर्युक्त लक्षण घटित हो कर भ्रम की सिद्धि, भ्रान्त पुरुष के मस्तिष्क के अंदर होती है। भ्रम बाहर कहीं भी नहीं रहता जैसा कि पहले पृष्ट ५६ तथा ६९ पर बताया गया है।

अध्यारोप की भी यही बात है, शास्त्रकारों ने 'वस्तुनि अवस्त्वारोपः' ऐसी इसकी व्याख्या की है। अतः जहां भ्रान्ति से ऐसा आरोप किया जाता है, वहा ही भ्रम होता है परन्तु जहां जानबूझ कर अलङ्कारिक वाणी से अध्यारोप द्वारा इष्ट वस्तु का वर्णन किया जाता है, जैसा 'आयुर्वै घृतम्' इत्यादि, वहा अध्यारोप, भ्रान्ति वाला नहीं होता, क्योंकि यहां उपर्युक्त लक्षण ही घटित नहीं होता।

जगत् के विषय में, इस प्रकरण के पहले अनुच्छेद में 'अद्वैतसिद्धि' की व्याख्या से ही स्पष्ट कर दिया गया है कि जगत्, भ्रमरूप आरोप नहीं है। अपिच दूसरे तथा चौथे अनुच्छेद में ब्र. सू. (२-२-२८ तथा २९) के भाष्यों का निर्णय दिया है कि जगत् न तो भ्रम है, और न स्वप्न ही। फिर भी यदि कहा जाए कि जगत् एक भ्रान्त जीव का किया हुआ आरोप है, तो वह युक्ति

सम्पत नहीं हो सकता, कारण, आरोप की सिद्धि के लिए निम्न बातों की अनिवार्य आवश्यकता होती है।

(१) आरोप करने वाला पुरुष।

(२) जिस पदार्थ पर आरोप किया जा सके, ऐसा कोई आलम्बन रूप दृश्य या ज्ञेय पदार्थ।

(३) जिसका आरोप करना है, ऐसे अनेक पदार्थ, और उनका सम्बन्धिक ज्ञान।

एव अग्र आसीत नान्यत् किञ्चन मिषत् । स ईक्षत लोका-नु सृजा इति ' इस प्रकार श्रुतिगत प्रमाण शतश मिलते हैं। ब्रह्मसूत्र ' देवादिवदपि लोके ' (२-१-२५) के भाष्य में स्पष्ट ही बताया गया है, कि चेतन ब्रह्म 'अनपेक्ष्यैव बाह्य साधनम् ऐश्वर्य विशेष योगात् अभिध्यानमात्रेण स्वत एव जगत् सृजति । ऐन्द्र जालिक मायावी के दृष्टान्त का विवरण पहले ही पृष्ठ ४९ से ७३ तक किया गया है । इस मायिक सृष्टि को यदि आरोपित जगत् कहना हो, तो एक दृष्टि से कह सकते हैं। पर स्मरण रहे कि यही तो ब्रह्मकारणता का सिद्धान्त है, यह भ्रमकारणता वाद नहीं है, क्योंकि (१) कोई भी भ्रम परमात्मा को छूने नहीं पाता और (२) जो अनन्त पदार्थ, सूर्य, चन्द्र, तारक, पृथ्वी, आकाश, वायु जल, पर्वत्, नद, नदियां, इत्यादि परमात्मा ने उत्पन्न किए हैं, वे भी भ्रम रूप नहीं हैं । वानस्पत्य जगत् और प्राणि सृष्टि भी भ्रम रूप नहीं है। परमात्मा ने भ्रम को केवल एक ' मनोधर्म ' के रूप में ही उत्पन्न किया है जिसका वास्तव्य मन के अन्दर ही है बाहर त्रिभुवन में कहीं नहीं है । (देखिए पृष्ठ ५३)

शंकर भगवान ने अपने ग्रन्थों में अनेकों स्थलों पर '**अविद्या** ध्यारोपित मिदं द्वैत जातम्' '**अविद्या** प्रत्युपस्थापित नामरूपभेदलक्षण जगत्' ऐसा संसार का वर्णन किया है, परन्तु इस 'अविद्या' शब्द से उनका आशय भ्रम या जीवगत भ्रान्ति का नहीं है, प्रत्युत अभिन्ना पारमेश्वरी शक्ति का है। इसका यथेष्ट विवेचन प्रकरण (३०) परिच्छेद (२) पृष्ठ ६१ पर किया गया है ।

निष्कर्ष यही है कि इस ब्रह्माण्ड मण्डल को **आरोप** परमात्मा की अद्‌भुत लीला, 'लोकवत्तु लीला कैवल्यम्' (ब्र सू २-१ ३३) की दृष्टि से ही कहा जा सकता है । जीव भ्रान्ति या किसी अन्य दृष्टि से नहीं ।

प्रसंगवश यहा एक विशेष उलझन की आलोचना करना अनुचित न होगा । वेदान्त के विचारकों में कैसी कैसी असमंजस धारणाएँ रूढ़ हो गई हैं, देख कर चित्त विस्मय विमुग्ध हो जाता है । जिसके विषय में अब विचार प्रस्तुत किया जा रहा है, वह उलझन भी अपनी ढंग की निराली है, और

बड़ी कौतुक जनक है ! कतिपय प्रकरण ग्रन्थों में लिखा हुआ रहता है —

। अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपंच्यते
शिष्याणां बोधसिद्ध्यर्थं तत्त्वज्ञैः कल्पित क्रमः ।

(देखिए, श्रीविद्यारण्यकृत पञ्चदशी-नाटकदीप, प्रथम श्लोक की टीका)

यह वचन किस महापुरुष का है, ग्रन्थों से पता नहीं चलता । पर उसका सीधा सरल तात्पर्य यही है, कि प्रपञ्चातीत परब्रह्म का निरूपण और विवेचन, क्रमशः दो प्रकार से करने की रीति है, एक अध्यारोप और दूसरा अपवाद । तत्त्ववेत्ता पुरुषों ने ऐसी रीति इसलिए निश्चित की है कि शिष्यों को समझने में सुविधा बने । इस पर प्रश्न होता है कि अध्यारोप की कौनसी रीति है और अपवाद से भी क्या अभिप्रेत है ? बहुत से वेदान्त के तथा कथित पण्डित, यह अर्थ लिए बैठे हैं, कि परब्रह्म के सम्बन्ध में पहले कुछ का कुछ भ्रान्ति रूप आरोप कर देना और फिर उसका खण्डन कर डालना यही विद्वानों की पद्धति है । यह तो बड़ी विचित्र और हास्यजनक पद्धति है ! पहले परब्रह्म के विषय में मन-चाहे अण्ट-सण्ट प्रलाप कर देना, और पश्चात् उनको खदेड़ देना, तो बन गया ब्रह्मविद्या का उपदेश ! इस असम्बद्ध पद्धति की तो त्रिभुवन में उपमा नहीं मिलेगी ! साधारण तारतम्य बुद्धि को भी यह कल्पना ठीक नहीं जँचती, और व्याकरण शास्त्र की दृष्टि से तो बहुत ही अनुपपन्न है । यदि यही मन्तव्य होता तो, '.अध्यारोपस्य अपवादेन' अर्थात् 'अध्यारोपापवादेन' ऐसा, षष्ठी तत्पुरुष समास की तृतीया विभक्ति का एक वचन रहता । परन्तु यहा तो 'द्विवचन' का व्यवहार किया गया है, अत स्पष्ट है, कि यह 'उभयपद-प्रधान द्वन्द्व समास है । जैसे 'बाहुभ्यां नदीं तरेत्' दोनों बाहु से नदी पार करें। ठीक इसी प्रकार 'अध्यारोप' की रीति से भी निष्प्रपञ्च ब्रह्म का निरूपण सुयोग्य रीति से होना उद्दिष्ट है, जैसा कि 'अपवाद' की रीति से । एक झूठा है, और दूसरा सच्चा है, ऐसा अर्थ नहीं है । तात्पर्य, यही 'अन्वय व्यतिरेक' वाली शास्त्रसिद्ध पद्धति है ।

इस परिच्छेद के आरम्भ में ही स्पष्ट किया गया है, कि आरोप दो प्रकार के होते हैं, एक आहार्य और दूसरा अनाहार्य। प्रथम में भ्रान्ति नहीं होती, और दूसरे में आरोप करने वाला पुरुष स्वयं ही भ्रान्त होने से भ्रम की सम्भावना रहती है। पर, जब उपदेष्टा पुरुष स्वयं ही अध्यारोप द्वारा पर ब्रह्म का उपदेश देता है, तो वह भ्रान्तिवाला नहीं हो सकता। वह विधिमुख— अन्वय दृष्टि का ही होना है, और दूसरा 'नेति नेति' अर्थात् अपवाद रूप, उसी निर्गुण निष्फल पुरुष का होता है, जिसका विधिमुख से प्रथम वर्णन किया गया हो। अद्वैतसिद्धान्त से निर्गुण और सगुण में द्वैत भाव को स्थान देना कदापि योग्य नहीं हो सकता।

अब देखिए भगवान् शंकर इस सम्बन्ध में क्या सम्मति रखते हैं। भगवद्गीता अपने तेरवें अध्याय में, आघोषित कर रही है —

> । ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते
> अनादिमत् परं ब्रह्म न सत् तन्नासदुच्यते । १२
>
> । सर्वतः पाणिपाद तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्
> सर्वत श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति । १३

जिस नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव अद्वितीय आत्मतत्त्व के परिज्ञान से अमृतत्व की प्राप्ति होती है, वही आत्मतत्त्व, सर्वव्यापी अनन्त शीर्ष अनन्त हस्त अनन्तपाद इत्यादि इत्यादि है, अर्थात् अमित प्रभाव शाली है, यही यहां बताया गया है। उसको भगवान् शंकर अध्यारोप का प्रतिपादन कहते हैं, परन्तु इससे उनका अभिप्रेत भ्रान्ति का नहीं है। जिन भद्र पुरुषों को यह वर्णन भ्रान्ति वाला प्रतीत होता है, वे भाषा विज्ञान के बहुत दूर है। यह तो एक साहित्य की व्यंग्य वाली भाषा शैली है। पुरुष सूक्त में भी ऐसी भाषा का प्रयोग किया गया है। जिसको साधारण पुरुष भी भ्रान्तिवाला नहीं कहेगा। यदि कोई कहे कि श्रीविद्यारण्य मुनि अपने समय के बड़े धुरन्धर व्यक्ति थे। तो क्या इसका अर्थ वे बैल थे ऐसा समझा जाएगा? धुरन्धर का

शब्दार्थ वैल ही होता है। अध्यारोपित भाषा कैमूरिश उदाहरण ग्रन्थादि ग्रन्थों में पाए जाते हैं, जैसे,—

(१) 'अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्' इत्यादि (ई. उ. मं ३)

(२) 'स पर्यगात् शुक्रम्...कविर्मनीषी ..इत्यादि (ई. उ. मं ८)

(३) 'श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचम् स उ प्राणस्य प्राण चक्षुष चक्षु.' (केन १–२)

(४) 'नित्यो नित्यानाम् चेतनश्चेतनानाम् (कठ ५–१२)

(५) 'अथ य आत्मा स सेतु विधृति एषा लोकानामसम्भेदाय' (छां ८–४–१)

(६) 'तस्योपनिषत् सत्यस्य सत्यं प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्' (बृ. २–१–२०)

(७) 'सर्वाननशिरोग्रीव सर्वभूतगुहाशय' (श्वे ३–११)

(८) 'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रित. '(गी १५–१४)

(९) 'ईश्वर. सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति (गी. १८–६१)

(१०) । आत्ममये महति पटे विविध जगच्चित्रम् आत्मना लिखितम्
स्वयमेव केवलमसौ पश्यन् प्रमुद प्रयाति परमात्मा ।
(श्रीशङ्कराचार्य कृत स्वात्मनिरूपणम् श्लो

इस प्रकार के शतश वचन जो, सम्यग्ज्ञान करा देते है, भ्रान्त नहीं माने जा सकते। वे भाषा के अलङ्कार रूप हैं। जब गीता माता स्वय ही परब्रह्म की अतुलनीय प्रभावशालिता का बखान कर रही है, और बता रही है कि अखिल जड़ उपाधियों को उत्प्रेरित सजीविन और सचालित करने वाली एकमेवाद्वितीय चितिशक्ति है, तो ऐसे वचन, भले ही अध्यारोप की भाषा से किये गये हों, भ्रन्ति रूप समझना नितान्त असमजस है।

'अध्यारोप' भ्रान्तिरूप है, या विधिरूप एवम् यथार्थ ज्ञानदायक है, इसका निर्णय, अध्यारोप कर्ता पुरुष पर निर्भर करता है। यदि वह भ्रान्त मानव हो, तो अध्यारोप भ्रम ही होगा, परन्तु जब ज्ञान दायक श्रुति स्मृतियाँ परब्रह्म के सम्बन्ध मे अध्यारोप की भाषा बरत रही हैं, तो वे यथार्थ ज्ञान ही दे रही हैं, इसमे कणमात्र सन्देह नहीं हो सकता।

इसी न्याय से सृष्टि भी परमात्मा की अध्यारोपित होने से वह उसने भ्रान्ति से बनाई है यह निष्कर्ष नहीं निकलता। पञ्चदशी के 'नाटकदीप' का पहला ही श्लोक, जिसकी टीका में 'अध्यारोपापवादाभ्याम्' यह वचन आया है, स्पष्ट तया बता रहा है :—

| परमात्माऽद्वयानन्दपूर्ण पूर्वं स्वमायया
स्वयमेव जगद्भूत्वा प्राविशत् जीवरूपत |१

अर्थात् अखिल प्रपच परमात्मा का रचा हुआ एक विराट नाटक है। इस अचिन्त्य अपरिमेय आत्मतत्त्व ने, अनन्त चराचर, छोटे-से-छोटे, और विशाल से विशाल, उपाधियों का स्वाग रच कर अपनी अद्भुत लीला को विजृम्भित कर दिया है। और ऐसा करते हुए भी वह अशेष विशेष विरहित अव्यय निर्लिप्त, निरुपाधिक और नेति नेति स्वरूप ही है। 'सर्वत पाणि पाद तत् सर्वतोऽक्षिशिरो मुखम्' इत्यादि गीता का वचन इसी रहस्य को अध्यारोप की भाषा से इङ्गित कर रहा है। यहा भ्रान्ति वाद या असत्यता की कोई बात

नहीं है। **अद्वैतविज्ञान** की परिष्कृत विचारधारा का मौलिक सिद्धान्त ब्रह्म-कारणता' का है, उसकी सुप्रतिष्ठा अपनी लोकोत्तर प्रभावशालिता से करनेवाले शंकर भगवान् भ्रान्ति कारणता का पुरस्कार करेंगे यह अत्यंत असम्भव है।

अब 'अपवाद' के अर्थ को भी देख लीजिए। उसकी व्याख्या है, अवस्तु भूतस्य वस्तुत्वात्मना निर्देश ' इस विराट् प्रपंच का आत्मा, परब्रह्म है, यह जान लेना 'अपवाद' है। अध्यारोप को उखेड़ देना, झुठलाना या नष्ट करना यह यहाँ अर्थ नहीं है, प्रपंच को ब्रह्मस्वरूप समझना यही अभिप्रेत है, देखिए पृष्ट ८३ पर की रेखाङ्कित पंक्तियां। छान्दोग्य उपनिषद्, (६-२-२) के भाष्य में **सत्कार्य** वाद का प्रतिपादन करते हुए **शङ्कर** भगवान् लिखते हैं। 'सदेव (ब्रह्म एव अत्र) सम्थानान्तरेण अवतिष्ठते। यथा सर्प कुण्डली भवति। यथा च मृद् चूर्ण पिण्ड घट कपालादि प्रभेदै . न अस्माभि कदा चित्व चिदपि सतोऽन्यत् अभिधानम् अभिधेयम् वा वस्तु परिकल्प्यते। सदव तु सर्वम् अभिधीयते च यदन्य बुद्धया। यही सर्वोच्च तत्त्वज्ञान है।

इस अनुपम में पण्डितवर्य अमलानन्द की उक्ति —

। स्वशक्त्या नटवत् ब्रह्म कारण शंकरोऽब्रवीत्
जीवभ्रान्ति निमित्त तत् बभाषे भामती पति ।

का स्मरण हुए बिना नहीं रहता। इसका उल्लेख पहले प्रकरण (५) उपोद्घात के अन्तिम भाग में किया गया है। नट के दृष्टान्त म भी उपर्युक्त छान्दोग्य श्रुति का रहस्य भरा हुआ है।

अध्यारोप और अपवाद का उल्लेख, स्वामी विद्यारण्य ने अपनी पंच-दशी के तृप्तिदीप में अनेक उदाहरणों के साथ किया है, (देखिये श्लोक ४५ से ८७)। इसी प्रकार, 'अनुभूति प्रकाश' नामक अपनी सार संग्राहक कृति में भी

किया है। दोनों स्थलों पर जो निरूपण और विवरण है, प्रस्तुत लेखक के विचारों से विभिन्न नहीं प्रत्युत समर्थक है।

पर एक बात यहाँ स्पष्टतया बता देना आवश्यक है। आप, प्रकाण्ड गीर्वाण पण्डितों को लीजिये या प्रगाढ प्राकृत वेदान्त शास्त्रज्ञों को लीजिये, इनके बड़े बड़े ग्रन्थों में, इतने विभिन्न विभिन्न अपिच परस्पर विरोधी मतों का प्रतिपादन किया हुआ रहता है, कि इनकी निजी सम्मति क्या है समझना अति दुर्घट हो गया है। कहीं तो ये भेदाभेदवाद का पुरस्कार करते हैं, और कहीं अभावकारणता का समर्थन करते हैं। कहीं ब्रह्मकारणता का प्रतिपादन रहता है, तो कहीं **एकजीव** वाद का रहस्य बताया जाता है। कहीं ये भ्रान्त माया की कारणता बताते हैं, तो कहीं नित्य शुद्ध बुद्ध निर्गुण ब्रह्म ही भ्रान्त और विकृत होता है ऐसा स्पष्टतया लिख मारते हैं! ऐसे सिद्धहस्त महा पण्डितों के ग्रन्थ, इन व्याघात दोषों से क्योंकर लांछित दिखाई देते हैं, या हमको ही इनकी प्रतिपादन शैली समझ में नहीं आती, प्रस्तुत लेखक की तुच्छ बुद्धि में नहीं धँसता। ईसा सन की तेरहवीं शती में महाराष्ट्र में एक लोकोत्तर मेधावी पुरुष 'ज्ञानेश्वर महाराज' हो गये जिन्होंने अपनी अनूठी प्रतिभा से अपने नाम को सार्थक कर रखा है। इनकी भगवद्गीता की टीका 'ज्ञानेश्वरी' भारतवर्ष में सुविख्यात है। इसका भाषानुवाद दक्षिण तथा उत्तर भारत के बीसों भाषाओं में हो चुका है। अपनी अनिन्द्य सुन्दर हृदयस्पर्शिनी शैली तथा आध्यात्मिक अपूर्व प्रफुल्लता के कारण इस ग्रन्थ ने वेदान्त विचारज्ञों के हृदयों में एक ऊँचा सम्मान का स्थान प्राप्त कर लिया है। इनका तात्त्विक पक्ष *'चिद्विलास' अर्थात् 'ब्रह्मकारणता सिद्धान्त'* है ऐसी बहुत विद्वानों की अभिमति है। परन्तु परसों ही एक वेदान्त शास्त्र के प्रगाढ पण्डित कह रहे थे कि उनका *'भ्रान्ति कारणता'* वाला सिद्धान्त है, ऐसा अब प्रमाणित हो रहा है! कैसे खेद की बात है कि पचीस पचीस वर्ष के 'ज्ञानेश्वरी' के अध्ययन और परिशीलन के पश्चात्, विद्वानों को ही सन्देह हो रहा है कि श्रीज्ञानेश्वर की निजी सम्मति क्या थी? वेदान्त शास्त्र के सम्बन्ध में ऐसी दयनीय दशा देख किसका चित्त विह्वल नहीं होगा? बरबस कहना पड़ता है कि इन प्रकाण्ड

पण्डितों ने अपने ग्रन्थों में, तत्त्वानुसन्धान कराने के लिये जो विचित्र पहेली वाली शैली स्वीकार की है, उसके फलस्वरूप वेदान्त साहित्य में जो घना अविद्यारण्य फैल गया है, उसको हटाने के निमित्त विद्वन्मूर्धन्यों के द्वारा अनेक प्रयास होना आवश्यक है। इस दिशा से पहला जबरदस्त प्रयत्न लगभग ४० वर्ष पूर्व, स्वर्गीय राष्ट्रनिर्माता लोकमान्य **तिलक** ने अपने सुविचार परिप्लुत 'गीता रहस्य' ग्रन्थ द्वारा किया, जिसके कारण महाराष्ट्र देश में एक अभूत पूर्व जागृति हो गई, और इस गहन विषय पर अनेकों दृष्टिकोणों से कोई बीस पचीस साल तक चर्चाएँ होती रहीं। इसके पहले भी अध्यात्म विषय में जागृति के आन्दोलन बंगाल पंजाब आदि प्रान्तों में हो चुके हैं। इनके सम्बन्ध में वन्दनीय स्वामी रामकृष्ण परम हंस, स्वामी रामतीर्थ, स्वामी विवेकानन्द स्वनाम धन्य बाबू अरविन्द घोष इत्यादि महामहिम पुरुष अत्यादर के भाजन हो चुके हैं। तत्त्वज्ञान के विषय में दिगन्त ख्यात महानुभाव सर सर्वेपल्ली राधाकृष्णन् ने जितना सुदीर्घ प्रयत्न किया है उतना वर्तमान काल के किसी विद्वान् का किया हुआ नहीं पाया जाता। हमारा अहोभाग्य है कि आज वे उपराष्ट्रपति के सम्मानित स्थान को अलंकृत कर रहे हैं। इनके पथप्रदर्शन से आशा है कि अनेक मनीषी पुरुष अपने लेखों द्वारा दार्शनिक जागृति के विषय में उल्लेखनीय प्रयास करेंगे।

(४२) अधिकार भेद

सभी पुरुषों में एक सी क्षमता नहीं होती। एक परिस्थिति में जन्म पाकर और समान शिक्षा दीक्षा से लाभान्वित होकर भी विभिन्न व्यक्तियों में विभिन्न गुणों तथा दोषों का विकास पाया जाता है। बौद्धिक क्षमता की भी यही दशा है। चतुर पुरुष जो बात तुरन्त समझ जाता है दूसरा अनेक दृष्टान्तों से भी नहीं समझ पाता। इस दृष्टि से बौद्ध सम्प्रदाय ने तत्त्वशिक्षा प्रदान करने के अर्थ, चार प्रकार के जिज्ञासु मान्य किये हैं, और उनके निमित्त क्रमोन्नति द्वारा अर्हत् पदप्राप्ति की आयोजना की है। इस सम्प्रदाय का अभ्युपगम है, कि उत्तम अधिकारी को, शिक्षा पूर्ण होने पर, जगत् के परमतत्त्व–शून्य–का साक्षात् होता है। अधिकार का विवरण निम्नप्रकार है।

अधिकारी	उनकी सञ्ज्ञाएँ	उनकी विशेषता
उत्तम	(१) माध्यमिक	जगत् का मूल सद्रूप संवित है। इसीसे आलयविज्ञान और प्रवृत्तिविज्ञान प्रवाह की उत्पत्ति होती है और इन्हीं के विजृम्भण से सब प्रतिभास मस्तिष्क में उत्पन्न होते हैं और पदार्थ रूप से बाहर प्रतीत होते हैं। वास्तव में बाहर पदार्थ है ही नहीं।
मध्यम	(२) योगाचार	जगत् के पदार्थों का आरम्भस्थान बुद्धि या आलय विज्ञान है। दृश्यमान पदार्थ, सब उसी से उत्पन्न होते हैं, और बाहर है ऐसी प्रतीति होती है। बाहर पदार्थ है ही नहीं।
कनिष्ठ	(३) सौत्रान्तिक	बाह्य पदार्थों का अस्तित्व, प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं किन्तु अनुमिति प्रमाण से है ऐसा माननेवाले
	(४) वैभाषिक	बाह्य पदार्थों को प्रत्यक्ष अनुमान प्रमाण से स्वीकार करनेवाले

ऊपर के कोष्ठक से विदित होगा, कि माध्यमिकों ने संवित् को जगत् का मूल कारण मान लिया है। यदि उन्होंने इसे निर्लिप्त अपरिणामिनी नित्य शुद्ध बुद्ध स्वभाव स्वीकार किया होता, तो फिर उनके सिद्धान्त में और अद्वैत सिद्धान्त में विरल विरोध रहता। परन्तु उन्होंने उसको संवृति अर्थात् अज्ञान रूप और विनाशी माना है। फलस्वरूप उनको विवशता से जगत् का अधिष्ठान शून्य ही मानना पड़ता है।

अब यहां पर यही बात दिखानी है, कि हमारे मध्यकालीन पण्डित जनोंने भी ठीक इसी नमूने पर वेदान्त के अधिकारियों की श्रेणी बना डाली है, बाह्य पदार्थों का व्यावहारिक अस्तित्व स्वीकार करने वालों को उन्होंने मन्दमति, कनिष्ठ ठहराया है। और उनको मनो मात्र अर्थात् केवल प्रतिभास रूप एवं शून्य मानने वालों को, उत्तम कोटि वाला ठहराया है। वेदान्त अधिकारियों का ऐसा वर्गीकरण प्रधान ग्रंथों में कहीं नहीं है। अनिर्वचनीय ख्याति का हमारा जो ऊँचा सिद्धान्त पक्ष उसको मतिमन्दों का पक्ष ठहरा देने और बौद्ध सम्प्रदाय का जो शून्यवाद पक्ष उसी को श्रौतपक्ष समझ कर सिर पर चढ़ा लेने, का क्या कहना समझ में नहीं आता। देखिए श्रीविद्यारण्य भी क्या कहते हैं —

। तुच्छाऽनिर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा
ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधैः श्रौतयौक्तिकलौकिकैः ।
(पंचदशी चित्रदीप श्लो १३०)

बड़े बड़े विद्वानों को भी इस श्लोक का अर्थ करने में चिन्ता ही होगी। ग्रन्थकार के शिष्य श्रीरामकृष्ण पढ़ाके से लिख डालते हैं। 'श्रौतबोधेन तुच्छा कालत्रयेऽप्यसती ? परन्तु आगे के ही श्लोक में।

। "अस्यसत्वमसत्त्व च जगतो दर्शयत्यसौ" ।

अर्थात् जगत का अस्तित्व, नास्तित्व माया कहा कारण है, और आगे ही 'जावेशावपि निर्ममे' 'करोति आवादारिभ्य' ऐसा भी लिखा है। इससे स्पष्ट है कि माया है, और अगले जगत् के लिए उसका अध्याहार भी अवश्य है। फिर तीनों कालो में वह नहीं, यह अर्थहीन शब्द कैसे लिखे जाते हैं समझ मे नहीं आता। वदतो व्याघात की और सभ्रमोत्पादक भाषा प्रयोग की यह तो सीमा हो चुकी। अच्छा, अन्त में तात्पर्य क्या निकला ? यही कि माया है, भ्रम भी है। फिर तुच्छा और अनिर्वचनीया इनमें भेद ही क्या रहा ?

उत्तर तापनीय उपनिषद् निमम माया को तुच्छा कहा गया है उसम श्रीविद्यारण्य ही उसका अर्थ **अनिर्वचनीय** बतात हैं। उनक शब्द हैं —'स्वप्रकाश चिदाश्रयत्वानुभवतःसिद्धामनिर्वचनीयनामाह 'तुच्छामिति'। 'कालत्रयेप्यसती' 'कालत्रय' यही तो माया के अस्तित्व के प्रमाण हैं। कालत्रय तो हैं और माया मात्र नहीं यह कैसे होगा? और यह कैसे ध्यान म नहीं आता, यह बड़ा आश्चर्य है! पण्डितलोग ही यदि ऐसी भ्रान्त भाषा लिखें, तत्त्व ज्ञान के क्षेत्र की बाड़ ही यदि क्षेत्र के फलों को खाने लगी, तो बेचारे पाठकों के हाथ कड़वे इन्द्रायन फल के अतिरिक्त दूसरा क्या आ सकता है?

सारांश, सिद्धान्त यही है कि **माया** अक्षर ब्रह्म की स्वरूप भूता शक्ति है। (दे० प्र० ३०) परिच्छेद (२) पृष्ठ ६१।

(४३) विश्वप्रपंच क्षणविध्वंसी नहीं है

श्रीमदाचार्य कृत दक्षिणामूर्ति स्तोत्र पर श्रीसुरेश्वराचार्य ने एक मानसोल्लास नामक टीका लिखी है। उसम परमात्मा को मायावी, महायोगी, इत्यादि कह कर प्रतिभा सम्पन्न महाकवि भी कहा है। यह विश्व परमात्मा का महान् काव्य है। किन्तु कवि की कलाकृति में और परमात्मा के सृजन में अनन्त विभेद है। कवि की सृष्टि कागज पर ही रहती है, भगवान् की सृष्टि स्वरूपवान और कार्यक्षम होती है। इसको 'क्षणविध्वंसिनी' कैसे कहा कहा जाय? *'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत'* (बृ. ३ ८ ९) यहां सब कार्य, नियम शृंखला से परिबद्ध हैं। भारतीय ज्योतिर्गणित से जगत् की उत्पत्ति होकर दो अब्ज वर्ष बीत गए हैं। पाश्चात्य भौतिक विज्ञान शास्त्रों का भी यही अनुमान है। भविष्यत् में भी इसकी आयु दो अब्ज वर्ष है ऐसा आर्य गणित बताता है। ऐसा ज्ञात रहते भी जगत् को स्वप्न कहना, अथवा दीपक का दृष्टान्त देकर बौद्धों के समान, उसको क्षण विध्वंसी पानी का बुद् बुद कहते रहना, एवम् उनके भ्रम जाल में आकर उन्हींकी डिण्डिमा बजाते रहना, घोर अज्ञानता है। 'क्षणविध्वंसित्व' की कल्पना तो एक अजब बात है। उसम प्रत्यभिज्ञा कैसी रहे? व्यवहार कैसे

हो ? तत्त्वानुसंधान भी कैसे बने ? मुख से शब्द निकलते ही, वक्ता भी नष्ट और श्रोता भी नष्ट ! फिर तथ्य ज्ञान हो तो किस को ? सब भ्रम ही भ्रम !! पारमेश्वरी **माया** भ्रम रूप कदापि नहीं। *'देवात्मशक्तिम् स्वगुणैर्निगूढाम्'* ऐसी वह दिव्य भाव रूप शक्ति है। वह सहस्रावधि युग रहने वाली है, और उसके बनाए हुए आकाश वायु, पृथ्वी, आप इत्यादि अगणित पदार्थ भी को पर्यधि वर्ष रहने वाले हैं; और जीवात्मा भी वैसा ही है। विश्व को क्षणविध्वंसी नहीं कहा जा सकता।

(४४) भावनाओं के विषय में अज्ञान

क्षणिक विज्ञान वाद की भूल से हम जगत को क्षणविध्वंसी कैसे मानने लगे, इसका दिग्दर्शन ऊपर किया गया है, 'मनोमात्र-निदर्शनम्' मन क्षणिक, अत जगत् भी क्षणिक, यह कल्पना जैसी असत्य है, वैसी ही, यदि हमने मन को जीता तो सब जगत् जीता यह कल्पना भी असत्य है, देखिए न, पहले तो मन ही ऐसा चचल और दुर्दम्य बनाया गया है, कि मन पर जीत कैसी हो ? मध्यरात्र अगर सूर्य, निकले तो दिन अवश्य होगा, परन्तु मध्य रात्र सूर्य, निकलता नहीं और रात्रि का दिन होता नहीं !

पूर्ण मनोजय असभव है। हां कुछ अश में उसका निरोध हो सकता है, यह ठीक है। परन्तु इससे जगत् पर या सृष्टि नियमों पर क्या परिणाम हो सकता है ? बहुत लोग सत्त्वशील रहते हैं। पर उनके इच्छानुसार व्यवहार कहां होता है ? स्व महात्मा **गान्धीजी** भी बहुत बड़े सयमी थे। उनके सदृश सत्त्वपूर्ण और निग्रही पुरुष क्वचित ही कहीं होंगे, परन्तु जिन जिन उद्देश्यों के अर्थ, उन्होंने वर्षानुवर्ष अविरत श्रम उठाए, वह उद्देश्य उनसे दूर-दूर ही भागते गए। सयम एक मौलिक वस्तु है, और चिन्ता शीलता से उससे लाभ उठाया जाय तो उसके द्वारा कुछ अश तक ऐहिक और आध्यात्मिक प्रगति हो सकती है। किन्तु दूसरे लोगों पर उसका असर सशयित ही और जड़ सृष्टि या सृष्टि नियमों पर तो इसका कुछ भी वश नहीं

स्वाभाविक मर्यादाओं को जानना अत्यावश्यक है। पर इसके विरुद्ध 'यादृशी भावना कुर्यात सिद्धिर्भवति तादृशी' ऐसी एक बलवती दुराशा हमारे समाज में बहुत पुरुषों को भ्रमित कर रही है। कहा जाता है, कि मानसिक बल से जब यह संसार उत्पन्न हो सकता है, तो उसी बल से और भी बातें क्यों नहीं साध्य होंगी। अंग्रेजी में एक कहावत है If wishes were horses beggers would ride भले ही दृढ़ भावावेश हो उससे क्या बन सकता है? 'वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धा स्वयमेव संपदः' चिन्ताशील और सतत प्रयत्नवान् पुरुषों को भी कार्यों में अनेक विघ्न और बाधाएं उपस्थित हुआ करती हैं। भावना तो केवल एक मनोविकार है। भारत देश के उन्नति के अर्थ घोर संग्राम में प्राणों को न्यौछावर करने वाले महाराष्ट्र के सुविख्यात योद्धा सदाशिवराव भाऊ के हृदय में क्या तीव्र भावनाएँ नहीं थीं? इस देश के बड़े बड़े वीर तथा नेताओं को लीजिए, कितनी बार उनकी तीव्र भावनाएँ और अविरत पुरुषार्थ विफल हो गए? हिटलर को देखिए, क्या उसके अन्तःकरण में भावनाओं की उत्कटता कुछ कम थी? हमारा कर्तव्य यही है, कि हम **दैवीसम्पत्ति** के आदर्श को अकम्पित रखें, विवेकनिष्ठा से योग्य प्रयत्न करते हुए यश के साधन बनाते रहें, अन्त में हमको यश अवश्य प्राप्त होना चाहिए। भावना भावना कहते रहने से अपने को और दूसरों को भूल ही होती है। महाराष्ट्र के प्रथितयश **समर्थ** श्रीरामदास अपने 'दास बोध' ग्रन्थ में लिखते हैं —'आधीं कष्ट मग फळ, कष्टचि नाहीं ते निर्फळ' (११–१०–२०) 'अखंड सावधान चालणा जेथें। पाहतां काय उणें तेथें' (१९-६-२६) 'म्हणोनी आळस सोडावा। यत्नें साक्षेपें जोडावा, दुश्चितपणाचा मोडावा, थारा बळें' (१२-९-८) 'व्याप आटोप करिती, धके चपेटे सोसती, तर्णे प्राणी सदेव होती देखत देखतां' (१५–३–७)

(४५) अज्ञान जगत् का कारण नहीं

ब्रह्म कारणता, **अद्वैतविज्ञान** का एक मौलिक सिद्धान्त है। परन्तु आप किसी भी मध्यकालीन या अर्वाचीन वेदान्त ग्रन्थ को उठाइए चाहे वह संस्कृत हो या प्राकृत, यह संसार निरी भ्रान्ति से बना है, यह सब झूठ माया

जञ्जाल है, प्रपञ्च की उत्पत्ति अज्ञान से हुई है, इस तात्पर्य के अनेक विधान आपको अवश्य दिखाई देंगे। ब्रह्म की अज्ञानता से यह संसार उत्पन्न हुआ है, ऐसा भी लिखा हुआ रहता है। 'ब्रह्मस्वरूपाज्ञानविजृम्भितमिदम् द्वैतजातम्' इसके दो अर्थ हो सकते हैं। एक तो स्वयं ब्रह्म को ही अज्ञान हो गया। ऐसा मानने वाले पंडित भी हमारे यहां हैं, वह बेचारे क्या करेंगे? पुस्तकों की भाषा भी ऐसी भूलभुलैयाँ वाली रहती है। दूसरा अर्थ, ब्रह्म का ज्ञान हमको न होने से यह जगत् उत्पन्न हुआ है। यह अर्थ, तो और भी विचित्र है। पहले हम आकाश में उत्पन्न हों, फिर हमें ब्रह्म का अज्ञान रहे (और वह तो रहने ही वाला) और फिर उस अज्ञान से जगत् की उत्पत्ति होती है, यह कैसी हास्यजनक युक्ति है।

'स्वाज्ञानकल्पितजगत्परमेश्वरत्वजीवत्वभेदकलुषीकृतभूमभावा' (संक्षेप शारीरक द्वितीय श्लोक) अथवा यदबोधसमुद्भूतम् यद्बोधात्प्रविलीयते' (ब्रह्म सूत्रों की 'तत्त्वदीपन' व्याख्या का प्रथम श्लोक) ऐसा जो कहा जाता है, इसका क्या तात्पर्य है? बैंकों के व्यवहार ऋण लेने वालों पर अवलम्बित हैं, यदि ऋण लेने वाले न हों तो बैंक चल नहीं सकती, दुष्ट और दुराचारी लोगों का शासन करने के लिए राज्य यन्त्र आवश्यक होता है, कोई दुर्जन ही न हो तो गवर्नमेंट अनावश्यक होती है। हम अज्ञानी हैं, इससे जगत् का चक्र चल रहा है, सभी ब्रह्मज्ञानी हों, तो जगत् रहेगा नहीं इत्यादि विधान एकदेशीय एकांगी दृष्टि से किए जायँ तो ठीक हैं। परन्तु दुर्जन ही राज्ययन्त्र बनाते हैं, और चलाते हैं, ऐसा अगर कोई कहे तो वह उल्टी ही बात है। ब्रह्म स्वरूप के अज्ञान से ही यह संसार उत्पन्न हुआ है, यह कहना ऐसा ही नितान्त भ्रम रूप है। परन्तु दुर्भाग्य हमारा कि ऐसी युक्ति-विवेकहीन भाषा वेदान्त की पुस्तकों में व्यवहृत की गई है, और उसे सुनने का हमें इतना अभ्यास हो गया है, कि उसमें कुछ असम्बद्धता है ऐसा हमें प्रतीत भी नहीं होता।

कई लोग 'तम आसीत्तमसा गूढमग्रे' (ऋ १०-१२९-३) इस नासदीय सूक्त को इस नासमझी के लिए आधार बनाते हैं। परन्तु यह अयुक्त है, क्यों

कि इसी सूक्त में एक ही ब्रह्म अपने तप की महिमा से विश्वरूप से प्रकट हुआ ऐसा आगे ही कहा गया है। मनुस्मृति के प्रथम अध्याय के पाचवे श्लोक का आरम्भ 'आसीदिदंतमोभूतम्' ऐसा करके, यह सृष्टि परमात्मा ने उत्पन्न की ऐसा स्पष्ट वर्णन किया गया है।

ब्रह्म कारणता सिद्धान्त का सप्रमाण प्रतिपादन इस पुस्तक में बाहुल्य से आया है। इन सब प्रमाणों का परित्याग कर, इस ससार की उत्पत्ति करने वाला एक अज्ञान स्वरूप पिशाच है, यह मत कैसे उत्पन्न हुआ, और सांख्यों का प्रधानकारणतावाद फिर दूसरे रूप से हमें कैसे हैरान कर रहा है यह एक बड़ा चमत्कार है। इसका कारण बौद्धवाङ्मय से मिल सकता है। बुद्धशिष्य नागार्जुन ने (जो उस सम्प्रदाय का एक प्रकाण्ड पण्डित ईसवी सन् की दूसरी शताब्दी में हो गया) **'समष्टि अज्ञान'** के एक नये तत्त्व की खोज लगाई। (देखिए हार्विड्झ कृत अंग्रेजी पुस्तक 'वेद और वेदान्त पृष्ठ १३०) और यही सब ससार की जड़ है, ऐसे सिद्धान्त की स्थापना की। बौद्ध राज्यशासन इस देश में अनेक शताब्दी टिक कर रहा, यह पहले बताया जा चुका है। 'राजा कालस्य कारणम्' इसका अनुभव ब्रिटिश अधिकार से हमें हो चुका है। मुगल पादशाहत में हमारे पण्डितों ने 'अल्लोपनिषत्' बना डाली थी। फिर शान्ति-समृद्धि सम्पन्न दीर्घकालिक बौद्ध शासन का प्रभाव हमारी शिक्षा और विद्या पर जबरदस्त हो गया इस में आश्चर्य नहीं। हमारे सिद्धान्तों के अनुसार अवाङ्मनस गोचर परब्रह्म की प्रेरणा से ही इन अनन्त ब्रह्माण्डों की रचना हुई है, और उनका सुव्यवस्थित प्रशासन हो रहा है। इस सृष्टि में क्या क्या अद्भुत रहस्य भरे हुए हैं, अभी किसी को पता नहीं है। अणु रेणुओं में भी नियम श्रृङ्खला पाई जाती है। और सिद्धान्त दृष्टि यही है, कि परमात्म तत्त्व देश काल के परे, निर्गुण, निर्धर्मक और असग है। फिर प्रपंच में देखा जाए तो प्राणिमात्र का अनुभव यही है, कि ससार में दुःख ही दुःख है, प्रतिक्षण डर, चिन्ता और आपत्तियां लगी हुई हैं। अन्याय और हिंसा का ताण्डव नहीं चल रहा हो, ऐसा तो कोई स्थल नहीं है। अत. असग निर्गुण परमात्म तत्त्व की कौन कहे, किसी विवेकशील ईश्वर का भी इस जगत का कर्ता

धर्ता रहना तो असम्भव है। वह तो कोई राक्षस ही हो सकता है, अथवा घोर अज्ञान के ही जगत् का कारण रहने में कोई सन्देह नहीं है। इस प्रकार की विचार धारा प्रवृत्त होने से, तत्कालीन पण्डितों को, बौद्ध सम्प्रदाय के प्रबल पुरस्कर्ता नागार्जुन की '**समष्टि अज्ञान**' की अभिनव कल्पना मनोमुग्धकर प्रतीत हो गई हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। इससे दूसरा जो आशातीत लाभ हो गया वह यह, कि परब्रह्म को, अकर्तृ, असंग, निर्गुण और निर्धर्मक मान ने में जो कठिनाइयां होती थीं, वह अनायास नष्ट हो गईं। एवं हमारे अन्तिम सिद्धान्त के लिए बौद्ध सम्प्रदाय एक दृष्टि से उपकारक ही हो गया। फिर विचार चल पड़ा कि यह 'समष्टि अज्ञान' और हमारी माया एक ही हैं!

अद्वैतविज्ञान की दृष्टि से ब्रह्मस्वरूपभूता विश्वजननी **माया** यह स्वयं भ्रम रूपा है ऐसा कहीं भी स्वीकार नहीं है। श्रीमधुसूदन सरस्वती ने 'प्रकृतिर्मायाख्या त्रिगुणात्मिका पारमेश्वरी शक्ति' ऐसा इसका वर्णन किया है, (देखिए उनकी गीता व्याख्या अध्याय और श्लोक ७-६, ७-१४, ७-२५, ८-३, ९-८ और १३-१९) इसी का निरूपण **शंकर** भगवान् ने अपने ब्रह्म सूत्र १-४-३ तथा २-१-१४ के भाष्यों में सुचारु रूपसे किया है, देखिए प्रकरण (३०) परिच्छेद (२) पृ ६१ जिससे सन्देह को स्थान नहीं रहेगा।

वास्तव में देखा जाय तो 'अज्ञान' नामक, इस संसार में कोई भी पदार्थ नहीं है। जैसे अन्धकार कोई पदार्थ नहीं है, प्रकाश के अल्पाधिक अभाव का ही अन्धेरा नाम है, ठीक उसी प्रकार ज्ञान के अल्पाधिक अभाव को ही अज्ञान, कहते हैं। अर्थात् इसकी समष्टि हो नहीं सकती। मान्य है, कि अज्ञान बुद्धि की अल्पाधिक प्रकाश विहीन एक अवस्था है, पर इसकी समष्टि होती है, ऐसी कल्पना कर लेना वैसा ही हास्यास्पद है जैसा 'घटा भाव' की समष्टि कहना। पर दुर्भाग्य से सहस्रावधि वर्षों का प्राचीन समादरित ब्रह्म कारणतावाद, अस्वीकार हो गया, और इस शशशृंग को ही माथे पर — लिया गया।

वैशेषिक दर्शन के प्रणेता महर्षि कणाद ने अभाव के पदार्थत्व को अस्वीकार कर दिया है, अर्थात् उसमें असत्वापादक आवरणत्व अभानापादक आवरणत्व और विक्षेपकारित्व शक्ति, मान लेना आकाशकुसुम में आच्छादकत्व और संहार शक्तित्व मानने के समान अत्यन्त अयुक्ति युक्त है। शोकमोह या काम क्रोधादि विकारों को भावरूप कह सकते हैं, क्योंकि ये मनोधर्म हैं मन में उत्पन्न होते हैं, पर इन में भी कार्यकारित्व शक्ति नहीं है, यह तो जड़ हैं। जब बुद्धि या बुद्धयभिमानी जीवात्मा इनके वश में चला जाता है, तब जीवात्मा ही अनर्थों को उत्पन्न करता है, अनर्थकारित्व या विक्षेप शक्ति जीवात्मा की है, किसी जड़ पदार्थ की हो नहीं सकती। जब अज्ञान कोई पदार्थ ही नहीं है, तो वह कहीं उत्पन्न होता है या किसी वस्तु का विकृत परिणाम है यह भी बात नहीं हो सकती। वह केवल अल्पज्ञता का दूसरा नाम है, और दूसरा कुछ नहीं। स्वयं अभावरूप होने से उससे किसी की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती। और यदि क्षणभर को मान्य भी किया जाए कि अज्ञान से कुछ विषय उत्पन्न होते हैं, तो भी अनर्थकारिता की शक्ति जड़ पदार्थों की नहीं हो सकती, वह, जैसा ऊपर स्पष्ट किया गया है चेतन जीवात्मा की ही है।

ऐसी दशा में हमारे कतिपय पण्डितों ने अज्ञान को जबरदस्ती भावरूप ठहरा दिया, यही प्रथमतः सत्य से च्युति है। फिर उसको जड़ कहते हुए उसमें आवरण शक्ति और विक्षेप शक्ति को भी मान लिया, यह तो और भी सत्य से निर्वासित होना है !! इससे बढ़ कर अविद्यारण्य क्या हो सकता है? प्रकरण (३०) पारच्छेद (२) पृष्ठ ६१ में, प्राचीन उपनिषदों में **अविद्या** शब्द का पर्याप्त विवेचन किया गया है। इससे ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति बताई गई है। पर यह ब्रह्म कारणता सिद्धान्त के विरोध में नहीं है क्योंकि अविद्या, अक्षर, यह परब्रह्म के ही नाम हैं, यह भी वहां पर स्पष्ट कर दिया गया है। इस **अविद्या** *का अर्थ अज्ञान या भ्रान्ति कदापि नहीं हो सकता।* परन्तु सर्वज्ञात्ममुनि ने अपने संक्षेप शारीरक ग्रन्थ में इस अविद्या का उलटा ही अर्थ लगा कर चैतन्य ही अज्ञानी, संसारी और भ्रान्त होता है (दे अ २ श्लोक १७७, १८९ और २०८ तथा अ ३ श्लोक ६ से ११) ऐसा कुछ

विचित्र प्रतिपादन कर रखा है ! इससे वेदान्त विचारों में अनेक उलझनों को बढ़ावा देने वाली बातें ही उत्पन्न हुई हैं।

मुगल पादशाह के शासन काल, याने ईसा सन् १५६५ के लगभग, इस देश में, प्रकाशानन्द नामक एक विद्वान् पण्डित हो गए। उन्होंने अपनी 'सिद्धान्त मुक्तावली' पुस्तक में इस 'अज्ञान कारणतावाद' के स्वीकार के सम्बन्ध में एक अचम्मे का कारण बताया है, वह उन्हीं के शब्दों में यहाँ दिया जाता है.—

। लौकिकी वैदिकी चापि नाज्ञाने दृश्यते प्रमा
कार्यदृष्ट्याथ कल्प्य चेत् लाघवादेकमेव तत् । ८

अज्ञानं किं वेदसिद्धमुत लौकिकप्रत्यक्षादिसिद्धम् उत परिदृश्यमान कार्यान्यथानुपपत्त्या कल्प्यम् ?

यही हुआ। क्रिश्चियानिटी की तो लगभग ढाईसौ शाखाएँ हैं, ऐसा कहा जाता है। उदार चरित्र तपस्वी शाक्यमुनि बुद्ध के सम्बन्ध में जो हुआ उसकी उपमा संसार भर में नहीं है। ज्यूँ ज्यूँ इस मत का प्रचार और विस्तार बढ़ता गया, त्यूँ त्यूँ महात्मा गौतम के उद्देश्यों से उनके अनुयायी गण विभिन्न और विपर्यस्त आचार विचार वाले ही हो गये। इस दृष्टि से शङ्कर भगवान् के पश्चात् यदि ऐसा कुछ हुआ हो, तो अधिक विस्मय की बात नहीं है। उनके निकट के अनुयायी जो उन्हीं के पीठ पर विराजमान हुए वही, यान यतिवर्य सर्वज्ञात्ममुनि ही, जिनका उल्लेख ऊपर आ चुका है, अज्ञान कारणता के पुरस्कर्ता दिख पड़ते हैं। उनके संक्षेप शारीरक ग्रन्थ के अवलोकन से यही बलवत् अनुमान होता है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है इन्होंने अपने ग्रन्थ में ब्रह्म चैतन्य ही अज्ञानी होता है, भ्रान्त होता है, संसार के त्रिविध तापों का अनुभव करता है, जन्म मरण की झपटों में फँसता है, और फिर यदि सम्यग्ज्ञान हो तो मुक्ति लाभ कर पाता है, ऐसी कुछ विचित्र विचार प्रणाली प्रवर्तित कर दी है।

विचार करने की बात है कि जिस भेदाभेदवाद का खण्डन अपनी प्रखर प्रतिभा से शंकर भगवान् और विद्वन्मूर्धन्य सुरेश्वराचार्य ने अपनी तत्त्व-ग्राहिणी दृष्टि से किया है, उसीका आलम्बन यदि सर्वज्ञात्ममुनि करें, तो कितना अद्वैत विज्ञान का दुर्भाग्य है? लेखक की अल्प बुद्धि से इन्हीं के विचारों की छाप, सिद्धहस्त विद्वान् वाचस्पति मिश्र, पण्डित प्रकाशानन्द और अनेक पण्डितों पर पड़ी हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। परन्तु इसका परिणाम अद्वैत सम्प्रदाय पर बड़ा क्षतिकारक हो गया है। यह घटना 'अल्पज्ञानां कथा काऽस्ति बहुज्ञानां मति भ्रम' कहावत को सार्थक करती है। जितना जिस विद्वान् का ग्रन्थ निर्माण अधिक और ग्रन्थ भी विस्तृत तथा विशालकाय, उतना ही उसमें अपूर्णता और त्रुटियाँ रहने की सम्भावना अधिक होती है। पहले तो ग्रन्थ निर्माण की विपुलता सुन कर ही बड़े बड़े पण्डित चकृत और विमुग्ध होते हैं। फिर इन त्रुटियों की आदत ही ऐसी होती है कि उन्हीं से उत्पन्न उलझनों का प्रभाव अभ्यासकों पर अधिक मात्रा में हुआ करता है।

'अज्ञान' रूप कारण की कल्पना आतिक्रता से करनी पड़ती है। काश पण्डित जी, कुछ धीरज रख कर, चिन्ताशीलता से प्राचीन आर्य ग्रन्थों का अध्ययन और विशेषत ब्रह्मसूत्र भाष्यों का परिशीलन करते तो उन पर यह आपत्ति नहीं बीतती। उनका अवश्य कर्तव्य था कि वे नवीन बौद्ध विचारों को प्राचीन सिद्धान्तों की कसौटी पर कस उनकी खरी खोटी की जाच कर लेते, पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। तथापि प्रसन्नता की बात है, कि उन्होंने अपने लेख में स्वयं ही स्पष्ट कर रखा है, कि इस परिकल्पना का समर्थक कोई लौकिक या वैदिक प्रमाण नहीं है। उनकी इस सत्य निष्ठा के निमित्त उनको अवश्य धन्यवाद देना चाहिये, क्योंकि यदि उन्होंने ऐसा न बताया होता, तो यह सिद्धान्त श्रुति प्रामाण्य पर ही अधिष्ठित मान लिया जाता, जैसे आज भी, बड़े दुर्भाग्य की बात है कि अनेकों ने मान लिया है।

वास्तव में देखा जाए, तो इस विचित्र कल्पना को बौद्धसम्प्रदाय ने ही जन्म दिया। 'समष्टि अज्ञान' की नींव उन्होंने ही डाली है, जैसा पहले ही बताया गया है। पर अद्वैत तत्त्वज्ञान के नाम से उसका प्रचार करने में पण्डित प्रकाशानन्द पहले नहीं हैं। उनके अव्वल अनेक पण्डितों ने इसका पुरस्कार किया है और इसकी जड़ें श्रीशंकराचार्य जी के साक्षात् शिष्यों तक पहुँची हुई दिखाई देती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि बौद्धमतों का निराकरण प्रवीण विद्वान् कुमारिल भट्ट ने उल्लेखनीय रीति से किया है और **शंकर** भगवान् ने तो अपनी अप्रतिम विद्वत्ता और शैली से उनके मतों का खण्डन अपने भाष्यों में स्पष्टतया कर दिया है। पर उनका काल बहुत ही थोड़ा रहा और अनेक शताब्दियों की बौद्धमतों की प्रभावशालिता, बहुजन समाज में मँडराती ही रही।

महामहिम पुरुषों के विषय में इतिहास की ऐसी ही विचित्र विडम्बना रही है। जब जब ऐसे युग प्रवर्तक लोकोद्धारक महात्मा हुए, उन्हींके साक्षात् शिष्यों में विभिन्न मतों की जड़ें रह गईं। या नहीं तो शीघ्र ही अनुयायियों में विरोधी प्रणालियाँ उत्पन्न हो गयीं। ईसा मसी मुहम्मद पैगम्बर के सम्बन्ध में

यही हुआ। क्रिश्चियानिटी की तो लगभग ढाईसौ शाखाएँ हैं, ऐसा कहा जाता है। उदार चरित्र तपस्वी शाक्यमुनि बुद्ध के सम्बन्ध में जो हुआ उसकी उपमा संसार भर में नहीं है। ज्यूँ ज्यूँ इस मत का प्रचार और विस्तार बढता गया, त्यूँ त्यूँ महात्मा गौतम के उद्देश्यों से उनके अनुयायी गण विभिन्न और विपर्यस्त आचार विचार वाले ही हो गये। इस दृष्टि से शङ्कर भगवान् के पश्चात् यदि ऐसा कुछ हुआ हो, तो अधिक विस्मय की बात नहीं है। उनके निकट के अनुयायी जो उन्हीं के पीठ पर विराजमान हुए वहीं, याने यतिवर्य्य सर्वज्ञात्ममुनि ही, जिनका उल्लेख ऊपर आ चुका है, अज्ञान कारणता के पुरस्कर्ता दिख पड़ते हैं। उनके संक्षेप शारीरक ग्रन्थ के अवलोकन से यही बलवत् अनुमान होता है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है इन्होंने अपने ग्रन्थ में ब्रह्म चैतन्य ही अज्ञानी होता है, भ्रान्त होता है, संसार के विविध तापों का अनुभव करता है, जन्म मरण की झझटों में फँसता है; और फिर यदि सम्यग्ज्ञान हो तो मुक्ति लाभ कर पाता है, ऐसी कुछ विचित्र विचार प्रणाली प्रवर्तित कर दी है।

विचार करने की बात है कि जिस भेदाभेदवाद का खण्डन अपनी प्रखर प्रतिभा से शंकर भगवान् और विद्वन्मूर्धन्य सुरेश्वराचार्य ने अपनी तत्त्व-ग्राहिणी दृष्टि से किया है, उसीका आलम्बन यदि सर्वज्ञात्ममुनि करें, तो कितना अद्वैत विज्ञान का दुर्भाग्य है? लेखक की अल्प बुद्धि से इन्हीं के विचारों की छाप, सिद्धहस्त विद्वान् वाचस्पति मिश्र, पण्डित प्रकाशानन्द और अनेक पण्डितों पर पड़ी हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। परन्तु इसका परिणाम अद्वैत सम्प्रदाय पर बड़ा क्षतिकारक हो गया है। यह घटना 'अल्पज्ञानां कथा काऽस्ति बहुज्ञानां मति भ्रमः' कहावत को सार्थक करती है। जितना जिस विद्वान् का ग्रन्थ निर्माण अधिक और ग्रन्थ भी विस्तृत तथा विशालकाय, उतना ही उसमें अपूर्णता और त्रुटियाँ रहने की सम्भावना अधिक होती है। पहले तो ग्रन्थ निर्माण की विपुलता सुन कर ही बड़े बड़े पण्डित चकृत और विमुग्ध होते हैं। फिर इन त्रुटियों की आदत ही ऐसी होती है कि उन्हीं से उत्पन्न उलझनों का प्रभाव अभ्यासकों पर अधिक मात्रा में हुआ करता है।

व्यावहारिक बातों मे इसका असर इतना नहीं होता जितना धार्मिक विश्वासों म और दार्शनिक विच रों में हुआ करता है। यह आपत्ति इस देश में ही नहीं ससार भर के सभी देशों म लगा हुइ रहती है, और यह अनुभव शताब्दियों से होता आ रहा है। इस जगत् की सभी बातों में, रचना ही एसी रही है। इस का इलाज सम्यग्ज्ञान ही है जिस क निमित्त चिन्ताशील्ता से तथा सतर्क रह कर हरसम्भव प्रयत्न करना ही हमारा प्रधान कर्तव्य है।

इस उपलक्ष्य में यदि व्यग्य वाणी से कुछ कहने की अनुज्ञा हो, तो इन पण्डितों ने मानों एक अभिनव श्रुति ही प्रणीत की है, यथा –

> "अज्ञान ब्रह्मेति व्यजानात। अज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि
> भूतानि जायन्ते। अज्ञानेन जातानि जीवन्ति। अज्ञान
> प्रयन्त्यभिसविशतीति। तस्मात् अज्ञानमेव शान्त
> उपास्व। हे श्वेतकेतो तदज्ञान त्वमसि"

इससे अधिक अविद्यारण्य का क्या वर्णन हो सकता है?

(४६) अहंभाव का त्याग

श्रीमद्भगवद्गीता (अ १८ श्लो १७) मे 'यस्य नाहङ्कृतो भावो' इत्यादि प्रतिपादन आया है, जिस सबन्ध में कहा जाता है, कि हम सब कुछ सूक्ष्म सूक्ष्म कर्म कर सकते हैं, केवल उन कर्मों मे हमको अहभाव नहीं रखना चाहिये। 'मै यह कर रहा हूँ' यह भाव रखना ही बन्ध है, जो पाप रूप है। थोड़ी ही चिन्ता से यह ज्ञात होगा कि यह विचार असत्कर्मों के लिए तथा अ म्र्य कर्मों के सम्बन्ध में समुचित नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ यदि कोइ कहे कि अपने स्वार्थ की बातें किए चले जाओ आवश्यक हो तो चोरी भी करो, किन्तु उसमें अहभाव की भावना मत आने दो, तो यह एक असमजस की बात है। जब स्वय चोरी कर रहा है, तो मै चोरी नहीं कर रहा हूँ ऐसी भावना बनेगी कैसे? हां भ्रान्ति से, पागलपन से, उन्मत्तता से,

अथवा मदान्धता से बन सकती है। सन् १०२४ ई० में महमूदगजनी ने धर्मोन्माद के वशवर्ती हो कर 'मैं मेरे परवरदिगार को संतुष्ट कर रहा हूँ इस भ्रांत धारणा से श्रीसोमनाथ का देवालय ध्वस्त कर दिया, मूर्तियां छिन्न भिन्न कर दीं, हजारों मनुष्यों की हत्या की और अपरम्पार धन लूट लिया। तो फिर क्या वह पापी नहीं है? मान लिया जाए कि उसके हृदय में कण भर भी पाप की भावना नहीं उपजी, तो भी वह कर्मों के फल विपाकों से बच नहीं सकता। दूसरों का भक्ति पन्थ थोथा, मेरी ही भक्ति उत्कृष्ट है और मुझ को अल्लाह प्रेरणा दे रहा है—ऐसा गर्व ही तो सब से बड़ा पाप है। फिर तज्जन्य अत्याचार और उत्पीडन क्या जाएँगे? ऐसी उद्दण्डता को स्वयं इस्लाम भी मान्यता नहीं देता। कर्म सिद्धान्त के विधानों में उद्भ्रांत धारणाओं को कोई स्थान नहीं है। भक्तिमार्ग की सफलता सामञ्जस्य और **दैवी सम्पत्ति** पर निर्भर करती है। अहम्भाव का वास्तविकता से ही अभाव रहना चाहिए। अर्थात् उसके कारण को ही मिटाना आवश्यक है, उसका अभाव मन-ही-मन केवल कल्पना से नहीं बनता।

मेरी बुद्धि ने मुझ को प्रेरणा की और मैंने चोरी की किन्तु शास्त्र दृष्टि से मैं अकर्ता हूँ, अर्थात् मुझ पर कोई पातक नहीं आ सकता यह तो मतलब का वेदान्त है। हर कोई चोर ऐसा कह सकता है। काम क्रोधादि के वश तो प्रायः सभी होते हैं। यह 'महाशन महापाप्मा' है (गी ३ ३७, ऐसा भगवान ने स्वयं ही कहा है, और आज्ञा की है, 'पाप्मानं प्रजहि ह्येनम्'। यदि आत्मा अकर्ता है, तो फिर यह आज्ञा देना असमंजस होता है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रारब्ध सुख दुःख भोगों को उपस्थित कर देते हैं, बुद्धि में भले बुरे संस्कारों को उत्पन्न कर देते हैं परन्तु इसके पश्चात् क्रियमाण की सीमा प्रारम्भ होती है जिस में प्रारब्ध का दखल नहीं है। अतः इसी क्षेत्र में जीवात्मा की कर्तृतास्वाधीनता है, और उसको स्वभाग्यनिर्णय का अधिकार है। बुद्धि, अधर्म्य अभिलाषाओं को हजार उपस्थित करें 'तयोर्न वशमागच्छेत्' (गी. ३- ४) यह स्पष्ट आदेश भगवान् प्रथम ही दे चुके हैं। इस के अनुसार क्रियमाण के क्षेत्र में हमें अपने कर्तृत्वभाव को जगाना है।

। न जातु कामान्न भयान्न लोभात्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतो ।

। युक्ति युक्त वचो ग्राह्य न ग्राह्य गुरुगौरवात्
सर्वशास्त्ररहस्यं तद् याज्ञवल्क्येन भाषितम् ।

। अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धि सा पार्थ तामसी
(गी अ १८ श्लोक ३२)

मेरी बुद्धि में भगवान् बैठे हैं और मुझ को अधर्म की प्रेरणा दे रहे हैं, यह कल्पना मूर्खता और धृष्टता की परिसीमा है। पाण्डव गीता में दुर्योधन का कथन दिया गया है —

। जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्ति
केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ।

यहाँ प्रश्न होता है, कि क्या दुर्योधन की सच ही ऐसी भावना थी ? क्या उसने यही समझ लिया था, कि परमात्मा ने ही उसे अनेक अत्याचार करने की प्रेरणा दी थी और परम भक्ता सती द्रौपदी का चीर हरण करने के लिये बाध्य कर दिया ? यह तो 'Devil is quoting Scriptures' वाली बात है। भगवद्गीता के पांचवें अध्याय में साफ बताया गया है —

। न कर्तृत्व न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभु
न कर्मफलसयोग स्वभावस्तु प्रवर्तते । १४

। नाऽऽदत्ते कस्यचित् पाप न चैव सुकृतं विभु
अज्ञानेनावृत ज्ञान तेन मुह्यन्ति जन्तव । १५

नीच पुरुष अपने को बड़ा चढ़ा बताने के लिए, अपनी बुद्धिमत्ता की कैसी डींग हाँकता है इसी मर्म को बताने के लिये सूक्ष्मदर्शी महर्षि कृष्णद्वैपायन ने, दुर्योधन के स्वभाव का यहाँ सजीव चित्रण कर रखा है, परन्तु आश्चर्य की बात है, कि बहुत लोग दुर्योधन की इस विचित्र दार्शनिकता के चक्कर मे आये पाये जाते हैं।

मान्य है, कि भगवान् के जो असीम भक्त होते हैं, उनको भगवान् से प्रेरणा हुआ करती है। 'ददामि बुद्धियोगं तम्' (गी १०-१०) ऐसा उनका वचन है, किन्तु इसका अर्थ ऊपर के उद्धृत वचनों के समन्वय से होना चाहिये, विरोध से नहीं। कर्मफलविपाकों के सिद्धान्त की मार्मिकता है, कि विशुद्ध, चित्तप्रभाव की प्रपन्नता से भक्त की बुद्धि में सत्प्रेरणाओं का उदय हो जाय और ज्ञान की भी उद्भावना हो, परन्तु कुत्सित घृणास्पद प्रवृत्तियों की प्रेरणा होना, नितान्त असम्भव है। प्रकाश से अन्धकार की किरणें आ नहीं सकतीं। इसी विषय में भगवद्गीता में महामना अर्जुन ने प्रश्न किया था, 'अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः,' (गी ३-३६) जिसका उत्तर भगवान् ने स्वयं स्पष्ट दिया है, काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्' (गी ३-३७) अतः स्पष्ट है कि दुर्योधन यहाँ अपनी व्यावसायिक धूर्तता को ही सार्थक कर रहा है। दुष्ट लोगों की आदत होती है, कि वे अपने दुराचारों का दायित्व किसी न किसी के सिर, थोप देते हैं। और आश्चर्य तो यह है, कि उनको ऐसी सचमुच ही भ्रांति हुआ करती है कि वे स्वयं निर्दोष हैं।

ज्ञानी पुरुषों के आचरण को लक्ष्य कर, वेदान्त विचारकों में प्रायः बहुत चर्चा हुआ करती है, जिस पर अब अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है। ज्ञानी पुरुष 'अनेकजन्मसंसिद्ध' रहने से उनका प्रारब्ध एवं चारित्र्य ही सुनिर्मल होता है। उनकी अन्तरात्मा में दुर्भाव उत्पन्न नहीं हो पाते। क्षण भर यदि कुछ कलुषितता की सम्भावना मान लें, तो भी सिद्धान्त है, कि 'प्रारब्ध' अपनी दशा में सीमित है, उसका वश क्रियमाण पर नहीं

और जहाँ चलता—मा प्रतीत होता है, वहाँ वह क्रियमाण नहीं, प्रारब्ध का ही एक अश है ऐसा मानना आवश्यक है। भगवान् की अगाध कृपा है, कि उन्होंने जीवात्मा को पूर्णतया 'प्रकृत्ति स्वातन्त्र्य' प्रदान कर रखा है। अतएव ज्ञानी पुरुष भ्रष्टाचारी नहीं हो सकता। यदि कोई होता है तो वह निश्चय, ज्ञानी नहीं है।

'यस्य नाहङ्कृतो भावो' इस श्लोक मे, ज्ञानी की महिमा बतायी गई है। भगवान् स्पष्टतया कह रहे है कि 'जिसको अहकार नहीं है,' याने जिसने राग द्वेषादि भ्रान्तियों की जड़ ही काट डाली है, उसकी निरहंकारिता का कहना ही क्या है? वेदान्त का ऐसा अभिप्राय नहीं, कि आप रागद्वेषों के कर्म किये चले जाओ और केवल 'अहंकार' को मत आने दो, जो असम्भव है। रागद्वेष और अहकार का अविनाभाव सम्बन्ध है, मानो वे पर्याय वाची शब्द हैं। वही अहकार त्याज्य है जो रागद्वेषान्वित कर्मों के सहभावी हो और जो सात्विक अहकार है वह, त्याज्य नहीं क्यों कि वह अनहकार ही है।

> नियत सगरहितम् अरागद्वेषत कृतम्
> अफलप्रप्सुना कर्म यत्तत्सात्विकमुच्यते ।
> (गी १८-२३)

> यत्तु कामेप्सुना कर्म साहकारेण वा पुन
> क्रियते बहुलायास तद्राजसमुदाहृतम् ।
> (गी १८-२४)

जैसा पहले बताया गया है, रागद्वेषान्वित कर्म ही 'कर्म' हैं, तदितर सब कर्म **अकर्म** हैं, बन्धक नहीं हैं। एवम् पहली कोटि का अहकार ही त्याज्य है, और दूसरी कोटि के अहकार और तदन्वित कर्तव्यों को, प्रतिमुहूर्त बढ़ावा ही देना चाहिए जिससे अभ्युदय तथा नि श्रेयस की सिद्धि हो सकती है।

शास्त्रकारों ने जो कर्मों की निंदा की है, वह अविवेकस्थापित एवं भ्रांति जन्य, राग द्वेष प्रेरित कर्मों की की है, सात्विक कर्मों की नहीं।

(४७) संसारी जीव कौन है ?

संसार में लिप्त हुआ जीव कौन है, उसका प्राकृतिक या धर्मात्मक स्वरूप क्या है, इस अनिवार्य समस्या में बहुत विभिन्न कल्पनाएं, तत्त्वज्ञान के अभ्यासकों और पण्डितों में पाई जाती हैं। दर्शनग्रन्थों में प्राय जिज्ञास्य तो परब्रह्म ही बताया गया है, और इस बेचारे अज्ञ जीव की खबर ना नहा ली गई है। इसकी रूपरेखा प्राय स्पष्टतया बताई नहीं जाती। पारमार्थिक जीव, जिसको प्रत्यगात्मा पुकारते हैं, उसी का उल्लेख और चर्चा जहा तहां आती है, वह ब्रह्मस्वरूप है, ऐसा अनेक स्थलों पर परिस्फुट भी किया जाता है, पर वह ससारी जीवात्मा से अन्य है, विभिन्न है, *यह तथ्य स्पष्टतया नहीं बताया जाता।* प्रत्युत ऐसी लपेटी और भूल भुलैआ वाली भाषा वर्ती जाती है, कि उससे विद्यार्थी की क्या कहें, पण्डितगण भी उलझनों में पड़ते हैं। यह 'मैं' कहने वाला, क्या प्रत्यगात्मा है, चिदाभास है, या मन है, या बुद्धि है, कुछ निश्चय नहीं हो पाता, क्यों कि पुस्तकों में अनेक परस्पर विरोधी विधान पाये जाते हैं। 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' इस श्रुति (मुण्डक ३-१-१ और श्वेताश्वतर ४-८-६) में, जीवात्मा और प्रत्यगात्मा अर्थात् परब्रह्म को स्पष्टतया विभिन्न बताया गया है। बृहदारण्यक उपनिषद (काण्वपाठ) के अन्तर्यामी (३-७) ब्राह्मण में 'सर्वेषुभूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदु' इन वचनों से इसकी पृथक्ता ही बताई गई है। माध्यंदिन पाठ (काण्ड १४ अ ६ ब्रा ७) में 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्य आत्मा शरीरम् य आत्मा-नमन्तरो यमयति एष त आत्माऽन्तर्यांम्यमृत' इन शब्दों से इसकी पृथकता और भी स्पष्ट की गई है। छान्दोग्य उपनिषद् (६-३-२) में जीवात्मा को परब्रह्म की 'छाया' कहा गया है, अर्थात् वह परमार्थ सत्य नहीं है, मिथ्या है, और भाष्य में बताया गया है —'सर्वं च नाम रूपादि सदात्मना एव सत्य विकारजातम् स्वतस्तु अनृतम् तथा जीवोऽपि'। बृहदारण्यक अ १ ब्रा ३

ऊपर के आद्योपान्त विवेचन में अद्वैत विज्ञान की दृष्टि में जीवात्मा का प्राकृतिक स्वरूप बताया गया है। यदि अंग्रेजी भाषा में उसकी व्याख्या बतानी हो तो लेखक की अल्प बुद्धि से 'Life is a Supra-chemical compound, endowed with considerable intlligence and individuality He has latent in him, the abaility to recognise his Maker and to solve the riddle of the Universe एसी की जा सकती है। आर्य सिद्धान्तों के अनुसार जीवात्मा, अनात्म चिद्विद्ध होते हुए भी, उसे परमात्मा ने ऐसा अद्भुत सामर्थ्य दिया है, कि वह, यहां के यहां निरतिशय निरंकुश तृप्ति से लाभान्वित हो सके। लौकिक भाषा में इसी को 'नर का नारायण होना' कहते हैं, पर यह शब्दार्थ से सत्य नहीं क्यों कि परब्रह्म निरवयव निर्द्रव्य एकमेवाद्वितीय वस्तु है, जिसमें न कोई चीज जाकर लीन हो सकती है और न कोई अंश बाहर निकल सकता है, या कोई ब्रह्म बन सकता है। यहां शब्दों के स्थूलार्थ नहीं लेने हैं, ज्ञानदृष्टि से इन बातों को हृदयगम करना है।

अब पंचदशी में —

> । चैतन्य यदधिष्ठान लिङ्गदेहश्च य पुन
> चिच्छाया लिङ्गदेहस्था तत्संघो जीव उच्यते ।
> (प्र ४ द्वैतविवेक श्लोक ११)

एसा जीव का वर्णन है। शुद्ध चैतन्य, लिङ्ग देह और चित्प्रतिबिंब, या चिदाभास इनके संघ को जीव कहते हैं। जीव भ्रांत होता है यह बात मान्य है, अत सभी भ्रांत हो जाते हैं, यह शंका होती है, परन्तु यह सही नहीं है। शुद्ध चैतन्य या प्रत्यगात्मा जो जीव में है, उसीको क्षेत्रज्ञ, पारमार्थिक जीव या हृदयस्थ नारायण, कहते हैं। वह साक्षात् ब्रह्म है, भ्रांत नहीं होता। प्रत्यगात्मा तो अणुरेणु में भी है। उसीके प्रभाव से हर वस्तु को **सत्तास्फुरण** अर्थात् अस्तित्व और गुणधर्मत्व मिला है। अग्नि को अग्नित्व, जल को जलत्व इसी से आ गया है, किन्तु 'नैनंदहतिपावक' 'नचैनंक्लेदयन्त्याप' यह भी

बात है। चैतन्य, व्यक्तिमत्व को या जीवभाव को प्राप्त होता है यह अबुद्धिवानों की समझ है 'अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यते मामबुद्धयः' (गी ७-२४) इससे सुस्पष्ट है, कि चैतन्य कहीं जीव नहीं बनता है। कहीं कहीं जीव को चैतन्य का अवच्छेद कहा गया है, परन्तु यह तो असंभव है। आकाश को अवच्छेद भले ही हो, परन्तु निर्द्रव्य निरवयव चैतन्य को किसी दृष्टि से मर्यादा डाली नहा जा सकती। कहीं उस को प्रतिबिंब कहा गया है, परन्तु यह शब्द भी भूल उत्पन्न करने वाला है। क्योंकि यह अनुभव की बात है, कि बिना बिंब में विकार हुए या कम्पन आदि आये, प्रतिबिम्ब में वे नहीं आते। अत हम जब भ्रांत होते हैं तब चैतन्य बिम्ब भ्रांत होना अनिवार्यता से आपन्न होता है। ऐसी जीव की व्याख्याएं विद्यार्थियों को प्रतारित कर देती हैं। इस लिए उनकी मर्यादाओं को भली भांति समझ लेना अत्यावश्यक है। तत्त्वानुसन्धान करा देने के लिए जड दृष्टान्त देना आवश्यक होता है, यह तो ठीक है, किन्तु वह किसी रीति से अद्वैत तत्त्व के विरोधी या स्वपरवंचक न हों ऐसी सावधानता सदा ही आवश्यक है।

कई वेदान्त पुस्तकों में जीवात्मा में कर्तृता या कर्म स्वातन्त्र्य का नाम तक नहीं, ऐसा एक विचित्र मत प्रतिपादित किया हुआ दिखाई पड़ता है। इसका पर्याप्त निराकरण इसके पहले प्रकरण ४० पृष्ठ १३७ पर किया गया है। इस उपलक्ष्य में, और एक शंका की आलोचना करना उचित मालूम होता है। कहा जाता है, कि यदि परमात्मा निरवयव चैतन्य रूप है और अगर कोई जीवात्मा रूप अंश उससे न बाहर आते हैं, और न उसमें जा कर विलीन हो सकते हैं तो —

> । यथा सुदीप्तात् पावकात् विस्फुलिंगा सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः
> तथा पराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यान्ति ।
> (१

वैसा ही यथा 'नद्यः स्यन्दमानास्समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति ना॰ (मु ३-२-८) या 'ब्रह्मैवसन् ब्रह्माप्येति' (बृ ४-४-६).

तात्पर्य निरवयव परमब्रह्म अद्वितीय ब्रह्म वस्तु के विभाग होते हैं या टुकड़े होते हैं ऐसा कदापि नहीं हो सकता। अद्वैत सिद्धान्त में भेद की कड़ी निन्दा की गई है द पृष्ठ ११७

चिदाभास यद्यपि अनात्म होकर भी तथापि वह हजारों वर्ष बना रहता है। ८४ लाख जन्मों में से बीतता है और फिर कथंचित् पुण्यवशात् उद्भूत इश्वराय क्रमानुष्ठान अपगत रागादि मल चेतादात्म्य प्रतीय मान ब्रह्मात्मभाव मुमुक्षु शमादि साधन सम्पन्न ब्रह्मात्मदमात्र समुपैत ब्रह्मात्मत्वमवगम्य ब्रह्मरूपोऽवतिष्ठते ऐसा जीवन्मुक्ति की प्राप्ति का प्रतिपादन 'सनत् सुजातीय' के प्रस्ताव भाष्य में किया गया है। देहान्त समय में 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति इहैव समवनीयन्ते' (बृ ३-२ ११) सब जड़ द्रव्य मूल भूतों में रूपान्तरित हो कर उन्हीं में विलीन हो जाते हैं। बुद्धितत्व पर रहा हुआ चित्त रूप अहंकार, वह भी अपने प्राकृतिक कारण में मिल जाता है अर्थात् उसका व्यक्तित्व का निरन्वय नाश ही हो जाता है। पूज्यपाद श्रीशंकराचार्य मुक्त हो गये, आज उनका एकाध अत्यंत सूक्ष्म अंश वहां इस ब्रह्माण्ड के दूर के स्थान में चिपककर रहा है, ऐसा तो हम नहीं मानते। उनका व्यक्तित्व प्राकृतिक था और प्रकृति में ही उसका विलय हो गया यही निश्चित है। एवं च उक्त श्रुतियों का तात्पर्य लक्षण से ही लेना आवश्यक है। अन्त में जीवात्मा ब्रह्म बने कैसे ? मोक्ष क्रिया रूप तो नहीं है। अर्थात् ब्रह्मात्मभाव ज्ञानदृष्टि से ही सिद्ध होता है। यहां ही जीवन्मुक्त को निरतिशय शान्त समाधान और सुख की प्राप्ति होती है और अन्त में वह किसी भी रूप से अवशिष्ट नहीं रहता। जगद्व्यापारवर्जम् (ब्र सू ४ ४-१७) से यही सिद्धान्त होता है कि सृष्टिनियन्तृत्व या और भी जो परब्रह्म के प्रशासन या सत्ता सामर्थ्य हैं वे कितना भी बड़ा ज्ञानी हो उसे प्राप्त नहीं हो सकते। तथ्य दृष्टि से न कोई ब्रह्म बनता है और न उसमें मिल जा सकता है।

विदेहमुक्ति अर्थात् ज्ञानी के देहान्त के साथ ही चिदाभास का निरन्वय अभाव हो जाता है इसका कुछ वेदान्ती पण्डितों को बड़ा डर लगता सा

मालूम होता है, जिससे वे एक बडे हेत्वाभास के जाले में फँसे हैं। वे कहते हैं कि यदि एसा निरन्वय नाश होने वाला हो, तो मोक्ष के लिये कौन प्रस्तुत होगा ? यह तर्क तो बड़ा विचित्र है। परामुक्ति के पश्चात् भी अपने अस्तित्व की प्रत्याशा रखना, इसमे तो मोक्ष के लिए अपनी अपात्रता ही सिद्ध होती है। इन पंडितों का कहना है कि प्रत्यगात्मा ब्रह्मरूप से अर्थात् अवधि रूप से अव शिष्ट रहता है। ठीक है, पर, ब्रह्म अवधि रूप से कब नहीं था ? और उसको क्या यह आशा लगी रहती है कि स्वय अवधि रूप से अवशिष्ट रहे ? दृश्य अहंकार को ही ऐसी लालसा रहना सभव है, और इसका परित्याग ही उसकी अस्मिता की कसौटी है। इन लोगों की युक्तिप्रणाली यह है कि, अब्रह्म कभी ब्रह्म नहीं बन सकता, गौ या अश्व कभी नहीं हो सकता पहले ब्रह्म रहे, फिर किसी कारण से वह अज्ञानी हो और फिर इस आगतुक अज्ञान को हटाने से ब्रह्म बने, यह प्रक्रिया सुगम है, अत पहले मनुष्य ब्रह्म ही था ऐसा इनका सिद्वान्त है, और वे कहते हैं कि यदि ऐसा न माना जाय तो वैय्यधिकरणता दोष की आपत्ति आती है। सुवर्ण कलकित हो तो उसीका कलक निकालने मे वह शुद्ध बनता है, जिस अधिकरण या स्थल मे दोष आया है उसी स्थल से उसका निकास होना आवश्यक है, सुवर्ण शुद्ध करने के लिए चांदी का दोष निकालने का प्रयास करते रहना इसका नाम वैय्यधिकरणता दोष है। अर्थात् ब्रह्म ही भ्रान्त हो कर उसका मानव बन जाता है, यह इनका सिद्धान्त है। इस ऊंची तार्किकता के सामने ऐसा कौन अभागा है जो सर न झुकावे ? दोष को हटा देने की चिन्ता तो अद्‌भुत है। स्व कपोल परिकल्पित व्याधि की कपोलकल्पित चिकित्सा, व्याधि से भी भयानक है। यदि ब्रह्म ही भ्रान्त हो जाय तो अद्वैतदर्शन समुद्र में प्रक्षिप्त करने के योग्य है। तर्क शृङ्खला की एक भी कड़ी यदि खो जाए तो देखिए कैसी विपत्ति होती है।

(४८) तादात्म्य ज्ञान ही मोक्ष का साधन है

तात्पर्य यह है कि भले ही जीवात्मा अचिद्रूप हो उसकी 'ज्ञान बल क्रिया' याने उसका ज्ञान और कर्तृत्व सामर्थ्य, अदृष्ट है। अनेक जन्मार्जित पुण्यो के समुदय को ब्रह्म विज्ञान (जिसका पर्याप्त विवेचन प्रकरण (३७) आत्म-

दर्शन पृष्ठ १०८ से आगे किया गया है) यहाँ का यहीं प्राप्त हो सकता है। उसका यही निश्चय कर लेना है कि परब्रह्म परमात्मा सत् चित् और आनन्द रूप हैं, उनकी दण्डायमान अद्वितीय **सत्** सत्ता पर ही द्वैत भावरूप निखिल प्रपच का विलास टिक रहा है। वे स्वसकल्पमात्र से ही अखिल ससार के उत्पत्तिस्थितिलय के विधाता और नियामक हैं। उनकी **चित्** सत्ता ही लौकिक अलौकिक व्यावहारिक पारमार्थिक सकल प्रकार के ज्ञान का निदान है। उनकी अनुपमेय **आनन्द्** सत्ता ही जगत में सकल प्रकार के सात्विक सुख तथा अद्वैतावस्था के निर्मल निरतिशय सुख की जननी है। सारी चराचर सृष्टि परब्रह्म की दण्डायमान सत्ता के बिना क्षण भर के लिए भी नहीं रह सकती, अत वह 'ब्रह्माभिन्न' है। ब्रह्म कारण है और विश्व उसका कार्य है, अर्थात् मैं भी एक सृष्ट पदार्थ हूँ। सृष्टि और ब्रह्म में भेद सम्बन्ध नहीं है **अनन्यत्व** सम्बन्ध है जिसको '**तादात्म्य** सम्बन्ध' कहते हैं। याने प्रथम द्वितीय के बिना रहता है परन्तु द्वितीय बिना प्रथम के नियन्त्रण के नहीं रह सकता। इस सिद्धान्त का युक्तियुक्त विवरण पीछे प्रकरण ४१ परिच्छेद २ पृष्ठ १४८ से आगे आ चुका है।

श्रीमच्छंकराचार्य के वाक्यवृत्ति नामक स्तोत्र के श्लोक ६ में बताया गया है —

। तत्त्वमस्यादि वाक्योत्थ यज्जीवपरमात्मनो
तादात्म्य विषयं ज्ञान तदिद मुक्तिसाधनम् ।

तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि सर्वं खल्विद ब्रह्म, इनका तात्पर्य, तू, मैं, या यह सर्व जगत, ब्रह्म है, ऐसा नहीं यहाँ शब्दार्थ असभव है, इसी लिए लक्षणा करनी पड़ती है। एक ब्रह्म ही परमार्थ सत्य है, और महाकारण है, शेष सब चराचर जगत् अपरमार्थ, अनिर्वचनीय है, और ब्रह्म से उत्पन्न कार्य रूप है। इन दोनों का सबन्ध अभिन्नता का है, **अनन्यत्व** है। द्वैत मत में दोनों परमार्थ सत्य माने गए है। **अद्वैत** मत में चराचर सृष्टि को स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, यह तात्पर्य है।

मोक्ष के सम्बन्ध में **अद्वैतविज्ञान** का अटल सिद्धान्त, **ज्ञानादेव तु कैवल्यम्** रहा है। श्वेताश्वतर उपनिषद् (३ ८) घोषणा करता है 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'। छान्दोग्य उ (७-१-) बता रहा है, 'तरति शोकमात्मवित्'। मुण्डकोपनिषद् में ज्ञान की महिमा के बीसियों वचन पाये जाते हैं।

(५९) ब्रह्मज्ञान का साक्षात् साधन उसका स्वरूप और उसकी फलश्रुति

अन्य साधनाओं का प्रयोजन, सम्यग्ज्ञान के निमित्त है। कर्मयोग, भक्तियोग और ध्यानयोग बुद्धि को विशुद्ध सूक्ष्म करने के लिए हैं। परन्तु अन्त में श्रवण मनन, निदिध्यासन, द्वारा श्रुत्यर्थ का पर्यालोचन और याथात्म्यबोध होने पर ही, मोक्ष अर्थात् निरतिशय शान्ति और आनन्द का लाभ साधक से हो सकता है, सम्यग्ज्ञान की संक्षिप्त व्याख्या यही है:—

१ ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः
अनेन वेद्यं सच्छास्त्रमिति वेदान्त डिण्डिम ।२०
(श्रीशङ्कराचार्यकृत ब्रह्मज्ञानावाली माला)

(१) ब्रह्म त्रिकालाबाधित सत्य है, उसका ज्ञान (अ) स्वरूप लक्षण और (आ) तटस्थ लक्षण, इन दोनों के तात्पर्यार्थ ग्रहण से ही हो सकता है। इस प्रधान विषय में विस्तृत विवेचन प्रकरण २८ और ३१ पृष्ठ ४१ और ६८, तथा और भी जगह जगह किया गया है। तटस्थ लक्षण का प्रयोजन ही ब्रह्मकारणता सिद्धान्त का प्रमाण है। इसका भी विशदीकरण अनेक स्थलों पर किया गया है।

(२) जगन्मिथ्या; मिथ्या शब्द का अर्थ ही सदसद्विलक्षण है, अर्थात् जगद् व्यावहारिक सत्य कार्यक्षम किन्तु अशाश्वत है। इसका स्पष्ट विवरण प्रकरण ४१ में दिया गया है।

(२) 'जीवोब्रह्मैवनापर', जीव शब्द के दो अर्थ हैं, एक पारमार्थिक जीव अर्थात् प्रत्यगात्मा, यह तो साक्षात् ब्रह्म है, क्योंकि एकमेवाद्वितीय निरवयव ब्रह्म मे तनिक भी भेद नहीं है, दे पृ. ११७, वैसे ही 'पूर्णमद पूर्ण मिदम्' का अर्थ जो आगे 'ईशावास्य उपनिषद् का अनुवाद' प्रकरण ६१ मे दिया जाएगा। दूसरा, ससारी जीव तो अनात्मा है दे प्रकरण (४७) पृ १९१ जैसी चराचर सृष्टि, वैसा ही वह। न पहले वह ब्रह्म था न आज है और न आगे चल कर होने वाला है, क्योंकि ब्रह्म के विभाग नहीं होते। हा जैसे बाधसामानाधिकरण्य के सिद्धान्त से सारा जगत् ब्रह्म है वैसा ही वह भी ब्रह्म है। दे पृ. १४१ और आगे प्रकरण ५२

वेदान्त दर्शन भावप्रधान पुरुषों के लिए नहीं है, वह मेधावी स्वाध्याय शील ब्रह्मविद्यार्थियों के लिये है। ब्रह्म स्वरूप का यथार्थ निर्धारण जिस पुरुष को होता है उसके लिए त्रिविध फल की प्राप्ति बताई गयी है वह यह —

(१) पराप्रज्ञा की प्रतिष्ठा, येनाश्रुत श्रुतं भवति, (छा. ६-१-३) ज्ञानी की बुद्धि चतुरस्र, अनेक विषयों को ग्रहण करने मे कुशाग्र, होती है। बृहदारण्यक श्रुति भी इसी सिद्धान्त को स्पष्टरूपता से बता रही है —आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेद सर्व विदितं भवति (बृ २-४-५)

(२) सर्वात्मभावापत्ति, ज्ञानी पुरुष, प्रपञ्च को चिद्विलास की दृष्टि से देखता है। प्राणिमात्र के साथ उसका आत्मीयता का और प्रेम का वर्तन रहता है। प्राणिमात्र उसको अपना प्राण समझते हैं। श्रुति माता कहती है, 'स इदँ सर्वं भवति, तस्यह न देवाश्च नाभूत्या ईशते, आत्मा ह्येषाँ स भवति' (बृ १-४-१०) देवता भी उसका कुछ बिगाड नहीं सकते क्योंकि उन्हींका वह आत्मा बन जाता है। ऐसे ज्ञानदृष्टि मनीषियों के वर्णन में पूज्यपाद व्यास महर्षि लिखते हैं।

। य प्रव्रजतमनुपेतमपेतकृत्यम्
द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव
पुत्रेति तन्मयतया तरवोभिनेदु
त सर्वभूतहृदय मुनिमानतोऽस्मि ।
(भागवत १२२)

यह श्रीशुकमहामुनि का वर्णन किया गया है, यह स्पष्ट है। भगवान् आनन्दस्द कृष्णचन्द्र की ओर, मानव जनता तो क्या, गौ, हिरन इत्यादि जानवरों के समूह भाग कर जा गिरते थे, वह यही अद्वितीय आत्मिक* आकर्षण है।

और (३) दुःख की अत्यत निवृत्ति और निरतिशय आनन्द तथा शान्ति सुख की प्राप्ति।

इस त्रिविध फल प्राप्ति क सम्बन्ध में मध्यकालीन और अर्वाचीन वेदान्ती पण्डितों का क्या अभ्युपगम है यह देखना कौतुकास्पद होगा।

ज्ञानादेवतु कैवल्यम् यह सिद्धान्त प्राय इन पण्डितों को सम्मत है। प्राय कहने का कारण यह है, कि कितने ही पण्डितों ने ज्ञान का समुच्चय ध्यान से कर दिया है। किम्बहुना ध्यान को ज्ञान के सिर पर चढ़ा दिया है। इसमें भी बुद्धमत की छाया दिखाई देती है।

---

* इसम अधार्मिक अनैतिक अश्लील और विचार विगर्हित अपव्यवहारोंका समावेश करके श्रीकृष्ण भगवान् के सम्बन्ध म उनका इस पवित्र ग्रन्थ में प्रक्षेप कर देना, इससे अधिक घृणास्पद और सताप जनक कौनसी बात हो सकती है? श्रीव्यासजी की लेखनी को एसी बातें छू नहीं पाती। अर्थात् यह हमारे विषयासक्त लोगों का ही काम है। इस पुराण में बहुत स्थलों म भेदा भेद वाद और बौद्ध सम्प्रदाय के मत भी प्रक्षिप्त पाये जाते हैं।

ज्ञान अथवा यथार्थबोध का प्रतिपादन पहिले ही किया गया है। इस में ईश्वर, जगत् और जीव इन तीनों के तत्वों का यथार्थ निर्द्धारण आवश्यक है, श्रीविद्यारण्यस्वामी का भी यही मत है। परन्तु हमारे पण्डितों को यह सम्मत नहीं, वे कहते हैं कि हमको जगत्, सृष्टि की उत्पत्ति या उपपत्ति या ब्रह्मकारणतावाद इन बातों से कोई प्रयोजन नहीं है यह सब धान्त्रिकथाएँ हैं। हम 'एकमेवाद्वितीय ब्रह्म' इसी को जानना चाहते हैं। ऐसे अशास्त्रीय दुराग्रह का परिणाम ब्रह्म के अनवबोध में ही हो, तो कोई आश्चर्य नहीं।

क्षण भर के लिये मान लिया जाय कि हाँ ब्रह्म को ही जान लो। किन्तु इसमें भी इतनी यह आपत्ति है, कि हमें ब्रह्म का *तटस्थलक्षण मान्य नहीं,* क्यों कि वह ऊपर उल्लिखित धान्त्रिकथाओं की भांति असत्य है। अब देखिये, वास्तव में तटस्थ लक्षण तो उसी ब्रह्म का है जिसका स्वरूपलक्षण है, 'कादाचित्कत्वे सति व्यावर्तकत्वम्' ऐसी उसकी शास्त्रीय व्याख्या है, परन्तु इन के दिल में यह बात जमी हुई है, कि वह किसी अनात्म अब्रह्म का लक्षण है, इसका क्या इलाज? अच्छा, स्वरूप लक्षण में भी इन भद्र पुरुषों ने बड़ी गड़बड़ी कर रखी है। **सत्** शब्द का अर्थ वे केवल 'अस्तित्व' याने जड़ सत्तासामान्य, जिसे प्रशासनादि प्रभाविता का स्पर्श नहीं ऐसा कर लेते हैं। **चित्** शब्द का अर्थ ज्ञातृत्व विरहित प्रत्युत, ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय, ये तीनों जिसमें हैं नहीं *ऐसा कर लेते हैं। जो समझ में आना दुर्घट है। अब रहा* **आनन्द,** इसको वे ज्ञान स्पर्श विहीन तुष्टि ऐसा कुछ का कुछ ही मान लेते हैं। ये सब कल्पनाएँ शून्यता में ही पर्यवसित होती हैं। अनेक शताब्दियों से ऐसा **शून्य ब्रह्म** का ध्येय हमारी दृष्टि के सामने रहने से हम अगर शून्य प्राय हुए हों, तो उसमें क्या आश्चर्य है?

'सर्वात्मभाव', ब्रह्म विज्ञान का दूसरा फल बताया गया है। इसका विवरण पहले ही आ गया है। इसमें भी हम बौद्धों के भ्रमचक्र में आ गए हैं, उल्लिखित श्रुति में 'इदं सर्वं भवति' ऐसा शब्द है 'इदं' तो बाहर कुछ है ही नहीं, और अन्दर मनोवृत्तियों का उपशम होने पर **शून्य** ही रहता है,

अर्थात् सर्वात्मभाव का अर्थ सर्व का अभाव इन्होंने कर रखा है ! और इस पैनी दृष्टि से इसी श्रुति के इतर अनेक शब्द गपसप हैं, ऐसा कह कर ये लोग स्वसमाधान कर लिया करते हैं !

बहुत से पण्डितों का यह कहना है, कि 'सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म' यह ब्रह्म का स्वरूप लक्षण बन ही नहीं सकता और यही वेदान्तका अत्युच्च सिद्धान्त है ! इसका कारण यह है, कि जहां तीन भिन्नार्थ शब्द आएँ वहां स्वगत भेद आ ही गया, अतः इन शब्दों के अलग अर्थ ही नहीं हैं। इनमें जो एक अनुस्यूत अस्तिता का अर्थ है, उतना ही स्वीकार्य है ! श्रीमच्छंकराचार्य ने यह सब शब्द, अर्थ युक्त हैं ऐसा अपने तैत्तिरीय भाष्य में बताया है । शास्त्रकारों के द्वारा बनाया हुआ लक्षण गलत है, यह कहना धृष्टता मात्र है ।

दूसरे एक महापण्डित की आपत्ति है, कि तीन शब्द तो क्या एक भी शब्द ब्रह्म विषयक नहीं हो सकता क्यों कि 'विगत अशेष विशेष' ऐसा उसका वर्णन है, अतः 'शांतिस्वरूप' इतना कहें, तो भी विशेषता आजाती है ! यह सुन कर तो किसी को भी बड़ा अचम्भा होगा । फिर प्रश्न हो सकता है, कि 'एकमेवाद्वितीयत्व' भी विशेषता क्यों नहीं ? और 'विगत अशेष विशेष' इस पर भी वही आपत्ति क्यों नहीं आती ? 'अस्ति' कहें, तो भी छुटकारा नहीं 'उसका लक्षण ही बनता नहीं' ऐसा कहें, तो भी वही बात आती है ! मौन कहें, तो भी वैशिष्ट्य से कैसे बचे ?

सारांश विवेक बुद्धि और तारतम्य ज्ञान को खोने के बाद यदि शब्दों के कर्दम में मनुष्य गिर जाय, तो उसी कर्दम में गिरा हुआ दूसरा, उसे कैसे बाहर निकाल सकेगा ?

वेदान्ती पण्डितों में ऐसा भी एक मत प्रचलित है, कि ब्रह्मज्ञान के साथ ही सम्पूर्ण अविद्या, उसके कार्य सहित नष्ट हो जाती है ! यह विधान श्रोता को बड़े विभ्रम में डाल देता है । आप ब्रह्म वेत्ता यदि हों तो आपके

पड़ोसी की अविद्या नष्ट नहीं होती, आपके स्त्री पुत्रादिकों की भी नष्ट नहीं होती, फिर जगत की अविद्या तो बहुत ही दूर रही। बृहदारण्यक (१ ४–१०) के भाष्य में आचार्य लिखते हैं, 'नहि क्वचित् शास्त्रात् वस्तु धर्मस्य अपोढा दृष्टा कर्त्री वा ब्रह्मविद्या विज्ञानस्य मिथ्याज्ञाननिवर्तकत्वं व्यतिरेकेण अकारकत्वम् इत्यवोचाम। न च वचनं वस्तुनः सामर्थ्य जनकम्। ज्ञापकं हि शास्त्रं न कारकमिति स्थितिः।' अतः 'सम्पूर्ण अविद्या का सकार्य नाश' इसका तात्पर्य हमारे अज्ञान या विपरीत कल्पनाओं का नाश इससे अधिक हो ही नहीं सकता। जगत् के पदार्थों का नाश होना चाहिए यह वेदान्त का आशय ही नहीं है, बाध या निवृत्ति असम्यक् भावों की ही हो सकती है दूसरे किसी की नहीं, इस दशा में, प्रपञ्च, ज्ञाननिवर्त्य है, मूलमाया नष्ट होती है, ऐसे वाक्य सम्भ्रमोत्पादक हैं। 'बाधितानुवृत्ति' यह शब्द भी असमञ्जस है, ब्रह्मज्ञान से जो भ्रांति नष्ट हो गई वह फिर कैसे अनुवृत्त हो? और अगर होती है तो वह बाधित हुई नहीं यही सिद्ध हो जाता है। परन्तु दुर्भाग्य हमारा कि **मूल माया** जो सच्चे अर्थों में पारमेश्वरी शक्ति है उसी को हम भ्रान्ति समझ बैठे हैं। यह सब बौद्ध सम्प्रदाय ने जो अज्ञान कारणता का भ्रमोत्पादक प्रचार किया, उसी का परिणाम है।

•

(५०) ज्ञाननिष्ठ पुरुष के सम्बन्ध में अनोखी बातें

ज्ञानदृष्टि पुरुष के सम्बन्ध में भी ऐसी ही नासमझी की बातें पुस्तकों में लिखी हुई दिखाई देती हैं। कहा जाता है, कि या, तो वह पाषाण के समान पड़ा हुआ रहता है, या 'बालोन्मत्त पिशाचवत्' दुर्वृत्त और घृणास्पद आचरण करते दिखाई देता है। आनन्द कन्द श्रीकृष्णचन्द्र ब्रह्मनिष्ठ याज्ञवल्क्य, पुण्य श्लोक जनक और भगवान शंकराचार्य इनका किस विभाग में आप डाल सकते हैं? ऐसे असमञ्जस वर्णन दशोपनिषदों में कहीं नहीं हैं। दूसरे कुछ उपनिषदों में अच्छी बुरी बातों का बहुविध मिश्रण पाया जाता है पर प्रकट है, कि इनमें जो श्रुति युक्ति तथा तर्कों के विरुद्ध है, वह प्रक्षिप्त है और निक्षिप्त तो है ही। ऐसे वर्णनों में बौद्ध मतों की छाप ही दिखाई देती है। इनकी मुक्ति आश्रय और

प्रवृत्ति विज्ञान के अत्यंत उपशम रूप ही है, अर्थात् बुद्धि की निश्चलता या पाषाण रूपता यही उसका स्वरूप है। बुद्धिशून्यता के अनन्तर अगर शरीर के कुछ व्यापार हों तो वे 'बालोन्मत्त पिशाचवत्' ही होने वाले हैं। सम्भव है, कि उससे कभी दुर्वर्तन भी हो। वैसे भटके हुए ये विचार हैं? पारमार्थिक ज्ञान और व्यावहारिक सामञ्जस्य इन दोनों में क्या ऐसा 'अहिनकुल सबन्ध' है? व्यावहारिक सदाचार और **दैवी सम्पत्** ये तो परमार्थ के साधन हैं, और यही ज्ञानी के लक्षण हैं। परन्तु **'समष्टि अज्ञान'** का शशशृंग को सर पर लेने के बाद 'विवेक भ्रष्टाना भवति विनिपात शतमुख', ऐसा न हो, तो ही आश्चर्य है।

(५१) अद्वैत-विज्ञान और परमात्म भक्ति में विरोध है क्या ?

ग्रन्थगत पूर्वोक्त प्रतिपादन में यह स्पष्ट किया गया है, कि ससारी जीवात्मा या चिदाभास रूप अहकार याथात्म्य ज्ञान के पश्चात् ब्रह्म नहीं होता। ब्रह्म होना एक प्रौढिवाद की भाषा है। ताम्र धातु पर विशिष्ट रासायनिक प्रयोगों के बाद उसका सुवर्ण बन जाता है,—ऐसा एक प्रवाद बहुतागत से गतकाल में पौर्वात्य और पाश्चात्य देशों में प्रचलित था। उसकी तरह ब्रह्मभाव में द्रव्यगत परिवर्तन तो असभव है, और सभव हो तो भी कृतक होने से विनाशी अर्थात् निष्प्रयोजन है। चिदाभास या अहकार स्वय ही

खड्डे में गिरने दो, मुझे क्या प्रयोजन, ऐसी स्वार्थ वृत्ति उसे छू नहीं सकती थी इस सम्बन्ध में प्रकरण (३९), पृष्ठ १२३ और (४६) पृष्ठ १८६ पर यथेष्ट वर्णन किया गया है। अर्थात् ज्ञानी का आचरण सर्वदा उदाहरणीय रहता है। उसकी भक्ति ज्ञान के दिव्य आलोक से उद्भासित और आनन्दपूर्ण रहती है।

भक्ति करना या पूजा करना, इसका अभिप्राय देवताओं को दीनता दिखा कर भीख मांगना नहीं, और न उनकी खुशामद करके अपना स्वार्थ सिद्ध करना है। मौलिक तत्त्व तो स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानव (गी १८-४६) यह है। पत्र पुष्प फल तोय की अर्चा इसी मौलिक तत्त्व की निदर्शक है। इसी का स्फुरण दिखाने के अर्थ उसकी उपयोगिता है। उसमें चित्त प्रसाद अवश्य बनता है, और उससे भक्त अधिक ही कर्तव्य दक्ष होता है। बिना सत्कर्म के कुछ भी फल मिलना, कर्म सिद्धान्त के विरुद्ध है। ईश्वर सर्वदा ही प्रसन्न हैं और अपने हस्त कमल में प्रसाद लिये हमारे सन्मुख भी स्थित है, केवल हमारी योग्यता सम्पादन की ही देरी है।

(५२) 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का यथार्थ बोध

छान्दोग्य उपनिषद् में अनेक यज्ञांग और कर्मांग उपासनाओं तथा अन्यान्य विधानों का, यथा अग्निविद्या, शाण्डिल्य-विद्या का उल्लेख आया है। इस सम्बन्ध में प्राणादि अमुख्य ब्रह्मोपासना तथा मुख्य ब्रह्म की भी गुणभेद से उपासना, क्रम मुक्ति के अर्थ दिख लायी है। 'सर्वम् खल्विद ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' (छां ३-१४-१) इस वाक्य के भाष्य में आचार्य लिखते हैं, कि 'त्रिपाद् अमृतरूप अनंतशक्तिरूप (अर्थात् निर्गुण) ब्रह्म के कुछ विशिष्ट गुणों के अवलम्बन से यह उपासना है, और इसी एकमेवाद्वितीय ब्रह्म का आगे छठवें अध्याय में विस्तृत विवेचन आनेवाला है' यह सांख्यों के सत्त्व रज तम अथवा अन्य कुछ काल्पनिक गुणों द्वारा उपासना नहीं है। प्रत्युत नित्यत्व शुद्धत्व अनंत शक्तिमत्त्व—इन स्वरूप भूतगुणों से ही यह उपासना है। अर्थात् यह

सम्पद् रूप या अध्यारोप उपासना नहीं, प्रत्युत अन्तिम ध्येय की ही यहाँ उपासना है।

अपिच यहां अद्वितीय चैतन्य के सत् सामर्थ्य पर ही निखिल द्वैतभाव मय प्रपंच के उत्पत्ति, स्थिति, लय होते हैं यह सिद्धान्त भी बताया गया है। आगे चल कर अध्याय ६ खण्ड २ में, अनेक विद्याओं की आधार भूता ब्रह्मविद्या है, ऐसा उपक्रम करके जगत् का मूल क्या है इसकी गवेषणा की गई है, और अन्त में एक ही परमार्थ ब्रह्मतत्त्व सर्व पदार्थों मे अनुस्यूत है उनकी उत्पत्ति-स्थितिलय करने वाला यही तत्त्व है, और यही तत्त्व तुम्हारी आत्मा है, इस प्रकार का उपदेश नव बार किया गया है। 'सर्वम् खल्विद ब्रह्म' यह उपासन-श्रुति है, और '**तत्वमसि**' यह उपदेशश्रुति है। इस सब प्रतिपादन का युक्ति तथा तर्क द्वारा यथार्थ निर्णय ही फलपर्यवसायी हो सकता है।

परन्तु 'सर्वं खल्विद ब्रह्म' का एक विपथगामी अर्थ, वेदान्त पण्डितों में रूढ हो गया है, वह यह कि यहां, एक ब्रह्म ही ब्रह्म है, दूसरा कोई पदार्थ है ही नहीं! अत ज्ञानदृष्टि पुरुषों को यहा कोई पदार्थ दिखता नहीं ! यह कितनी असत्य धारणा है, यह अनेक बार इस प्रबन्ध में बताया गया है। 'नाप्रतीति स्तयोर्बाध किन्तु **मिथ्यात्व** निश्चय' (पंचदशी चित्रदीप श्लोक १३) ऐसा श्रीविद्यारण्य स्पष्ट लिखते हैं। सम्भवत इस प्रचलित विपर्यस्त धारणा को देख कर एक स्थान मे श्रीमधुसूदन सरस्वती ने बहुत खेद प्रदर्शित किया है। अपनी गीता टीका में वे कहते हैं —

> । अज्ञस्य अर्धप्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मेति यो वदेत्
> महानिरयजालेषु सतेन विनियोजित ।
> (गीता ३-२६ की टीका)

'सर्व खल्विद ब्रह्म' इस विषय मे वेदान्ती पण्डितो का यह अभिप्राय है, कि श्रुति माता ने यहा के यावतीय पदार्थ, बाधसामानाधिकरण्य से ब्रह्म है,

ऐसा बताया है। 'स्थाणुरयं चोरः' इस आप्तवाक्य को सुनते ही चोर की भावना जैसे नितान्त नष्ट हो जाती है, और स्थाणु ही दिखाई देता है, ठीक इसी प्रकार उक्त श्रुति वाक्य से ज्ञान के जगत् की कल्पना ही विनष्ट होती है, और ब्रह्म ही ब्रह्म दिखाई देता है! यह युक्ति कितनी थोथी और हास्य जनक है? प्रथम तो छान्दोग्य श्रुति में आद्योपान्त इस अभिप्राय का लवलेश नहीं है। द्वितीय, ऐसा अनुभव कोई ज्ञानी पुरुष करता ही नहीं, बाध शब्द का एक अर्थ निरन्वय नाश है, यह मान्य है, किन्तु ऐसा नाश केवल हमारे विभ्रमों का ही होता है, जिनका स्थान केवल हमारा मस्तिष्क है, बाहर कहीं नहीं है। 'स्थाणुरयं चोरः' इस वाक्य के ज्ञान से चोर का विनष्ट होना उचित है क्योंकि वह वहां था ही नहीं। और विश्व भी अगर बौद्धों के मतानुसार प्रातिभासिक ही रहता तो उसका भी निरन्वय नाश होता, था, किन्तु यह हमारा सिद्धान्त नहीं है। बाह्य पदार्थों का अनिर्वचनीय व्यावहारिक अस्तित्व हमें मान्य है, उनका ब्रह्मविज्ञान से नाश होता ही नहीं। उनके विषय में हमारी जो नासमझियां हैं, वही नष्ट हो जाती हैं, यह हमारा सिद्धान्त है। इससे परिस्फुट होगा कि अनेक अर्वाचीन वेदान्त पुस्तकों की भाषा कैसी बौद्धमतों पर अधिष्ठित हो गई है।

अब यहां एक विशेष शंका की अवतारणा हो सकती है वह यह, कि यदि श्वेतकेतु स्वयं ब्रह्म न था और छां ६-३-२ के भाष्य में 'सर्वं च नामरूपादि सदात्मना एव सत्यं विकारजातम् स्वतस्तु अनृतमेव, वाचारम्भणं विकारो नामधेयम् इत्युक्तत्वात् तथा जीवोऽपि' ऐसा आचार्य स्वयम् स्पष्ट ही लिखते हैं, तो फिर 'स य एषोऽणिमा एतदात्म्यमिदं सर्वं, स आत्मा, तत्त्वमसि श्वेतकेतो, 'तू आत्मा है' ऐसे स्पष्ट शब्द क्यों लिखे गए हैं? इसका स्पष्टीकरण यहां प्रस्तुत किया जाता है।

छान्दोग्य उपनिषद् के छठवें अध्याय का प्रस्ताव, सब विद्याओं में ब्रह्म विद्या की मौलिकता और प्रमाणिता प्रतिपादन करता है। 'एकेन विज्ञानेन सर्वं विज्ञात भवति' ऐसी ब्रह्मविद्या की महत्ता यहां दिखाई गई है। आगे सत् रूप

ब्रह्म से सृष्टि कैसे हुई यह बताया गया है, और यही **सत्** तत्त्व इस ब्रह्माण्ड में कैसे ओत प्रोत है, यह भाँति भाँति के दृष्टान्तों द्वारा समझाया गया है। इस विवेचन का निर्देश वाक्य —'स य एषोऽणिमा ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' जिसका नव बार उपदेश किया गया है। छां ६–८–७ के भाष्य के वचन ऐसे हैं —

'एतेन सदाख्येन आत्मना आत्मवत्सर्वमिदं जगत्। नान्योऽस्त्यस्यात्मा संसारी 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ' इत्यादि श्रुत्यन्तरात्। येन च आत्मना आत्मवत्सर्वमिदं जगत् तदेव सदाख्यं कारणं सत्यं परमार्थसत्। अतः स एव आत्मा जगतः प्रत्यक्स्वरूपम् सतत्त्वं याथात्म्यम्, आत्मशब्दस्य निरुपपदस्य प्रत्यगात्मनि गवादिशब्दवत् निरूढत्वात्। अतः तत् सत् त्वमसि इति हे श्वेतकेतो'

शङ्कर भगवान् के ऊपर के वचन रहस्यपूर्ण हैं। वे लिखते हैं, कि जगत् को आत्मवत्ता अर्थात् अस्तिता और व्यावहारिकता, प्रत्यगात्म रूप सतत्त्व (अर्थात् तत्त्व) से मिली है, और वही सतत्त्व तू है। आशय स्पष्ट है कि जैसे जगत् का कारण प्रत्यगात्मा परब्रह्म है, वैसे तेरा कारण भी वही है। आगे चल कर छां ६ १६–३ के भाष्य में स्पष्ट किया गया है -'यदात्मकं च सर्वं, यच्च अजममृतमभयं शिवमद्वितीयम् तत्सत्यं स आत्मा तव अतः **तत्त्वमसि** श्वेतकेतो–इत्युक्तार्थमसकृद्वाक्यम्' तेरा प्रत्यगात्मा ब्रह्म है अतः तू ब्रह्म है ऐसा कहा गया है। फिर आगे चल कर, **तत्त्वमसि** इति निरंकुश 'सदात्मभावमुपदिशति' ऐसा भी स्पष्ट बताया गया है। जगत् का आत्मा जैसे ब्रह्म है वैसे श्वेतकेतु का आत्मा ब्रह्म है। **अद्वैत विज्ञान** का सिद्धान्त सारे चराचर सृष्टि का प्रत्यगात्मा ही ब्रह्म है, जो एक है। 'स एवाधस्तात्स उपरिष्टात् स पश्चात्सदक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वम्' (देखो छान्दोग्य अ ७ खण्ड २५ मन्त्र १)

प्रकरण का आरंभ ही जगत् का कारण क्या है, इस ज्ञान के हेतु हुआ है। और फिर 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' यह आत्मविज्ञान का महत्त्व बता कर

'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वम् मृन्मय विज्ञात स्यात् वाचारम्भण विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' यही सिद्धान्त निर्णय किया है। याने जैसा जगत् का कारण तत्त्व ब्रह्म है वैसा तेरा भी कारण तत्त्व ब्रह्म है। 'यदस्माज्जायते तत्तनो न भिद्यते' यही **सत्कार्यवाद** का तत्त्व है। आपके हाथ मे हीरे की अगूठी है, प्रश्न होता है कि हीरा क्या वस्तु है? उत्तर है, कि वह कोयला है। अर्थात् उसकी उत्पत्ति कोयले से है। हीरा प्रत्यक्ष कोयला है, यह अभिप्राय नहीं। ठीक इसी प्रकार ब्रह्माण्ड प्रत्यक्ष ब्रह्म नहीं है किन्तु इन ब्रह्माण्डों के उत्प यादि ब्रह्म से हैं यही अभिपाय है। इसका समूचा विवरण प्रकरण (४१) परिच्छेद (१) में द्रष्टव्य है, दे पृष्ठ १४५

(५३) श्रुति वचनों का तात्पर्य और बुद्धिप्रामाण्य की महत्ता

श्रुति वचनों का तात्पर्य किस गम्भीरता और न्यायनिष्ठ युक्तियों से निश्चित करना आवश्यक है, इसका उद्बोधक पुरस्कार और समर्थन जैसा भगवान् **शङ्कर** ने किया है, वैसा क्वचित् ही कहीं वेदान्त साहित्य में उपलब्ध होगा। उन्होंने अपनी अधिकारपूर्ण वाणी से बुद्धिप्रामाण्य की श्रेष्ठता और महत्ता ही प्रस्थापित कर दी है।

भगवद्गीता अ १८ श्लोक ६६ के भाष्य मे वे लिखते है—'न हि श्रुतिशतमपि शीतोऽग्निरप्रकाशो वेति ब्रुवत्प्रामाण्यमुपैति। यदि ब्रूयाच्छीतोऽग्निरप्रकाशोवेति, तथाप्यर्थांतर श्रुतेर्विवक्षितं कल्प्यम् प्रामाण्यान्तरानुपपत्ते न तु प्रमाणातरविरुद्ध स्ववचनविरुद्ध वा।'

रहा है। आज पश्चिम देशों में भी उसे कुतूहल पूर्ण मान्यता मिलती है। श्रुतिवचन और बुद्धि प्रामाण्य एक ही हैं। इसी कारण 'दृश्यतेत्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' (कठ १-३-१२) ऐसे सूक्ष्मबुद्धि का उत्कट प्राधान्य स्वयं श्रुति ही दे रही है, तो वह, उसके विरुद्ध नहीं रह सकती। 'बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति।' श्रुत्यर्थ का असम्यक्परिशीलन करने वालों से श्रुति को बड़ा डर लगा रहता है। ऐसे लोग कहीं कुछ थोड़ा पठन कर लेते हैं, और स्वयं बड़े ही श्रद्धावान् और चिन्ताशील हैं, इस भावना से कुछ का कुछ अर्थ भी लगा लेते हैं: और इतरों को उपदेश भी किया करते हैं, इससे बड़ा डावा डोल मच जाता है।

अतः श्रुत्यर्थ का निर्णय बड़ा गम्भीर विषय है, और उसके लिए सुसूक्ष्म बुद्धि और सावधानता की एकान्त आवश्यकता है, श्रुति महावाक्यों और अवान्तर वाक्यों का सम्यक् तात्पर्य दर्शक पत्रक, इस प्रबन्ध के अन्त में परिशिष्ट (अ) के रूप से जोड दिया गया है।

(५४) मौन का अर्थ क्या है ?

वेदान्त शास्त्र के अनुशीलन करने वाले साधकों में, कभी कभी मौन की चर्चा और वादानुवाद हुआ करते हैं। उसका एक नमूना यहां दिया जाता है —

पूर्व पक्षी:—ब्रह्म को ब्रह्म शब्द लगता ही नहीं।

उत्तर पक्षी:—शब्द लगने का क्या तात्पर्य है। दुग्ध शब्द कहते ही क्या दु और ग्ध ये दो अक्षर, वक्ता के मुख से निकल दुग्ध-पात्र में जा गिरते हैं ? हर एक शब्द किसी न किसी अर्थ का निदर्शक होता है, वैसा ही ब्रह्म शब्द है। नित्य, शुद्ध, बुद्ध, ये जैसे बोधक शब्द हैं, वैसा ही बृंहणत्वात् बृहत्वात् ब्रह्म, ऐसा ब्रह्म शब्द का निर्वचन है। यदि आपको ब्रह्म का अस्तित्व मान्य है, तो फिर उसकी असाधारण विशेषता जो अनेक शब्दों से बताई गयी है, वह भी मान्य होनी आवश्यक है।

पूर्व पक्षी —परन्तु शब्दों की पहुँच ही ब्रह्म तक नहीं होती उसका क्या इलाज ?

उत्तर पक्षी —यह भाषा तो ऊपर की सी ही है, जिसका उत्तर भी दिया गया है। अब बताइये कि यहा और वहा इनसे क्या आपकी विवक्षा है ? 'यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह' (कठ ४–१०) यहा उतना ही ब्रह्म है, जितना इतर स्थलों मे है, शब्दों का प्रयोजन, बोध है, शब्द को इधर से उधर जाने आने की कोई बात नहीं।

पूर्व पक्षी —अशब्दमस्पर्शम् (कठ. ३–१५), यद्वाचाऽनभ्युदितम् (केन १–०), यतो वाचो निवर्तन्ते (तै. ब्र ९) इस प्रकार ब्रह्म अवाङ्मनस गोचर है, ऐसा बताया गया है।

उत्तर पक्षी —प्रथम श्रुति का अर्थ ब्रह्म कर्ण, त्वक्, चक्षु इत्यादि इन्द्रियों को अगम्य है—ऐसा है, अशब्द का अर्थ शब्दातीत ऐसा भी किया जाता है, परन्तु उसका तात्पर्य यही है, कि ब्रह्म का शब्दों से वर्णन करना दुर्घट है। श्रुति स्वय यद्वाचानभ्युदितम्, ऐसा कहते हुए 'येन वागभ्युद्यते' ऐसा शब्दो से ही उसका निरूपण करती है, इसी से उसका तात्पर्य दुर्ज्ञेयता बताना है, अबोध्यता नहीं। फिर भी 'शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वात् शब्दादेवापरोक्ष धी' (सदाचार श्लो १८) ऐसी अपरोक्ष ज्ञान के अर्थ शब्दों की उपयुक्तता मान्य की गई है।

पूर्व पक्षी —ब्रह्मज्ञान की भाषा मौन रहती है, ऐसा योगवासिष्ठ में लिखा है, और दक्षिणामूर्ति स्तोत्र मे 'गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्न संशया' ऐसा लिखा है।

उत्तर पक्षी —फिर क्या प्रस्थानत्रयी का सारा प्रतिपादन निष्प्रयोजन है ? यह तो बडी आपत्ति है। मुनिजनों की जो वाणी अर्थात् जो विवेक-वाणी है, वही मौन है। सर्वलक्षण सग्रह मे मौन के ऐसे अर्थ बताये हैं —

(१) वाक्संयम

(२) वाक्संयमहेतुर्मन संयम

और (३) वाचो यस्मान्निवर्तते तद्वक्तु केन शक्यते, प्रपंचो यदि वक्तव्य सोपिशब्दविवर्जित इतिवा तद्भवेन्मौन सर्व सहज सज्ञितम्, गिरां मौन तु बालानाम् अयुक्त ब्रह्मवादिनाम्।

इससे दर्शनशास्त्रों का अभिप्राय स्पष्ट होता है। मुख को कुण्ठ डालना तो बालिशता है, और ब्रह्मवेत्ताओं के लिए अनुचित है। प्रपंच का भी वर्णन करना शब्दों से आगे है तो फिर ब्रह्म की क्या बात? इस कारण तत्त्वानुसंधान गहन है, यही अभिप्राय है।

(५५) मध्यकालीन और अर्वाचीन वेदान्तियों का ब्रह्म और अश्रौत एक जीववाद

अद्वैत विज्ञान एक गूढ और अत्यंत श्रेष्ठ तत्त्वदर्शन है, किन्तु बौद्ध शासन के प्रभाव से हमारे पण्डित जनों की बुद्धि पर एक विचित्र ही मोह छा गया और यह शासन नष्ट हो कर बारह सौ से अधिक वर्ष बीत गए परन्तु इस मोह की घनघटा का प्रभाव अभी तक बना ही रहा है। कहां प्राचीन औपनिषत्तत्त्वज्ञान जिसकी तेजस्विता श्रीमद्भगवद्गीता बता रही है, और कहां हमारे वेदान्त पुस्तकान्तर्गत असमंजस प्रति पत्तियां जिन का मूल उद्गम से कुछ मेल नहीं बैठता! इस उपलक्ष्य में कुछ प्रश्नोत्तर निम्न में दिए जाते हैं।

प्रश्न —पण्डितजी सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में क्या परब्रह्म का कुछ सम्बन्ध है?

उत्तर —शुद्ध निर्गुण निष्क्रिय ब्रह्म का और सृष्टि का कोई सबन्ध नहीं है। देखिए न कुछ ज्ञात होना यह भी तो एक क्रिया है। निर्विकल्प ब्रह्म में यह सुतरां असम्भव है, तो फिर सृष्टिकर्तृत्व तो बहुत ही दूर रहा!

प्रश्न :—फिर सृष्टि की उत्पत्ति किस के अधिकार में है ?

उत्तर :—माया नामक एक अज्ञानरूप आवरण विक्षेप शील शक्ति है, उसने यह सब संसार उत्पन्न किया है।

प्रश्न :—पर उसे किसने उत्पन्न किया है ?

उत्तर :—किसी ने नहीं।

प्रश्न :—फिर क्या वह स्वयं उत्पन्न होती है ?

उत्तर :—नहीं, वह हुई ही नहीं ?

प्रश्न :—फिर यह प्रपञ्च किसने बनाया ?

उत्तर :—नहीं, वह भी नहीं है ?

प्रश्न :—बड़ा आश्चर्य है ! फिर मैं जो प्रश्न कर रहा हूँ और आप जो उत्तर भी दे रहे हैं, यह क्या बात है ?

उत्तर :—यह कुछ है ही नहीं !

प्रश्न :—तात्पर्य ?

उत्तर :—यह एक अज्ञ जीव का स्वप्न है।

प्रश्न :—इस अज्ञ जीव को किसने बनाया ?

उत्तर :—किसी ने नहीं वह स्वयं ही हो गया।

प्रश्न :—यह कुछ समझ में नहीं आता। माया तो उत्पन्न हुई ही नहीं, ऐसा आपने बताया, और यह मूढ़ जीव अकारण ही उत्पन्न हो गया यह आप कह रहे हैं !

उत्तर :—अच्छा तो मान लो, वह भी नहीं हुआ, हमें कुछ विरोध नहीं।

ठीक है, श्रुतिबाह्य, तारतम्य विचार विगर्हित, अन बन, कुछ का कुछ, बद देना, इसकी क्या दवा है ? भला यह स्वप्न देखने वाला जीव हुआ ही नहीं

कहें, तो फिर पहली बात असत्य हो जाती है, और हुआ है कहें, तो उसकी कुछ उपपत्ति नहीं बतायी जाती ! क्षणभर मान लिया जाय कि यह सब एक मूढ़ जीव का स्वप्न है, तो क्या यह मूढ़ पुरुष दो अ॰त वर्षों से अविरत स्वप्न ही स्वप्न देख रहा है ? इसने अपने स्वप्न में श्रीवसिष्ठ शुक, वामदेव, याज्ञवल्क्य ऐसे अनेक मनीषी और महान् ज्ञानी पुरुष उत्पन्न किये, इन्होंने अनेक पुरुषों को ब्रह्मविद्या पढ़ाई थे, और उनके शिष्य प्रशिष्यों में से श्रीरामदास, तुकाराम, एकनाथ, तुलसीदास, नरसी मेहता इत्यादि इत्यादि अनेक सन्त और महात्मा, पुनीत हो कर मुक्त भी हो गए, परन्तु इस मूल मूढात्मा को अभी तक उस ज्ञान का कुछ लव लेश भी नहीं मिला ? और यह कुम्भकर्ण का परात्पर प्रपितामह अभी निद्रादोष से मूढावस्था में ही है !!

यह क्या वेदान्त है, या वेदान्त कि हँसी है ? ऐसा भ्रान्ति का निबिड़ अरण्य, अद्वैतविज्ञान के चारों ओर बढ़ गया है। यह मूढ़ जीव की कपोलकल्पना, बौद्ध मतों का परिणाम है, यह पहले अनेक बार बताया गया है। सब प्रपंच एक ही मस्तिष्क के भीतर है इस निराधार और अर्थहीन परिकल्पना की खोज करने वाले अरण्यपण्डित का मस्तिष्क तारीफ करने के योग्य है, इसमें सन्देह नहीं।

यदि वसिष्ठ शुकवामदेवादि पुरुष केवल स्वाप्निक थे, तो वे बुद्ध थे, उनको सम्यग्ज्ञान हो गया, और वे मुक्त हो गए यह सब बातें ही बातें हो जाती हैं! और ब्रह्मविद्या की प्रभावशालिता का कोई प्रमाण ही नहीं रहता ! ठीक यही आपत्ति शाक्यमुनि बुद्ध ने तत्कालीन सनातनी पण्डितों पर की। वे तो प्राचीन वैदिक विज्ञान को लचर ही मानते थे। उन्होंने ब्राह्मणों से पूछा 'बताइए आपके ब्रह्म को किसी ने देखा भी है ? आप तो स्वप्न ही बता रहे हैं, कि वह अदृश्य है, अशब्द है, निधर्मक है, विदित या विदित भी नहीं इ इ। इन बातों से यह स्पष्ट सिद्ध है, कि आप लोग ब्राह्मणों के रचे हुए शब्दजाल में फँस गए हैं। तुम्हारे तथाकथित शास्त्र सब रज्जुसर्प सदृश हैं। इसीको मैं 'ब्रह्म जाल' कहता हूँ। मेरे मत के अनुसार भी, यह सब मानवी मस्तिष्क के विज्ञान का विजृम्भण है।

इस दृष्टि से जगत् के सब ग्रन्थों का काल्पनिक ही होना युक्तियुक्त है, अर्थात् वे सत्य नहीं हो सकते।

हमारी विद्या को महात्मा बुद्ध ने 'ब्रह्म जाल' कह दिया और हम निर्बुद्ध हो कर, जगत् विभ्रम है, स्वप्न है, ऐसे बुद्धजाल म लिपट गए। उसमें से निकलना भी अब बड़ा कठिन हो गया है!

(५६) भवितव्यता वाद और प्रयत्नवाद

जगत् एक भ्रम है, स्वप्न है, इस नासमझी का और एक परिणाम आलस्य की वृद्धि मे और भवितव्यता वाद के पुरस्कार मे हो गया। इस व्यामोह से जितनी हमारे देश की धर्म की, और ज्ञान की, हानि हो गई है उतनी कदाचित् दूसरी किसी भूल से नहीं हुई होगी। गीता धर्म के विनाश के अनन्तर, और बुद्ध के जन्म के पूर्व काल मे इस देश म सैकड़ों मतामत पन्थ और नास्तिक वादों की बहुतायत हो गई थी। इन पन्थों का वृत्तान्त, जैन और बौद्ध वाङ्मय में मिलता है। इनमें प्रधानत पूर्ण कश्यप का अकारक वाद या अहेतुक वाद, अजित केशकम्बलिन् का सर्वपाखण्ड वाद, ककुध कात्यायन का सास्सत वाद, अनिक्क वाद, या अक्रिय वाद, सजय बेलट्ठपुत्त का स्याद्वाद, और मखली गोशाल का अक्रिया वाद या, तिराशीय स्याद्वाद विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमे अन्त्योक्त वाद बड़ा ही विचित्र है। इसका प्रवर्तक आजीवक सम्प्रदायक का तीसरा तीर्थंकर था, और उसकी उस काल में असाधारण मान्यता थी। इसके मत ऐसे थे — 'इस जगत् में दूर का या निकट का कोइ कार्य कारण सम्बन्ध है ही नहीं! अपने कष्ट से या दूसरे के कष्ट से कुछ भी किसी को प्राप्त नहीं हो सकता। मनुष्य में सामर्थ्य या प्रयत्न की बात ही नहीं है।-सब जीव, जन्म से ही दुर्बल और पशु हैं और भवितव्यता राक्षसी उनको अव्याहत नचा रही है! वही उनको दु ख या दु खाभाव देती है, ८४ लक्ष जनन मरणों में फिराती है, और अन्त म जीव ही नष्ट हो जाता है। पुरातन श्रौत-स्मार्त धर्म-कर्म सब झूठ हैं।'

महात्मा बुद्ध को यह मत बड़ा पसन्द आया कि मानव अत्यत दुर्बल है, कुछ अपने या दूसरे किसी के हित का कार्य करना उसके हाथ नहीं, किंतु उन्होंने यह भेद बताया, कि एक बात जीव अवश्य साध्य कर सकता है वह यह, कि वह अपने मन को विशुद्ध कर सकता है, और उसकी विज्ञान धारा निरुद्ध कर के निर्वाण प्राप्त कर ले सकता है। बस हमारे वेदान्त में भी इसी मत की नक्ल आ गयी है।

ईश्वर के सम्बन्ध में वेन्दात पुस्तकों में कुछ का कुछ ही लिखा हुआ रहता है।

(५७) ईश्वर के सम्बन्ध में विचित्र कल्पनाएँ

। मायाख्याया कामधेनोर्वत्सौ
जीवेश्वरावुभौ ।
। यथेच्छ पिबता द्वैत
तत्त्व त्वद्वैतमेव हि । २३६
(पञ्चदशी चित्रदीप)

इस श्लोक के विचित्र आधार पर, ईश्वर एक बड़ा अज्ञानी जीव है और वह उतना ही बद्ध है जितने कि हम हैं, ऐसा अनिर्बंध कहा जाता है। उसको 'माया का बेटा' ऐसी हीन सज्ञा इन मूढों ने दी है, जिस पर अपने ज्ञान का बड़ा घमड इनको है। ऐसे घृणास्पद विचारों से देश की घोर दुर्दशा न हो, तो क्या होगा ? इस सम्बन्ध में और एक कमाल है, वह यह कि ईश्वर जीव निर्मित है! हम अपने ईश्वर को अपनी पसन्द का बना सकते हैं। और फिर उसके द्वारा मोक्ष भी प्राप्त करा ले सकते हैं!! मानो ईश्वर एक अगन की भाजी है, चाहे जैसी उत्पन्न कर लो, या स्वप्न का खेल समझ लीजिए! परन्तु हां, एक सावधानता अवश्य रखनी है, वह यह कि जो ईश्वर आप बनाएँ वह अज्ञ या बेकार न हो। उसको सम्यग्ज्ञानी बना लेना आवश्यक है, फिर मुक्ति आपके घर की है! क्यों ? है नहीं यह बड़ी सुगम और मनोमुग्धकर प्रक्रिया ?

ऐसी निरर्गल बात जब अपने को ब्रह्मनिष्ठ कहला लेने वाले बनाते हैं तो विचारशील मनुष्य को बड़ी उद्विग्नता होती है। क्या इसी का नाम वेदान्त है?

वास्तव में देखा जाए तो अद्वैत विज्ञान का रहस्य जिन्होंने पाया है, ऐसे पारदर्शी पुरुष आस्तिक ही होते हैं। 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' (गी ७ १८), इस प्रकार भगवान् स्वय उनकी प्रशसा करते हैं। इन महात्माओं का सारा व्यवहार अध्यात्मता से प्रफुल्लित, आदर्श रूप और जनता में दैवी उत्साह तथा स्फूर्ति भर देने वाला होता है। परन्तु इस सम्बन्ध म कुछ विपरीत कल्पनाएँ ही प्रचलित पायी जाती है।

(५८) ब्रह्म के सम्बन्ध में भ्रान्ति की पराकाष्ठा

पाठक महाशय अभी जरा शान्ति रखिए और भी एक भ्रांति की पराकाष्ठा आपको दिखानी है। वह भला और किस के विषय में हो सकती है? हमारे उच्चतम उद्देश्य ब्रह्म के ही विषय में यह भ्रान्ति है। बड़े बड़े महान् पण्डित बताते हैं, कि ब्रह्म को अपना ही विस्मरण हो जाता है, वह मूर्ख बनता है, फिर जन्म मरणों के दुरन्त दु खों में जा पड़ता है। इस चक्र म, यदि वह कुछ सद्धर्म का अवलम्बन कर, पर्याप्त पुण्य सञ्चय करे, और फिर यदि दैववश उसे कोई अन्तर्दृष्टि तत्त्वविशेषज्ञ गुरु मिल जाए, तो उसे ब्रह्मविद्या द्वारा मुक्ति प्राप्त हो सकती है। अन्यथा उसका त्रिविध तापों से छुटकारा नहीं होता। पच्चीस पच्चीस वर्ष तक वेदान्त ग्रन्थों का पठन पाठन करने वाले पुरुषों में इस मत के पक्षपाती भी कतिपय दिखाई देते हैं।

इस पुस्तक के परिशिष्ट (आ) म बौद्ध सम्प्रदाय के मतों का कितना गहरा प्रभाव अद्वैत सम्प्रदाय के विचारों पर हुआ है स्पष्टतया बताने का प्रयास किया गया है।

अन्त में प्रेमी पाठकों से सानुरोध निवेदन है, कि ब्रह्मविद्या की सच्ची पुष्करिणी 'प्रस्थान त्रयी' है। उसकी उपेक्षा कर दूसरे ग्रन्थों के पीछे दौड़ना लाभदायक नहीं हो सकता। मूल दशोपनिषदों की संस्कृत वाणी कोई कठिन नहीं है। श्रीमद्भगवद्गीता पर तो अनेक प्रकार से गम्भीर टीकाएँ हो चुकी हैं। ब्रह्म सूत्रों पर शंकर भगवान् का प्रसन्न गम्भीर भाष्य है, जिससे अनेक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से निर्णय हो सकता है। श्रीमदाचार्य की प्रतिपादन शैली बड़ी रहस्य स्यन्दि और मनोमुग्ध कर है। उनकी वाणी सरल सजीव और धाराप्रवाह है, जिससे उनके भाव सुस्पष्ट प्रतीत होते हैं। यदि कहीं कुछ दुर्बोधता होती है तो वह भी पढ़ते पढ़ते निकल जाती है। केवल उनके ग्रन्थों का अध्ययन चिन्तन-शीलता से होना अवश्यक है।

(५९) उपसंहार

प्राचीन काल से हमारा प्रिय देश संसार भर में 'सुवर्ण भूमि' इस आकर्षक नाम से अभिहित होता आया है। सन्देह नहीं कि वह वास्तव में वैसा था भी। परन्तु हमारी घोर अज्ञानता और बहुल प्रमादों के कारण सहस्त्रावधि वर्षों से हम उसे खो बैठे थे। स्वाधीनता प्राप्त करने के निमित्त, कोई साठ साल हुए, हमारे देशभक्त नेता तथा आत्मत्यागी वीरों ने धुआँधार अदम्य प्रयत्न और परिश्रम किये, परन्तु अन्त तक कोई सफलता की आशा नहीं दिखाई दी, परमात्मा की अद्भुत लीला से ही संसार के घटना चक्र में, ऐसे कुछ परिवर्तन हुये, जिनके कारण अँग्रेज शासकों को हमें स्वाधीनता सौंप कर देश छोड़ जाना अनिवार्य हो गया। देश को स्वायत्तता तो मिल गयी परन्तु अनेक विष बीजों से मिश्रित होकर। परिणाम यह हुआ कि देश के तीन विशाल विभागों को हमें खोना पड़ा। धूर्त अंग्रेजों ने पाकिस्तान के वैर की एक दुर्धर व्याधि हमारे लिये उत्पन्न कर रखी है। न मालूम कितने दीर्घकाल तक हमको वह सहनी पड़ेगी। राज्य यन्त्र को किस ढंग से सुरक्षित रखना यह कला हमें ज्ञात नहीं। गत इतिहास इसका साक्षी है। अब हमारा यह एक सबसे बड़ा कर्तव्य है, कि हम इन सब विष बीजों को भस्म कर दें, और भारतीय साम्राज्य की हर

प्रकार से रक्षा करें। हमारे उज्ज्वल धर्म के विषय में भी हम गत काल में जागरूक नहीं रहे; उसमें भी हमने गलत सलत बातें मिला दीं! परिणाम यह हुआ कि हमें 'पीनल कोड' की शरण लेनी पड़ी। फिर अपने सबसे बड़े जौहर ब्रह्मविद्या को भी हमने अज्ञान के कर्दम में फेंक दिया और वह अब हमें ढूँढने से भी नहीं मिल रहा है। इस कर्दम को हटा कर इस विज्ञान का तेजस्वी स्वरूप हमको दिखा देनेवाला यदि कोई प्रतिभासम्पन्न महात्मा उत्पन्न हो, तो ठीक होगा। गत इतिहास में ऐसी ही अवस्था एक समय पर हो गई थी; उस समय यह कार्य महात्मा **श्रीशंकराचार्यने** किया; और इसी कारण

> । वक्तारमासाद्य यमेव नित्या सरस्वती स्वार्थसमन्विताऽऽसीत्
> समस्तदुस्तर्कनिरस्तपंका नमामितं शङ्करमर्चिताङ्घ्रिम् ।
> (संक्षेपशारीरक अ. १ श्लो. ७)

ऐसे धन्यवाद श्रीसर्वज्ञात्ममुनि ने दिए हैं।

समारोप में एक विज्ञप्ति करना आवश्यक है। इस पुस्तक में गत कालीन बहुत गीर्वाण तथा प्राकृत ग्रन्थकारों के मतों पर कड़ी आलोचना करना आवश्यक हुआ है। मान्य है, कि लेखक कोई सर्वज्ञ पुरुष नहीं है। कपिल, कणाद जहां सम्भ्रम में पड़ गए तो दूसरों की क्या कथा? तथापि प्रत्येक लेखक का कर्तव्य होता है, कि उसकी अन्तरात्मा को जो प्रमाण संगत युक्तियुक्त और सर्वजनों के लिए हितप्रद प्रतीत हो, उसीका वह प्रति पादन और पुरस्कार करे, भले ही उसमें अनेकों से विरोध भी करना पड़े। प्राञ्जल चर्चा और विमर्श से, ही तत्त्वज्ञान में तथ्यनिश्चिति हो सकती है।

इसमें कणमात्र सन्देह नहीं कि मध्यकालीन और अर्वाचीन कई पण्डितों के ग्रन्थों में नाना विध विभिन्न मतों का प्रदर्शन किया हुआ पाया जाता है। इसी से प्रकट है, कि ये सभी मत यथार्थ नहीं हो सकते; और जो अयथार्थ प्रतीत होते हैं, उनकी विसंगतता बताना क्रमापन्न होता है। साथ ही यह

विचार आवश्यक है, कि कोई पुरुष जानबूझ कर अयथार्थ या उद्भ्रान्त मतों का अंगीकार या प्रतिपादन, नहीं करता। अर्थात् इसके भी कारण होते हैं जिनका विचार होना समुचित होता है। कहने का आशय यह है, कि ये ग्रन्थकार केवल मतविभिन्नता के कारण, अवमान या अनादर के भाजन नहीं माने जा सकते। सोचना चाहिए कि जिस कराल काल तथा परिस्थिति में, ये ग्रन्थ लेखक उत्पन्न हुए, उसकी विकटता अकथनीय थी। लगभग सहस्र वर्ष से हमारा देश परकीयों के आक्रमणों और बर्बरता का बलि हो गया था। और यद्यपि ईसा सन् १८१८ में अंग्रेजों का आधिपत्य स्थापित हो गया, तथापि देश में शान्ति सुरक्षा की स्थापना न हो पायी। चारों ओर डाकुओं की लूट मार, पिण्डारियों का उपद्रव और ई. स. १८५७ का प्रचण्ड विद्रोह, इत्यादि कारणों से देश में किसी का जीवन सुरक्षित न था। इस प्रदीर्घ काल में शिक्षा दीक्षा का भी कोई प्रबन्ध न हो सका। गीर्वाणवाणीका ज्ञान लुप्तप्राय हो गया था। ऐसी अवस्था में ब्रह्मविद्या की ओर देखे ही कौन? कुछ इने गिने लोगों ने उसका अनुशीलन किया, यही एक आश्चर्यभरी बात है! फिर इस अवधि में ग्रन्थों का भी घोर दुर्भिक्ष रहा। छापने की कला यहां किसी को ज्ञात ही न थी। इस देश में इस कला को आए, आज लगभग सौ साल हो गए हैं। हजारों की संख्या में पुस्तकें छपी गयीं और जाती हैं, परन्तु अनुभव यही रहा है, कि पुरानी पुस्तकें ढूंढने जायें तो नहीं मिलतीं! फिर पूर्व काल का क्या कहना है? तीस-चालीस गांवों का प्रवास और दीर्घ अन्वेषण के उपरान्त एकाध फटा पुराना तथा कीड़ों का खाया हुआ ग्रन्थ मिलता, पर दूसरे तद्विषयक ग्रन्थ नहीं मिलते! ऐसी दशा में कई पण्डितों ने हार्दिक आस्था तथा दीर्घ परिश्रम से जो कुछ लिख कर रखा है, उसके लिए वे धन्यवाद के भाजन हैं। आज परिस्थिति ही बिलकुल अलग है। किसी भी स्वाध्याय शील पाठक के घर में एक विषय पर २/४ पुस्तकें तो अवश्य ही रहती हैं। उनकी सूचियां भी रहती हैं कुछ विशेष देखना हो तो तुरन्त साधक बाधक प्रमाणों के साथ, देखा जा सकता है। अधिकन्तु, अन्यान्य देशों में दार्शनिक विचारों की क्या प्रगति है, यह भी ज्ञात होने के अनेक साधन हैं। देखिए, १९१३ साल में एक जर्मन पण्डित हिलेब्राण्ट ने अठारह ऋग्वेदीयसूक्तों का सुन्दर भाषान्तर किया

है, यह बात अन्वेषक पण्डितों के लिए बड़ी कुतूहल प्रद है। तात्पर्य, आज जो ज्ञान सम्पादन की सुविधाएँ हैं, वे पहले नहीं थीं। हमारे मौलिक ग्रन्थ वेदों का भी सकलन या सशोधित पाठ मिलना दुर्घट था। इस दृष्टि से इन ग्रन्थकारों के परिश्रम बहुमान्य ही हैं। और हम किसी दृष्टि से उनसे श्रेष्ठ हैं, ऐसी डींग नहीं हांक सकते। आज यदि ये ग्रन्थ रचयिता इस धरा धाम पर आएँ, तो वे साफ बता देंगे कि उनको कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, कितने ग्रन्थ उनको देखन तक को नहीं मिले! और किन किन विषयों के सम्बन्ध म उनके ग्रन्थ आज परिष्कार करने योग्य है। सत्य सशोधन का स्तर ही उदारता के पूत सलिल से सिंचित रहता है। इसमें कोई विरोध नहीं हो सकता। हमारा उपनिषत् पाठ हमको सावधान कर रहा है, कि 'तेजस्वि नावधीतमस्तु' सह नौ यश सह नौ ब्रह्मवर्चसम्। आचार्य देवो भव। अतिथि देवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माक सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि। (तै शीक्षाध्याय अनुवाक ३ और ११) यह सब उपदेश कितना प्रांजल कितना बुद्धिस्वातन्त्र्य का परिपोषक, कितना अध्यात्मता से प्रफुल्लित और सार गर्भित है? अत विद्वान पाठकों से विज्ञप्ति है, कि वे इस प्रबन्ध की अवश्य परीक्षा करें और दोषों को दिखावें। भ्रान्ति को कहीं अवसर न रहे यह ब्रह्मविदों के लिए अत्यत आवश्यक है।

ॐ शान्ति शान्ति शान्ति

द्वितीय प्रबन्ध

ईशावास्य उपनिषद्

प्रकरण (६०) खण्ड (१) विषय समीक्षा

। तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ।
(उपनिषद् शान्तिपाठ)

हे परमात्मन् हमारा अध्ययन प्रभामय
रहे और पारस्परिक विद्वेष की
भावना हममें कदापि उत्पन्न न हो

(६०) ईशावास्योपनिषद्

विषय समीक्षा

। वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी
यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्य विषय शब्दो यथार्थाक्षर
अन्तर्यश्च मुमुक्षुभि र्नियमित प्राणादिभि र्मृग्यते
स स्थाणु स्थिरभक्तियोगसुलभो नि श्रेयसायास्तु व ।

यह उपनिषद् आकार से छोटा परन्तु वेदान्त रहस्य की दृष्टि से अपना अन्यतम स्थान रखता है । यदि कहा जाय कि यह आर्य तत्त्वज्ञान की प्रधान भित्ति है, तो कोई अत्युक्ति न होगी । उप, अर्थात् समीप, नि, नितरां, पूर्णता से पद=सद् पहुँचना, जा कर बैठना, जिस के द्वारा मानव अपने आनन्दमय लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है, उसका नाम उपनिषद् है । षद्=सद=नाश करना यह भी एक अर्थ होता है । सुखनिधान परमात्मपद हमसे दूर नहीं, अत्यंत निकट है, पर आड म एक घोर अज्ञान का पर्दा पड़ा हुआ है । यदि उसका नाश हो, तो उद्देश्य पद की उपलब्धि मे कोई देर नहीं है । एव जिस विद्या के द्वारा परमात्म दर्शन होते है, उसीको उपनिषद्विद्या कहा जाता है ।

सनातन धर्म के अनुसार सारे ज्ञान का मूल वेदों में है । इसी वेद-रूप वृक्ष से उपनिषद्विद्या उत्पन्न हुई है, जिसे वेदान्त कहते हैं । अध्यात्मदर्शन के लिये आदिम दश उपनिषदों का ही महत्त्व माना गया है । इनके अतिरिक्त लगभग डेढ़ सौ या ततोधिक उपनिषत्प्रबन्ध विद्वानों के लिखे हुए हैं, जिनमें ब्रह्मविद्या और उनकी साधना के सम्बन्ध में नानाविध विवरण और चर्चा की गई है। परन्तु गत सहस्रों वर्षों के काल मे इन प्रबन्धों में अनेक मतमतान्तरों का निवेश और प्रक्षेप हो चुका है। अत मौलिकता एव प्रामाण्य की अपेक्षा उपर्युक्त दशोपनिषदों का ही प्राधान्य माना गया है। इनमें भी

ईशोपनिद् सर्व प्रथम गिना जाता है, कारण वह शुक्ल यजुर्वेद के ४० वें अध्याय में आया हुआ है। और इस लिए उसे संहितोपनिषद् भी कहते है, दूसरे उपनिषदों की यह संज्ञा नहीं है।

लगभग चार हजार वर्ष के पूर्व इस देश मे हमारे सौभाग्य से पूज्यपाद **श्रीयाज्ञवल्क्यजी** का जन्म हुआ। ये बड़े प्रभावशाली पुरुष थे। इन्होंने हमारे समाज मे, वेद विद्या की शिक्षा-दीक्षा, यज्ञ यागादि अनुष्ठान, तथा अध्यात्म-विज्ञान के विषय में, असाधारण क्रान्ति की। महर्षि वैशम्पायनाचार्य के कुल में इन्होंने कृष्ण यजुर्वेद का सांग अध्ययन किया, परन्तु पुरानी घिसी-पिटी प्रणालियों और रूढ़ विचारों से उन्हें सन्तोष न हुआ। अत वे गुरुकुल छोड़ तपोवन सिधारे और अपने इष्ट देवता आदित्य की असीम भक्ति से उपासना की। फलत इसी तपस्या के बल पर इन्होंने यजुर्वेद को नूतन रूप में परिवर्तित किया, जिसे शुक्ल यजुर्वेद कहते हैं।

कृष्ण यजुर्वेद प्राय गद्यरूप है, उसमे ऋषि और देवताओं का निर्देश नहीं है। इसके दो विभाग हैं, (१) संहिता विभाग और (२) ब्राह्मण विभाग, पहले विभाग में बहुत कुछ ब्राह्मण ग्रन्थ भी समाविष्ट हैं, दूसरे में बहुत सा संहिता ग्रन्थ भी आ गया है। ऐसी मिश्र रचना रहने के कारण इसको कृष्ण अर्थात मिश्र यजुर्वेद यह नाम प्राप्त हुआ है। इसके विपरीत शुक्ल यजुर्वेद की रचना ऋग्वेद की पद्धति पर की गई है। अर्थात् वह छन्द बद्ध है और उसमें ऋषि देवता और छन्द का निर्देश किया गया है। इस रचना सौष्ठव से ही उसे 'शुक्ल' की संज्ञा प्राप्त हुई है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने, प्राचीन ऋषियों के ही मन्त्र इस वेद में समाविष्ट किये हैं। दोनों वेदों में कर्म कांड का ही विस्तृत रूप से विवरण है। भेद इतना है, कि शुक्ल यजुर्वेद का अन्तिम अध्याय ब्रह्मज्ञान विषयक है, जो इशोपनिषद् इस नाम से प्रसिद्ध है। यह विद्या शुक्ल यजुर्वेद के अन्त मे होने के कारण, इसको वेदान्त कहने की प्रथा हो गई है। ईशोपनिषद् के

द्रष्टा ऋषि कहीं 'दध्यङ आथर्वण' और कहीं 'दीर्घतमा' और कहीं 'परमेष्ठी' इन नामों से कह गये हैं। तात्पर्य, सकलन कर्ता श्रीयाज्ञवल्क्यजी है किन्तु मन्त्र द्रष्टा ऋषि अति प्राचीन काल के हैं।

वैदिक मन्त्रों का यज्ञादि अनुष्ठानों में किस प्रकार से प्रयोग होना आवश्यक समझा जाता था, यह दिखाने वाला, तथा कर्म काण्ड के विषय को विविध प्रक्रियाओं एव पुरानी गाथाओं के साथ, प्रतिपादन करने वाला ग्रन्थ 'ब्राह्मण' कहलाता है। मानों वेदों के ऊपर का पहला भाष्य या उपबृहण इसमें दिया हुआ रहता है। शुक्ल यजुर्वेद का उपबृहण शतपथ ब्राह्मण म विस्तार से किया गया है। इसके सौ अध्याय है, जिनम आत्मविद्या के विषय पर भी विस्तृत चर्चा और प्रतिपादन है। इसका प्राय अनुवाद बृहदारण्यक उपनिषद् में किया पाया जाता है। तात्पर्य सहिता ब्राह्मण और आरण्यक इन तीनों म इस ईशोपनिषद्रूप, महर्षि याज्ञवल्क्य पुरस्कृत ब्रह्मविद्या का विस्तृत विवेचन आ गया है। चक्रवर्ती राजा जनक के परिषदों म उपर्युक्त महर्षि का अनेक विद्वानों तथा ब्रह्मवादिनी स्त्रियों के साथ जो विचार विनिमय हुआ है, और जो चर्चाएँ हुयीं, उनसे उनके अप्रतिम आत्मज्ञान का परिचय पाया जाता है।

इस उपनिषद् के अनेक मन्त्र बड़े ही भावपूर्ण और मार्मिक हैं, उदाहरणार्थ मन्त्र ४ से ७ तक देखिए, परमात्मा का स्वरूप चित्रण कितना सारगर्भ किया गया है। ८ वा मन्त्र तो और भी उदात्त और गम्भीर है, जो यहां दिए बिना नहीं रहा जा सकता।

। स पर्यगात् शुक्रमकायमव्रणम्
अस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्

कविर्मनीषी परिभू स्वयम्भू
र्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्य समाभ्य ।

अर्थ वह ज्योति स्वरूप अशरीरी, अक्षर, निरवयव सुनिर्मल, निर्लिप्त, प्रज्ञानघन प्रभावशाली और क्रान्तदर्शी आत्मचैतन्य दिङ्मडल को परिव्याप्त किए हुए है, और (रहस्य की बात यह है कि) उसीने अपनी असीम महिमा से इन अगणित वस्तुओं को भिन्नभिन्न अर्थों म यथातथ्यता से, इस अजस्र काल के प्रारम्भ से ही सन्जीवित प्रकाशित तथा प्ररित कर दिया है।

इतना विचारपूर्ण निश्चयरूप और पाठकों की प्रज्ञा को उत्प्ररित और समुल्लसित करने वाला वर्णन, ससार भरके दार्शनिक विचारों में क्वचित् ही कहीं उपलब्ध हो सकेगा। इसे देख कर किसी भी अध्ययन शील पाठक का हृदय उज्ज्वलता और उत्सुकता से फूला नहीं समाएगा। जान पड़ता है कि यहा तप पूत मन्त्रद्रष्टा ऋषि ने प्रथम परमात्म तत्त्व का साक्षात् करने के पश्चात् ही अपनी हृदयस्पर्शी वाणी से उसका सजीव चित्रण कर दिया है।

इस प्रसग में श्रीमद्भगद्गीता क निम्न श्लोक का अनुसरण हुए बिना नहीं रहता

> आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्
> अश्चर्यवद्वदति तथैवचान्य
> आश्चर्यवच्चैनमन्य शृणोति
> श्रुत्वाप्येनम् वेद न चैव कश्चित् ।
> (गी २ २९)

इस परमात्मस्वरूप के दर्शन करनेवाला पुरुष जैसा आश्चर्य रूप है वैसा ही उसे दूसरों को यथार्थ दृष्टि से समझा देने वाला पुरुष भी आश्चर्य रूप है। फिर ऐसे वर्णन को सुन कर कृतार्थ होने वाला पुरुष भी आश्चर्यरूप होता है। अतत ऐसे श्रवण क बाद, कितने जनों को इस परमात्मस्वरूप का ज्ञान ही नहीं होता यह भी बड़ा आश्चर्य है।

इस उपनिषद् के महत्त्व की और भी एक विशेषता है वह यह, कि आर्य तत्त्व विज्ञान की जो बड़ी समस्या 'ज्ञान कर्म समुच्चय' की रही है, उसका निर्णय इस उपनिषद् में दिया गया है। इसके सम्बन्ध में यहां कथंचित् विवेचन प्रस्तुत किया जाता है। हमारे दार्शनिक विचारों में कर्म सिद्धान्त की महत्ता भारी मानी गयी है। इसका बहुत कुछ विस्तार ग्रन्थों में बताया गया है परन्तु यहां दो बातें दिग्दर्शित की जाती हैं —(१) 'अकृताभ्यागम' असम्भवनीय है, और (२) 'कृतप्रणाश' भी असम्भवनीय है। सीधी—सादी हिन्दी भाषा में इनका तात्पर्य (१) किए बिना कुछ नहीं हो पाता, और (२) कोई क्रिया कभी विफल नहीं होती, इन दो वाक्यों से बताया जा सकता है।

अपने गृह में यदि कुछ आम्रफल दिखाई दें, तो यह आवश्यक है, कि वे किसी न किसी द्वारा लाये गए हैं, बिना कुछ क्रिया के आये नहीं। अथवा घर के आम्रवृक्ष के फल हों, तो भी बीज बोना उससे अङ्कुर निकलना पौधा बनना, पत्र शाखादि उत्पन्न होना, वृक्ष का सरक्षण और परिपालन होना, और फिर फल फूल लगना इत्यादि क्रियायें अवश्य ही हुई हैं। चाहे मन्त्र सामर्थ्य से भी आम उत्पन्न हुए हों, तो भी मन्त्रों का योग्य उच्चारण और अन्य विधानों का होना अवश्य प्राप्त है। एवं क्रिया बिना कुछ नहीं होता, अकृताभ्यागम असम्भव है, यह बात सिद्ध हो जाती है। इसके अनन्तर दूसरी बात भी क्रमापन्न होती है। क्यों कि क्रिया के स्वरूप में ही उसका फल स्वयंसिद्ध है। उदाहरणार्थ, हल चलाने में ही भूमि के पृष्ठ विदारण की क्रिया यह पहला फल सिद्ध ही हो जाता है। अर्थात् किसी भी क्रिया का विफल होना असम्भव है, यह भी सिद्ध होता है। व्यवहार में भी देखा जाए तो कारण—कार्य की शृङ्खला अखण्ड दिखाई देती है। प्रत्येक कार्य पिछली अवस्था का फल, और आगामी अवस्था का कारण, न्यूनाधिक प्रमाण से दृग्गोचर होता है। हां कर्म का फल कभी कभी अन्तराय दूर करने में ही दिखाई देता है, अथवा साध्यानुकूल साधनों के निर्माण में भी दिखाई देता है। किसी दृष्टि से क्यों न हो, कृतप्रणाश असम्भव है, यह भी सुसिद्ध है।

कर्म फल सिद्धान्त के विषय में हमारे समाज में साधारणत यह रूढ भावना है, कि प्राणिमात्र को जो सुख दु ख प्राप्त होते हैं, वे सब के सब ही उसीके किए हुए कर्म के फल स्वरूप है। परन्तु यह बात एकान्तिक सत्य नहीं। दूसरों के कर्मों से भी हमको अनेक बार सुख दु ख, भोगने पड़ते हैं। हमको सकट काल में मित्रों से अथवा तटस्थों से भी कभी कभी अनपेक्षित सहायता मिलती है। इससे यह सर्वदा सिद्ध नहीं समझा जा सकता कि हमने पूर्व जन्म में या किसी पूर्व काल में उनको सहायता दी थी, और उनका प्रतिफल ही अब हम अनुभव कर रहे हैं। यदि ऐसा अनुमान हम एकान्तिकता से कर लें तो फिर कृतज्ञता और उपकार ये दो शब्द हमारी भाषा में से निकाल देने पड़ेंगे। हमारे सभी भोग यदि हमारे ही पूर्व कर्मोंके फल हैं, ऐसा मान लिया जाय, तो तर्क प्रणाली में बड़ी ही कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं। हमारे गृह में अगर दस हजार रुपयों की चोरी हुइ, और यदि हम यह नितान्त सत्य समझें कि गत जन्म में हम इस चोर के घर से इतना रुपया चुरालाए थे तो अदालत को चोर को छोड़ना ही न्याय्य होगा। परिणाम यह होगा कि किसी कर्म को, पुण्य या पाप कहना ही असभव होगा। हम किसी अनाथ को दयावश कुछ दान करें और वह यदि पूर्व ऋण की केवल अदाइ ही हो, तो उसे पुण्य कौन कहेगा? इस प्रकार यदि हमारा प्रत्येक कर्म, पूर्वऋण परिमार्जन के अर्थ ही हो तो नया कर्मबध उत्पन्न ही नहीं हो सकता, और इन ऋणों की फड़ के अनन्तर मुक्ति स्वय ही सिद्ध हो जाती है। परन्तु यह विचार तर्क प्रतिष्ठित नहीं कहा जा सकता। इस अनवस्था से रक्षा पाने के लिए हमको उपकार और* अपकार इनको स्वतन्त्र कर्म रूप से मानना ही आवश्यक होता है।

---

* यदि किसी नराधम ने चलते चलते किसी हिन्दू धर्मावलम्बी मनुष्य के पेट में छुरा भोंक दिया, तो वह मनुष्य और उसके सम्बन्धी और मित्र, यही समझते हैं, कि यह उसीके पूर्व कर्म का फल है। इस विचित्र नासमझी से निर्भय और न्यायनिष्ठ प्रतिकार बुद्धि, जो हर मानव में होनी चाहिए, — हम में नष्ट हो गई है। हमारे समाज की मानसिक दुर्बलता बढ़ गई है।

और इसीको शास्त्रकारों ने क्रियमाण इस सज्ञा से प्रदर्शित किया है । अन्यथा अटल भवितव्यता की आपत्ति आ पड़ती है, और पुरुषार्थ को कोई अवसर मिलना असंभव हो जाता है ।

[पूर्व पृष्ठ से अनुवृत्त]

और इसीके हम ग्रास हो गए हैं । हमारे शास्त्र सिद्धान्तों के अनुसार कर्म के संचित प्रारब्ध और क्रियमाण ऐसे तीन विभाग प्रमाणित किये गए हैं, किन्तु हम अज्ञानता से क्रियमाण को प्रारब्ध के भीतर मान कर बौद्ध कालीन भवितव्यता वाद के जाल में फँस गए हैं। (देखिए पूर्व प्रबन्ध में 'भवितव्यता वाद' का प्रकरण) दुष्ट रावण सीता माता को उठा ले भागा इस आपत्ति में सीता माता ही पापी थी, ऐसा समझ लेना कर्म सिद्धान्त को कर्दम फेंकने के समान है । परन्तु विचित्र दुर्भाग्य की बात है कि इस विषय में हमारी मनोधारणा मानो एक अन्ध परम्परा के तीव्र प्रवाह में आँखें मूँद कर बह रही है । हमें जानना आवश्यक है, कि किसी दुष्ट को अधम कर्म करने के लिए किसी दूसरे व्यक्ति के पाप की जरूरत नहीं होती । कहा गया है ।

> । 'मृगमीन सज्जनानां तृण जल संतोष विहित वृत्तीनाम्
> लुब्धक धीवर पिशुना निष्कारण वैरिणो जगति' ।

सज्जनों को भी अपने सद्व्यवहारों के लिये दूसरों के पापपुण्यों की अपेक्षा नहीं हुआ करती । तात्पर्य क्रियमाण यह स्वतन्त्र कर्म है। यदि ऐसा स्वीकार न हो, तो भवितव्यता वाद की आपत्ति के साथ और भी एक उलझन उत्पन्न होती है, जिससे कितने ही लोग समझ लेते हैं, कि ईश्वर ही हमारे हाथों दुष्ट कर्म कराता है, और उसकी निर्घृण शिक्षा भी हमें दे देता है ! मानों ईश्वर एक अत्याचारी राक्षस है ! यह तो घोर अज्ञान अपराध है !

तात्पर्य कर्म सिद्धान्त इतना ही बताता है कि हर कर्म का फल होना अवश्यम्भावी है, फिर वह कर्म किसी का क्यों न हो, और उसका परिणाम किसी पर भी क्यों न हो, परन्तु यह भी निश्चित् है कि कर्म करने वाला अपनी जिम्मेदारी से कदापि नहीं छूट सकता।

उपर्युक्त विवेचन मे कुछ विषयान्तर करना पड़ा है, जिसके लिए पाठकों से क्षमा याचना की जाती है।

प्रस्तुत ज्ञानकर्म समुच्चय के वाद म मीमासकों का यह पक्ष है, कि यदि कर्म सिद्धान्त वैदिक कर्मानुष्ठान के प्रमेयों से ही व्युत्पन्न है, तो सब से उच्चतम फल जो निरतिशय सुखरूप मोक्ष, वह भी कर्मों से क्यों न प्राप्त हो? अर्थात्

[पूर्व पृष्ठ से अनुवृत्त]

अत ज्ञातव्य यह है, कि कर्म विपाकों के नियमों की सीमा में, जीवात्मा का, अपनी उन्नति के लिये निश्चय ही कर्म स्वातन्त्र्य का अधिकार है। और इसी दृष्टि से प्रारब्ध वाद और पुरुषार्थ वाद इनके सम्बन्ध मे जो झगड़े हुआ करते हैं, वे हल हो सकते हैं। पूर्व कम अपनी विशिष्ट मर्यादा में ही बधक होता है परन्तु वह जीवात्मा के स्वाभाविक अधिकार म बाधा नहीं पहुँचा सकता। यही तथ्य है, जिससे फलितज्योतिष की उपयोगिता बनती है, और वह सर्वतोपरि अटल नहीं है, यह भी सिद्ध होता है। यदि वह एकान्त अनिवार्य माना जाय, तो बिना दु खदायित्व के उसका कोई उपयोग नहीं यह आपत्ति उपस्थित होती है। अनेक विद्वानों के अनुभव से ज्ञात होता है, कि फलित ज्योतिष भी एक कौतूहल पूर्ण तथा बोधक शास्त्र है। मानना पड़ता है कि हमारे जीवन की प्राय समग्र घटनाएँ प्रबल सम्भावना रूप में पहले से ही एक निर्धारित रास्ते पर चलने के लिये मानो विवश रहती हैं। परन्तु व्यक्तिगत बुद्धिशीलता सजगता और उद्योग के परिणाम में, उक्त सम्भावनाओं में कुछ कुछ परिवर्तन भी कराया जा सकता है। अर्थात् यह असाधारण अध्यवसायवालों की बात है, और ऐसे सुदूरदर्शी और प्रयत्नशील व्यक्ति ससार मे विरले ही होते हैं।

यह कर्म अत्यंत श्रद्धा समन्वित और ज्ञानयुक्त होना आवश्यक है। व्यवहार में भी किसी चित्रकार को यदि सुन्दर मूर्ति बनाना हो, तो उसे उस सम्बन्धी पर्याप्त ज्ञान और हस्त प्राविण्य की अपेक्षा रहती है, ठीक उसी प्रकार मोक्षार्थ कर्म सोज्वल और सुविचार युक्त रहना बहुत आवश्यक है। वैदिक कर्मानुष्ठान यह जीवों के क्रमाभ्युदय और निःश्रेयस के लिए एक महान् राजपथ हमारे सनातन धर्म ने निर्माण कर रखा है।

इस ज्ञानकर्म समुच्चय पक्ष को केवल मीमांसकों ने ही स्वीकार किया था, ऐसा नहीं, अद्वैत सम्प्रदायी कुछ अन्य विद्वानों ने भी एक विशिष्ट दृष्टि से इसे स्वीकार किया है। श्रीमदाचार्य से पूर्व, ब्रह्मदत्त नामक एक बड़े पण्डित इस देश में हो गए, उनका यह मत था कि केवल वृद्धयारूढ सम्यग्ज्ञान से मोक्ष नहीं बनता, साथ ही साथ ज्ञानाकार वृत्ति की अविरत आवृत्ति बुद्धि में होती रहना भी आवश्यक है और इसकी सिद्धि के साथ ही मोक्ष की प्रतिष्ठा होती है। मानो जैसे पूर्व काण्ड में कर्म विधि हैं वैसे उत्तर काण्ड में यह भावना-विधि है जिसको अहमब्रह्मोपासन अथवा प्रसङ्ख्यान कहते हैं। श्रीसुरेश्वराचार्य ने अपने नैष्कर्म्य सिद्धि नामक ग्रन्थ में कहा है —'केचित् स्वसम्प्रदाय बलावष्टम्भाद् आहु—यदेतद् वेदान्त वाक्यादह 'ब्रह्मेति विज्ञान समुत्पद्यते तन्नैव स्वोत्पत्तिमात्रेण अज्ञान निरस्यति। किं तर्हि, अहन्यहनि द्राघीयसा कालेन उपासीनस्य सतः भावनोपचयात् निःशेषमज्ञानमपगच्छति देवो भूत्वा देवानप्येति इति श्रुते (१-६७)'

पंडित ब्रह्मदत्त ध्यान-नियोग वादी थे। जिस प्रकार मृत्यु के अनंतर ही स्वर्ग लाभ हो सकता है, उसी प्रकार मोक्ष भी अदृष्ट फल है जो देह छुटने के पश्चात् ही होता है ऐसा वे मानते थे। वे जीवन्मुक्ति नहीं मानते थे, परन्तु श्रीशङ्कराचार्य के मतसे मोक्ष दृष्टफल है, और 'अत्र ब्रह्म समश्नुते' इस श्रुति के अनुसार जीवन्मुक्ति का अनुभव यहां का यहां ही होना प्रमाणित होता है।

और एक अद्वैती पंडित 'मण्डण' इस नाम के हो गये, यह वह मण्डण मिश्र नहीं जिनसे कि श्रीमदाचार्य जी का एक महान् प्रतिवाद हुआ था। ये

ब्रह्मसिद्धि नामक ग्रन्थ के रचयिता हैं। इनका यह मत था कि वेदान्तवाक्यों से सभी को अपरोक्ष साक्षात्कार नहीं हो सकता, कितनेक लोगों को महावाक्यों का शब्द ज्ञान होने के अनंतर उपरिनिर्दिष्ट प्रसंख्यान नामक मानसी क्रिया करना आवश्यक होता है, और ऐसी क्रिया के दृढ होने के अनंतर ही सम्यग्बोध और ही साथ मोक्ष सिद्ध हो जाता है।

इनके विपक्ष में **श्रीमदाचार्य** का पक्ष **ज्ञानादेवतु कैवल्यम्** ऐसा एकान्तिक और अविकम्प है। तीव्र जिज्ञासा और औपनिषद्विद्या का श्रद्धाशील अध्ययन यही उसकी साधना है, दूसरी किसी भी क्रिया या अनुष्ठान के सम्यग्ज्ञान के लिए आवश्यकता नहीं किन्तु मन शुद्धि के लिए केवल क्रियाओं का अनुष्ठान उपयोगी हो सकता है। इसका मर्म यह है, कि बन्ध यह वस्तु कुछ व्यावहारिक बन्धनों के समान रज्जु शृङ्खलादिकों की नहीं बनी है। यदि वह वैसी होती तो अवश्य उसे तोड़ने के लिए खड्ग, परशु आदि यथा संभव उपयोगी होते थे। परन्तु वह तो केवल अज्ञानात्मक और मानसिक अथवा बौद्धिक भावरूप है। उसको तोड़ने के लिए ज्ञान के अतिरिक्त कोई भी साधन बन नहीं सकता। हां चित्त शुद्धि के लिए कुछ कर्म करना हो तो अवश्य कर लें, किन्तु उसके पश्चात् निर्विचिकित्स ज्ञान ही होना आवश्यक है।

श्रीमदाचार्य का पक्ष इस उच्चतम श्रेणी का और तात्त्विक है, इसको बिना ध्यान में लिए, उन पर आक्षेप लगाना और उन्होंने देश में निष्क्रियता को फैलाया इत्यादि कहना बहुत ही असमञ्जसकारक है।

श्रीमदाचार्य के मतानुसार जगत् अर्थात् ईशसृष्टि, मिथ्या कहिए सदसद्विलक्षण है। वेदान्त परिभाषा से मिथ्या शब्द का अर्थ झूठ नहीं, किन्तु व्यावहारिक सत्य ऐसा ही होता है (देखिये पहले प्रबन्ध का प्रकरण ४१ परिच्छेद 'जगन्मिथ्यात्व') जगत् किसी मानव का स्वरूप नहीं है। अतः उसका मानव बुद्धि से नाश भी नहीं हो सकता, और न वेदान्त का ऐसा मन्तव्य है। हां जीवसृष्टि मानव कल्पित प्रतिभास रूप है। अतः उसका और

तज्जन्य व्यवहारों का (अर्थात् अहमहमादि भावनाओं का ही) नाश ब्रह्मज्ञान से होता है, दूसरे किसी का नहा ।

फिर भी, किसी क्रिया से मोक्ष बनाया नहीं जा सकता, और यदि वह ऐसा बनाया जाय तो वह कृत्रिम होगा, और 'यत्कृतक तन्नश्यम्' इस न्याय से वह विनाशी ही रहेगा ।

इस पर यह आपत्ति की जाती है, कि ईशावास्य उपनिषद् में 'ज्ञान कर्म समुच्चय पक्ष' का स्पष्ट प्रणयन और समर्थन किया गया है, क्यों कि उसके ९ से १० तक मन्त्रों में ज्ञान और कर्म इनको अलग अलग मानने वालों की कठोर निंदा की गई है, और उनका समुचित उपासन अर्थात् साथ साथ अनुष्ठान करने वालों की बड़ी प्रशसा की गई है । इसका उत्तर यह है, कि जब ब्रह्मज्ञान और कर्मानुष्ठान इनकी जोड़ हो ही नहीं सकती तो फिर यहा पर श्रुति ऐसा बताएगी क्यों कर ? इस सम्बन्ध म आगे चलकर विशेष स्पष्टीकरण, किया जाएगा । ज्ञानी पुरुष का कोई कर्तव्य ही नहीं होता, यह सिद्धान्त है, क्यों कि उसे कुछ प्राप्तव्य ही नहीं रहता । 'तस्य कार्यं न विद्यते, (भ गी ३-१७) एसा अनेकों स्थलों पर दर्शाया गया है । परन्तु इसम सन्देह नहीं, कि जहा 'सर्वभूतहिते रत ' (भ गी ५ २५) इस दृष्टि के अनुसार लोक कल्याण का प्रश्न है, अध्यात्म विद्या की श्रीवृद्धि करनी है, अथवा धर्म रक्षा का कार्य है, वहा ज्ञानी पुरुष पश्चात् पद नहीं होता । इससे वह विधि किंकर नहीं होता, और वेदा त परिभाषा से देखा जाए तो उसकी सभी प्रेरणाएँ और प्रयत्न अकर्म हैं इसको नहीं भुलाना चाहिए अर्थात् इसको शास्त्र दृष्टि से 'ज्ञानकर्म समुच्चय' यह अभिधान प्राप्त ही नहीं होना ।

स्वर्गीय लोकमान्य राष्ट्रपुरुष **तिलक** ने ज्ञानी पुरुष के कर्मों के सबन्ध में अपनी गीता रहस्य नामक पुस्तक में, बहुत ही समर्थन किया है, और हमारी समाज मे यह जो सर्व साधारण विपरीत धारणा हो गई है, कि ज्ञानी पुरुष को सदा ही निष्क्रिय और ब्रह्म चिन्तन में मग्न रहना चाहिए, इसका

बड़ी धीरता से और यत्नशीलता से खण्डन किया है, जिससे समाज मे एक आसाधारण चेतावनी उत्पन्न हो गई। आज यदि इस धरा धाम पर **शंकर** भगवान् आ जाएँ तो उनको महामना **तिलक** के अनथक परिश्रमों को देखकर और तज्जन्य जागृति को देखकर हार्दिक प्रसन्नता ही होगी, परन्तु वे इस पक्ष को 'ज्ञानकर्मसमुच्चय' नहीं कहेंगे। ज्ञानी के कर्म को परिभाषा की दृष्टि से यह अभिधान नहीं हो सकता और न उसे 'कर्मयोग' कहा जा सकता है। सिद्ध पुरुषों के कर्म सदा ही 'लोक सग्रह' रूप होते हैं। एव वे ईश्वर के कर्म की तरह **अकर्म** ही हैं।

इस सम्बन्ध मे मीमांसकों की दृष्टि कुछ अलग सी है। उनके पास ज्ञान शब्द का अर्थ औपासन है। मानव को निस्तृष्ण करा देने वाली ब्रह्मविद्या नहीं है। अत उनके अभिप्राय से ज्ञान कर्म समुच्चय शक्य है। परन्तु ऐसे क्रिया रूप समुच्चय से मोक्ष बनाया जा सकता है, यह बात, श्रीमदाचार्य को अभिमत नहीं। ऐसे समुच्चय से देवतालोक की प्राप्ति हो सकती है, या चित्त-शुद्धि भी हो सकेगी, और यदि इतना ही समुच्चयवादियों का कहना है, तो उससे श्रीमदाचार्य को विरोध नहीं है।

इस उपलक्ष मे श्रीमदाचार्यने अपने गीता भाष्य में "तस्माद् गीताशास्त्रे ईषन्मात्रेणापि श्रौतेन स्मार्तेन वा कर्मणा आत्मज्ञानस्य समुच्चय न केनचिदपि दर्शयितुं शक्य" इन शब्दों से जो स्वमत प्रकाशन किया है, वह जिज्ञासु जनों ने देखने योग्य है। तात्पर्य, पारिभाषिक शब्दों के अर्थ यदि ध्यान में लिए जाएँ तो वादानुवाद का कारण नहीं रहता।

श्रीमदाचार्य के शुभ नाम पर, कोई २८४ छोटे मोटे निबन्ध प्रसिद्ध हैं। उनमें से कुछ २६ ही उनके होना सभव है ऐसा अनुशोधक प्रवीण पण्डितों का अभिप्राय है। ऐसी दशा मे इतर ग्रन्थों में जो कुछ विपरीत या विसगत पाया जाता है, उसका आरोप और अभियोग उन पर होना ठीक नहीं। 'नैष्कर्म्य' का अर्थ हाथपाव जोड़कर बैठना, यह नहीं, ऐसा श्रीमदभगवद्गीता साफ बता

रही है। समाज को निरुद्योगी हतप्रभ निस्संबल या नास्तिक बनानेवाला वेदान्त श्रीमदाचार्य को सुतरां अमान्य है। गीता के चौथे अध्याय के प्रस्ताव में वे साफ बनाते हैं, कि हमारी संन्यास का पुरस्कार करने वाली ब्रह्मविद्या, क्षत्रिय राजन्यगणों को सामर्थ्य प्रदान करने वाली है, और उसीके द्वारा जगत् का सद्धर्मान्वित परिपालन हो सकता है इ. इ। इससे सुस्पष्ट है, कि जो उनपर आक्षेप किया जाता है, वह केवल आक्षेपकों के निरी भूल का परिचायक है।

'ज्ञानकर्म समुच्चय पक्ष' के समर्थकों की जबरस्त भित्ति ईशोपनिषद् का

। विद्या चाविद्यां च यस्तद्वेदोभय ँ सह
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते । ११

यह मन्त्र है, और प्रसन्नता की बात है कि इसी मन्त्र का मानों पूर्ण विवरण श्रीमदाचार्य ने अपने ऐतरेयोपनिषद्भाष्य के प्रस्ताव में किया है वह नीचे उध्दृत किया जाता है।

"यत्तु विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभय ँ सह" इति न विद्यावतो विद्यया सह अविद्यापि वर्तत इत्ययमर्थ । कस्तर्हि ? एकस्मिन् पुरुषे एते न सह सम्बध्येयाताम् इत्यर्थ यथा शुक्तिकाया रजत शुक्तिका ज्ञाने एकस्य पुरुषस्य। दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता, इति हि काठके। तस्मान्न विद्यायां सत्याम् अविद्यायाः सम्भवोऽस्ति। तपसा ब्रह्मविजिज्ञासस्व इत्यादि श्रुतेः। तप आदि विद्योत्पत्तिसाधनं गुरुपासनादि च कर्म, अविद्यात्मकत्वादविद्या उच्यते। तेन विद्यामुत्पाद्य मृत्युं काममतितरति। ततो निष्कामः त्यक्तैषण. ब्रह्मविद्यया अमृतत्वमश्नुत इत्येतमर्थं दर्शयन्नाह 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते' इति।

इसी प्रकार तैत्तिरीय उपनिषत् शिक्षावल्ली एकादश अनुवाक के भाष्य में वे लिखते हैं :—

प्राग्ब्रह्मविज्ञानान्नियमेन कर्तव्यानि श्रौतस्मार्तकर्माणीत्येवमर्थं अनुशासन श्रुते पुरुषसंस्कारार्थत्वात्। संस्कृतस्य हि विशुद्धसत्त्वस्याऽऽत्मज्ञानमञ्जसैवोत्पद्यत। "तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते" इति स्मृति। वक्ष्यति च-तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व' इति। अतो विद्योत्पत्त्यर्थमनुष्ठेयानि कर्माणि। अनुशास्तीत्यनुशासन शब्दादनुशासनातिक्रमे हि दोषोत्पत्ति। प्रागुपन्यासाच्च कर्मणा केवल ब्रह्मविद्यारम्भाच्च पूर्वं कर्माण्युपन्यस्तानि। उदितायां च विद्यायां "अभयं प्रतिष्ठां विन्दते" "न बिभेति कुतश्चन" 'किमहं साधु नाकरवम्' इत्येवमादिना कर्मनैष्किंचन्य दर्शयिष्यतीत्यतोऽवगम्यते पूर्वोपचितदुरितक्षयद्वारेण विद्योत्पत्त्यर्थानि कर्माणीति। मन्त्रवर्णाच्च—"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते" इति।

ऊपर की पंक्तियों से विदित होगा कि विद्या शब्द से श्रीमदाचार्य ब्रह्मविद्या यही अर्थ लेते हैं। किन्तु ईशोपनिषद्भाष्य में इस विद्या शब्द का अर्थ ब्रह्मविद्या लेना अयोग्य है ऐसा स्पष्ट लिखा गया है। इससे यही अनुमान होता है कि इन भाष्यों का एक ही रचयिता होना असम्भव है।

उभय ९ सह इसका अर्थ ईश भाष्य में सहसमुच्चय ऐसा लिया गया है परन्तु उद्धृत वचनों में क्रमसमुच्चय ही लिया गया है।

अमृतत्व का अर्थ इस भाष्य में 'देवता लोक प्राप्ति' ऐसा लिया गया है, किन्तु उद्धृत वचनों में मोक्ष यही अर्थ लिया गया है।

इन विरोधों से यह स्पष्ट होता है कि जिन अर्थों का ईशभाष्य में स्पष्टता से निराकरण किया गया है, ठीक वही अर्थ ऊपर के उद्धृत वचनों में श्रीमदाचार्य ने स्वीकृत किये हैं। अतः यह ही सिद्ध है कि उपलब्ध ईशभाष्य श्रीमदाचार्य का नहीं, और ऐसे अन्यार्थ वाले भाष्य के अस्तित्व की ज्ञाता भी श्रीमदाचार्य को नहीं थी, क्योंकि यदि होती, तो इन विरोधों का

परामर्श उन्होंने अवश्य किया होता और इस भाष्य में अलग अर्थ करने का कारण भी बताया होता। किन्तु श्रीमदाचार्य के ग्रंथों में ईशभाष्य के ऐसे अलग अर्थों के अस्तित्व का, कहीं उल्लेख भी नहीं मिलता है। अतः निष्कर्ष यही होता है, कि उपलब्ध ईशभाष्य किसी दूसरे अद्वैत सम्प्रदायी पंडित का है, अथवा उनके पीठों पर आये हुए आचार्यों में से किसी का होना ही सम्भव है।

अपिच इस उपनिषद् के मंत्र ११,१२,१३ और १४ इन में जो महत्व के शब्द आये हैं उनके अर्थों की बड़ी खींचतान इस भाष्य में दिखाई देती है। सम्भूति को असम्भूति बनाया गया है, विनाश को अविनाश किया गया है, अमृतत्व का अर्थ सापेक्ष मोक्ष किया गया है। 'अन्यदेवाहुर्विद्यया' इसके साथ 'क्रियते फलम्' इन शब्दों का अधिक अध्याहार किया गया है। ऐसी भद्दे ढंग की खींचतान श्रीमदाचार्य द्वारा होना असम्भव है।

मंत्र १४ में जो सम्भूति' शब्द आया है उसका अर्थ अत्यंत कल्याण-कारी ब्रह्मविद्या है। श्री सुरेश्वराचार्य ने भी इस शब्द का अर्थ ब्रह्मविद्या ही किया है, और मांडूक्य उपनिषद् के २८ वें कारिका में इसी मंत्र का उल्लेख आया है। वहां भाष्य में यही अर्थ बताया गया है। परन्तु ईशभाष्य में इस का अर्थ अव्याकृतोपासन और उसका फल अमृतत्व याने मोक्ष नहीं किन्तु 'प्रकृति लय लक्षण' फल ऐसा बताया गया है!

विचार शील पाठकों को थोड़े ही विमर्श से यह स्पष्ट होगा कि 'उभय' सह' इन शब्दों का आशय, ऊपर के उद्धरणों में श्रीशङ्कराचार्य ने 'क्रमसमुच्चय' दिया है परन्तु ईशभाष्य में 'सहसमुच्चय' स्वीकारा गया है। इसी भूल के परिणाम स्वरूप ईशभाष्य में शब्दों की और उनके अर्थों की भरसक खींचातानी करनी पड़ी है।

इस जटिल गुत्थी पर और एक दृष्टि से प्रकाश डाला जा सकता है, वह है श्रीसुरेश्वराचार्य के बृहदारण्यक उपनिषद् के वार्तिक की दृष्टि।

श्रीसुरेश्वराचार्य अपने पूर्वाश्रम में मण्डण मिश्र इस नाम से ख्यात थे। आप एक कट्टर कर्ममार्गी थे और सन्यास मार्ग को निरादर की भावना से देखते थे। इनका और श्रीमच्छंकराचार्य का बड़े जोर का प्रतिवाद हुआ था, जिसका चुटीला वर्णन शांकर चरित्र में उल्लिखित है। इसके अनंतर मण्डण मिश्र ने बड़ी प्राबलता तथा आदरभाव से श्रीमदाचार्य की शरण ली, चतुर्थाश्रम को स्वीकार किया और श्रीमदाचार्य के प्रसन्न गम्भीर भाष्यों पर अपने सुन्दर वार्तिकों की रचना में अपनी आयु की सार्थकता कर ली। इनके ग्रन्थों से इनकी विशाल बुद्धि-शीलता और अनेक युक्ति प्रमाणों से दुर्घट विषयों को परिस्फुट कराने का इनका कौशल, व्यंग्य भाषा में वर्णन करने की शैली इत्यादि गुणों का परिचय मिलता है। ईशोपनिषद् के ११ वें मन्त्र में, व्याकरण शास्त्र का 'क्त्वा' प्रत्यय आ गया है, जैसे 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते'। इसके सम्बन्ध में इन्होंने बड़ी बारीकी निकाली है। वह यह कि यहां व्याकरण शास्त्र की दृष्टि से किसी प्रकार सहसमुच्चय का अर्थ बनने ही नहीं पाता! ब्रह्म विद्या को तो छोड़ दीजिए विद्या शब्द का अर्थ यदि औपासन विद्या ही लिया जाय, तो भी सहसमुच्चय यह अर्थ हो नहीं सकता, क्यों कि 'क्त्वा' रूप प्रत्यय काल भेद बता रहा है, 'भुक्त्वा गच्छति' पहले भोजन पाता है, और फिर पधारता है। भोजन करना और पधारना एक समय नहीं होते। ठीक इसी प्रकार अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा विद्यया मृतमश्नुते, पहले अविद्यया अर्थात निष्काम श्रौतस्मार्त कर्मानुष्ठानों के बल से, उपासक इस एषणारूप मृत्युलोक पर विजय पा लेता है, और फिर ब्रह्मविद्या से मोक्ष प्राप्त कर लेता है। ऐसा यहां क्रम है सहभाव नहीं। एवं ऊपर ऐतरेय भाष्य में जो सरल सुबोध अर्थ बताया गया है, वही सब दृष्टि से यथार्थ है। दूसरी उलझनों में पड़ने का कोई कारण नहीं है। इस पर जो वार्तिक के श्लोक हैं, बड़े मार्मिक होने से नीचे दिये जाते हैं।

विद्यां चेत्यादि मन्त्रोऽपि न समुच्चय बोधकः ॥
परस्पर विरोधित्वात्‌ सहावस्थितिरेतयोः ॥१७६४॥

नत्वा योगात्पूर्वकालत्वमविद्यया प्रतीयते ॥
स्वाभाविक कर्म मृत्युर्विद्या शास्त्रीयमुच्यते ॥१७६५॥

मृत्यु स्वाभाविक ज्ञान शास्त्रीय सभवस्तथा ॥
शास्त्रीयेणेतरत्तीर्त्वा विद्यया ऽ मृतमश्नुते ॥१७६६॥

नाविरतो दुश्चरितादिति चा ऽऽगमिक वच ॥
तपसा कल्मष हन्ति विद्यया ऽमृतमश्नुते ॥१७६७॥

तस्मात्समुच्चयाशेह कार्या नाक्षरसश्रयात् ॥
अप्रमाण ब्रुवाणस्तु नास्माभि विनिवार्यते ॥१७६८॥

अन्त्य श्लोक मे जो कटाक्ष किया गया है वह आलोचनीय है । श्रीसुरेश्वराचार्य अपने गुरुवर्य के विरुद्ध लेखनी उठाएँगे यह सम्भव नहीं । यदि प्रस्तुत ईशभाष्य श्रीमदाचार्य का होता, तो निश्चय ही यहाँ श्रीसुरेश्वराचार्य ऐसे कड़े शब्दों का प्रयोग न करते ।

ईशोपनिषद् के पहले दो मन्त्रों के सम्बन्ध में कुछ अधिक विवेचन करना आवश्यक है, जो आगे भाषान्तर के प्रसग में किया जाएगा । दूसरा मन्त्र जो 'कुर्वन्नेवेह' इ है, उसका अभिप्राय श्रीमदाचार्य के ब्र सू (३-४-१३ और १४) के भाष्य से ज्ञात हो सकता है, और वह ईशभाष्य से विभिन्न है। उत्तरोक्त भाष्य मे लिखा है, कि यह मन्त्र ज्ञाननिष्ठा के अनधिकारियों के अर्थात् कर्मिष्ठों के लिए है, और ज्ञान और कर्म इनमें पर्वत समान अविकम्प भेद है, यह भुलाना नहीं चाहिए। इसके विरुद्ध उपर्युक्त ब्र सू भाष्य में लिखा गया है कि इस मन्त्र में, वह ज्ञाननिष्ठ के लिए ही है, ऐसी विशेषता नहीं बताई गई है ।और यद्यपि ज्ञान के प्रकरण मे होने से उसका सम्बन्ध ज्ञान से है, ऐसा कहा जा सकता है, पर उसमें जो विशेषता है, वह यह कि इस मन्त्र मे ज्ञानी पुरुष को यावज्जीव कर्म करने का स्वातन्त्र्य दिखा कर वह कर्म-

बन्धों से जकड़ा नहीं जाता, यह ज्ञान का सामर्थ्य बताया है। यह सूत्र भाष्य उनका नहीं, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, क्यों कि इन भाष्यों पर बड़े वादानुवाद हुए हैं। अर्थात् प्रतिपादनों की विभिन्नता से सिद्ध होता है, कि ईशोपनिषद् भाष्य जो श्रीशङ्कराचार्य के नाम से प्रसिद्ध है, उनका नहीं है।

मीमांसकों का पक्ष, कर्म और उपासना के समुच्चय अर्थात् सह अनुष्ठान का है, उसपर कोई आक्षेप नहीं है, और उल्लिखित ईशभाष्य भी इसीका समर्थन कर रहा है, जिससे अद्वैत सिद्धान्त को कोई ठेस नहीं पहुंचती। परन्तु इसके विभिन्न शब्दों की, वाक्यों की, और उनके अर्थों की, जो उथल पुथल की गई है, उसे देख, बड़े बड़े विद्वानों को अचम्भा हो गया है। प्रोफेसर मैक्स मुलर और स्व० लोकमान्य तिलक ने, शङ्कर भगवान् के सम्बन्ध में कुछ साशङ्कतावाले उद्‌गार अपने ग्रन्थो में लिख डाले हैं, इन्हें देख कर दुःख होता है—प्रोफेसर मैक्स मुलर ने लिखा है :—

'It in necessary (even when we feel obliged to reject an interpretation of Shankara's without at the same time altering the text) to remember, that Shankara when he is not blinded by Philosophical predilections, commands the highest respect as an interpreter' (Sacred books of the East Vol I, edited by F. Max Muller page LXXIV and pages 314 to 320.)'

कुछ इसी ढंग का आक्षेप स्व. लोकमान्य तिलक ने भी 'अपने ग्रन्थ में किया है। (देखिये गीता रहस्य प्रकरण ११ अन्तिम भाग पृष्ठ ३५९ से ३६१ तक) इन दोनों पण्डितों की यह धारणा हो गई थी, कि श्रीशङ्कराचार्य जैसे महामहिम पुरुष साम्प्रदायिक अभिमान के वशवर्ती हो कर, श्रुति के अर्थों में कभी कभी गड़ बड़ कर देते हैं। यह तो दुर्भाग्य की बात है। इसका कारण यही अनुमित होता है, कि इन विद्वानों को अपने अपने क्षेत्रों में, गहन कार्य में निमग्न रहने से, बहुत ही अन्य बातों पर विचार निर्णय करने का

अवसर ही नहीं मिला। बहुतायत काल से प्रकृत 'ईशभाष्य' श्रीमच्छंकराचार्य के नाम पर ही प्रसिद्धि पाया है; वैसा ही उन्होंने मान लिया। यदि उसी समय, उनको यह ज्ञात होता, कि उक्त प्रसिद्धि को कोई आधार नहीं है, प्रत्युत अनेक आन्तरिक प्रमाण उसके विरोधी हैं, तो उनको बड़ी प्रसन्नता होती और उनके संशोधन के कार्य में विपुल योगदान भी होता।

इस सम्बन्ध में एक आशंका की अवतारणा हो सकती है, कि सनातनी पण्डित, अनेक शताब्दियों से इस भाष्य को श्रीमदाचार्य का ही मान्य किये आए हैं, और इस प्रश्न को अब तक क्यों कर किसी ने भी नहीं उठाया? आशंका आपाततः ठीक ही मालूम होती है। परन्तु यह भी सोचना है, कि किसी भी खोज के सम्बन्ध में यह आपत्ति सदा ही की जा सकती है। देखिए न गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त के सम्बन्ध में भी पूछा जा सकता है, कि हजारों वर्ष तक बड़े बड़े प्रकाण्ड पण्डितों की समझ में यह सिद्धान्त क्यों कर नहीं आया? एवं हर आविष्कार के विषय में यह शंका बनी बनायी है। परन्तु यह कोई उसकी अमान्यता का कारण नहीं हो सकता। यहा पर और एक बात बतानी है, कि इस खोज में, प्रकृत लेखक पहला नहीं है। जान पड़ता है, कि कोई सौ दो सौ साल के नीचे एक अध्ययनशील पाठक का ध्यान इस संकुल विषय पर आकृष्ट हो गया था, जिसका उल्लेख उसने अपनी ऐतरेय उपनिषद् की पोथी में कर रखा है। संयोग वश यह पोथी पूना के आनन्दाश्रम के स्वामीजी के हाथ आ गई, और उन्होंने ई. स. १८८९ में उसे अपने मुद्रणालय में अपनी टिप्पणी के साथ छाप दिया। उपर्युक्त अभ्यासक इस मुद्रण काल के कितने पूर्व हो गया होगा, इसका कोई पता नहीं चलता, प्रकाशित पुस्तक के पृष्ठ १९ के नीचे यह टिप्पणी है:—

"अत्र क, ख, संज्ञित पुस्तकयोः किंचिद्वहिर्लिखितमस्ति। तद्यथा नन्वीश भाष्ये विद्याशब्दः उपासनापरो न तु ब्रह्मविद्यापर इत्युक्तं, तेन विरोध इति चेन्सत्यम् काण्वशाखायां 'नम उक्तिं विधेम' इत्युपासनायामेवोपनिषत्समाप्तिस्तद्व्याख्यायां तदनुसारेणोपासनापरत्वमुक्तम्। माध्यंदिन शाखाया तु 'योसावा

दित्ये पुरुष सोसावहम् । ओ३म् ख ब्रह्म' 'इत्येकात्म्योपसंहारात्तदनुसारेणाज मुख्यविद्यापरत्वमुक्तमिति विवेक "

इससे स्पष्ट है, कि ऐतरेय और ईशभाष्य दोनों में विरोध अवश्य है। अर्थात् उनमें का एक ही मत श्रीमदाचार्य का हो सकता है। खेद की बात है, कि इस विषय पर गतकाल में यथेष्ट गवेषणा नहीं हो सकी। हमारी परम्परा पुरातन काल से ऐसी कुछ बनी है, कि प्राचीन ग्रन्थों में यदि कुछ व्याघातात्मक भी लिखा हो, तो उसकी ओर से उदासीनता ही धारण कर लेना अथवा किसी न किसी ढंग से उसे निभा लेने का प्रयास करना एवं उसकी अधिक मात्रा में विचिकित्सा करना ही नहीं। उपरोक्त अभ्यासक ने विरोध बता कर भी अपने मन ही मन उसका कारण, काण्व और माध्यदिन पाठों के भेद में अन्तर्भूत है, ऐसा मान लिया है, यह एक कौतूहल की बात है। वास्तव में देखा जाए तो इन दो पाठों में ऐसी कोई विरोध की बात नहीं है, कि जिससे पहले को केवल कर्मकाण्डात्मक या उपासनात्मक, और दूसरे को केवल ज्ञानात्मक, ठहराया जा सके। और न उपासना और ज्ञान का ऐसा अहिनकुल सा विरोध है। 'भक्त्या मामभिजानाति' (गी १८-५९) 'भक्तिर्जनित्री ज्ञानस्य' ऐसे प्रचुर संख्या में वचन भी हैं। फिर सुरेश्वराचार्य तो स्वयं ही काण्वशाखाध्यायी थे, और वे तो कोई ऐसी विभिन्नता नहीं बताते।

बात असल यह है, कि शंकर भगवान् ने जो प्रबन्ध लिखे नहीं, वे भी उनके नाम से प्रसिद्धि पा गये। इनमें विरोधी विचार बहुत स्थानों पर मिलते हैं। यही कारण है, कि हमने विरोधों की ओर ध्यान देना ही छोड़ दिया है। ऐसी उलझनों की बातें हमारे पास ही हुई हैं ऐसा नहीं। संसार के अनेक देशों के धार्मिक और तात्त्विक ग्रन्थों में भी हुई हैं। इसका एक छोटा सा मनोरंजक उदाहरण, पाश्चात्यों का जो अत्यन्त महत्व का धार्मिक मूल ग्रन्थ बाइबिल, उसके सम्बन्ध में बताया जा सकता है। इस ग्रन्थ की आद्य भाषा हिब्रू थी, और अनन्तर अन्य भाषाओं में इसका अनुवाद किया गया। इसके उन्नीसवें अध्याय (बाइबिल सेन्ट मथ्यू १९-१९-२४) में इस अभिप्राय

का वचन है, कि 'सुई के रन्ध्र में से भले ही एक मोटा डोर चला जाय परन्तु स्वर्ग द्वार के अन्दर धनाढ्य मनुष्य का प्रवेश नहीं हो सकता' इस वाक्य में डोर के लिए हिब्रू भाषा का जो शब्द है, उसका अर्थ एक पण्डित ने ऊँट कर दिया !

बस अब जिस पुस्तक में देखिये, यही ऊँट बैठा हुआ पाया जाता है ! अचरज की बात है, कि अनेक शताब्दियों मे ऐसा कोई पुरुष नहीं हुआ जो इसे बाहर निकाले ! आज भी सहस्रश ईसाई स्त्री पुरुष ऐसे हैं, जो इस ऊँट को ही लिए बैठे हैं ! तात्पर्य त्रुटिया, जीव स्वभाव सुलभ हुआ करती हैं, और उनकी ओर लक्ष्य जाना यह बहुत बार दुर्घट हो जाता है, इसका क्या इलाज है ।

शताब्दियों की परम्परा से मानी हुई बात को अमान्य करने में मन को कठिनाई तो अवश्य होती है । ऐसी शतश बातें बताई जा सकती हैं, जो दुनिया, दीर्घकाल से मानती आई, और अन्त में पदार्थ विज्ञान या तत्सम शास्त्रों के बल पर उनको आज अमान्य करना अवश्य हो गया है ! इस दृष्टि से ईशभाष्य का प्रश्न कुछ भी विकट नहीं है । परस्पर विरोधी ग्रन्थ शङ्कराचार्य के हैं, ऐसा मान लेने से 'उनके विचार सुसगत और युक्तियुक्त नहीं थे, कभी वे ऐसा लिखते थे, और कभी वैसा भी लिख मारते थे' ऐसा कहने की आपत्ति आती है । यह किसी दृष्टि से उनकी भक्ति या समादर का द्योतक नहीं है । अत जो यथार्थ और प्रमाण सिद्ध है, उसी को उनका समझना योग्य है ।

इसमें सन्देह नहीं, कि ईशोपनिषद् जो ब्रह्मविद्या का आद्य उपनिषद् है, श्रीमदाचार्य के भाष्य से अलकृत रहना आवश्यक है, पर जान नहीं पड़ता कि वह, भीषण काल के गाल में कहा के कहा चला गया है ! कदाचित् तिब्बत नेपाल चीन जापान में वह कहीं कभी मिल भी जायगा । यदि ऐसा हो, तो उसमें श्रीमदाचार्य का वही अभिप्राय दीख पड़ेगा, जो उपरोक्त उन्हीके उध्दृत वचनों में अथवा श्रीसुरेश्वराचार्य ने यत्र तत्र दिया है । इसी दृष्टि से इस नि

उत्तर विभाग में इस उपनिषत् का सीधी और सरल भाषा में अनुवाद दिया गया है।

परन्तु इस अनुवाद के पाठ के पूर्व, और भी एक विमर्श विद्वानों की सेवा में निवेदित करना उचित है।

उपनिषन्मन्त्रों के अभिप्राय की आलोचना करने के समय, यह बहुत बार देखा गया है, कि शब्दों की रचना, उनका सरल अर्थ, पहले क्या कहा गया है, और आगे क्या बताया गया है, इनको ध्यान में ले कर तारतम्य दृष्टि से और तत्कालीन परिस्थिति को सामने रख कर, जो तात्पर्य प्रतीत होता है, वही प्राय समीचीन रहता है। उपक्रमोपसहारादि जो षड्विध विचार, शास्त्रों में बताये गये हैं, बहुत अच्छे ही हैं, किन्तु उनको भी अपनी सूक्ष्म दृष्टि से निभा लेने की बडी आवश्यकता है। प्राय होता यह है, कि पाठक, साम्प्रदायिक टीकाकारों के शब्दाडम्बर में अचानक फँस जाते हैं, और फिर कुछ अनोखा सा निर्णय ही उनके गले पड जाता है। इसका मजे का उदाहरण इसी उपनिषत् के सम्बन्ध में हो चुका है। देखिये निम्न के तीन सरल मन्त्र —

> ॥ अन्धतम प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते
> ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳ रता ॥९॥
>
> ॥ अन्यदेवाहुर्विद्यया अन्यदाहुरविद्यया
> इति शुश्रुम धीराणा येनस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥
>
> ॥ विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभय ꣳ सह
> अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥११॥

इनका सीधा तात्पर्य यह है —

जो लोग अविद्या अर्थात् अज्ञान में रहना पसद करते हैं, अथवा अपने आकुंचित स्वार्थी व्यवहारों में ही लिपटे रहते हैं, वे अन्धतम की

दुर्गति को प्राप्त कर लेते हैं, और जो ऐहिक अथवा स्वर्गादि भोगों की अभिलाषा से कर्मकाण्ड रूप विद्या के घटाटोपों में व्यस्त होते हैं, वे तो और भी बड़ी दुर्गति को प्राप्त कर लेते हैं। विद्या और अविद्या इनके सच्चे अर्थ कुछ और ही हैं जो हमने हमारे चिन्तनशील और प्रगल्भ गुरुजनों से सुने है। प्रत्युत उन्होंने हमें इन अर्थों की विशेषता को बड़ी मार्मिकता से बताया है. जिससे स्पष्ट होता है, कि साधक, अविद्या के अर्थात् श्रौत, स्मार्त के कर्मों के निष्काम अनुष्ठानों से, इस एषणा रूप मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है, और विद्या, अर्थात् ब्रह्मज्ञान से अमृतत्व अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

यह कितना सुगम और सबोध तात्पर्य है? 'अन्यदेवाहुर्विद्यया' इसका स्पष्ट अर्थ 'विद्या शब्द का तात्पर्य अलग ही है,' ऐसा है। अर्थात् जो जनसाधारण समझे हुए हैं, वह अर्थ तात्त्विक दृष्टि से योग्य नहीं हो सकता। हमारे धीर गुरुजनों ने इस बात को हमें अच्छी तरह समझाया है। वैदिक वाङ्मय में 'आहु आहु ऐसे शब्द सैकड़ों स्थलों पर आते हैं। जहां कहीं प्राचीन मत या प्रथा बतानी होती है, या कुछ विशेषता दिखलानी होती है, वहा इन शब्दों का उपयोग हुआ करता है, या 'तदेष श्लोको भवति' ऐसा प्रस्ताव किया हुआ रहता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में तो 'इत्याह' 'इत्याहु' इनकी भरमार आती है। गीता में भी 'इंद्रियाणि पराण्याहु' (३-४२) 'तमाहु पण्डित बुधा' (४-१९) 'तामाहु-परमां गतिम्' (८-२१) आहुस्त्वाम् ऋषय (१०-१३) ऐसे अनेक उदाहरण मिलते है। ठीक इसी प्रकार इस उपनिषद् में विद्या और अविद्या इनके लौकिक और शास्त्रीय अर्थों में कैसी विभिन्नता है, यह समझाने के लिए 'आहु' शब्द का व्यवहार किया गया है, जिससे तात्पर्य भी सुन्दर निकल आता है।

परन्तु दुःख की बात है, कि 'समुच्चय' वाद के चक्र में आने से पण्डितों को इन मन्त्रों का आशय समझने में बड़ी ही कठिनाइया पड़ गयीं। अन्यत् शब्द का अर्थ ठीक बैठता नहीं ऐसी मन ही मन अपनी भावना बना कर 'फलम्' इस नये शब्द का अध्याहार कर लिया गया। और वह भी 'विद्यया' इस तृतीया विभक्ति से जमता नहीं, अत 'क्रियते' ऐसा और एक पद लगाया

गया ! कहीं 'विद्यया' इस शब्द को बदल कर 'विद्याया' ऐसा छन्दो भङ्ग दोष वाला पाठ स्वीकार किया गया ! यह सब समञ्जस कैसे हो सकता है !

आज भी देखिये, यदि कोई कहे कि भाइयो, शिक्षण, शिक्षण ऐसा पुकार करने से क्या फल है ? क्या कुछ हिन्दी अथवा अंगरेजी ग्रन्थों के पठन पाठन से शिक्षा की परिपूर्ति हो सकती है ? शिक्षण का सच्चा तात्पर्य तो मन और बुद्धि को सद्विचारों से सुसंस्कृत और उदात्त बनाना है इ. इ.। ठीक इसी प्रणाली की विचार धारा, इन तीनों मन्त्रों में अनुस्यूत है। आगे अनुवाद के पाठ से यही बात स्पष्ट हो जाएगी।

मन्त्र १२ १३ और १४ के सम्बन्ध में भी यही सीधी-सादी बात ध्यान में रखना आवश्यक है। परन्तु स्वमन कल्पित निगूढ़ अर्थ की खोज में, सरल सत्य रहस्य की उपेक्षा हो गई है। यही कारण है, कि यहां सम्भूति और असम्भूति इनके अर्थों में टीकाकारों में बड़ी विभिन्नता दीख पड़ती है। संस्कृत भाषा में सम्भूति शब्द का साधारण अर्थ जन्म है, और असम्भूति अर्थात् अजन्म; मीमांसकों का यह मत था कि जगत् स्वयम्भू है, इसका जन्म हुआ ही नहीं ! अतः १२ वें मन्त्र में 'सम्भूतिमुपासते' इत्यादि कह कर उनके मत की निन्दा की गई है। 'सम्भूति' शब्द का दूसरा अर्थ भूति=ऐश्वर्य अर्थात् अच्छा ऐश्वर्य कहिए देवतास्वभाव, देवतास्वरूप बन जाना। इस अर्थ का भी स्वीकार मीमांसकों ने किया है 'तं यथा यथोपासते तथैवभवति' (मुद्गल उ० मन्त्र ३) वैदिक काल में उपासक अपनी अनुष्ठान सामर्थ्य से उपास्य देवता के स्वरूप की प्राप्ति कर सकता है, ऐसी भावना थी। इसी को सम्पदुपासन कहते हैं। मीमांसकों का ज्ञानकर्मसमुच्चय पक्ष, इसी दृढ भावना की भित्ति पर प्रतिष्ठित है। परन्तु **अद्वैतसिद्धान्त** अपनी विचारोच्च दृष्टि से इस प्रक्रिया ※ को मान्यता नहीं देता। और न उसे इन क्रिया साधनों

※ वेन्दात ग्रन्थों में, इस सम्पदुपासन की विधि का 'भ्रमर कीट न्याय' के आधार पर, समर्थन किया गया है। कहा जाता है कि भ्रमर, तैलपाई नामक

की आवश्यकता है। बात यह है कि यह 'भावना वशित्व' निरी भूल है, जिससे कोई तात्त्विक सफलता नहीं हो पाती, प्रत्युत् उससे बन्ध ही पुष्ट हो जाता है। प्रथम प्रबन्ध प्रकरण (४४) पृष्ठ १७७ पर स्पष्टतया बताया गया है, कि बिना बुद्धि पूर्वक सन्तत सत्प्रयत्नों के, मानव, अपने साध्य को प्राप्त नहीं कर सकता। ठीक यही न्याय तत्त्व विज्ञान के सम्बन्ध में भी चरितार्थ होती है। 'सम्भूति' का और एक अर्थ 'असत्' जगत् का जन्म। असत् कार्य वादी नैयायिक और वैशेषिक मानते हैं, कि परमाणुओं के समवाय से एकदम भिन्न जगत् की उत्पत्ति होती है! इस मत का खण्डन पीछे पृष्ठ १४७ पर किया गया है। ईशावास्योपनिषद् इन सब अज्ञानजन्य भ्रान्तियों का निषेध कर रहा है, और बता रहा है, कि 'सम्भूति' और 'असम्भूति' इनके लौकिक अर्थों के भँवर में मत जाओ। इनके सच्चे तात्त्विक अर्थ निराले हैं, जिनको हमारे ज्ञान दृष्टि गुरु जनों ने हम बड़ी सुविधा से समझा दिया है। असम्भूति का लौकिक अर्थ, इस जगत् की उत्पत्ति नहीं हुई, वह स्वयम्भू है, उसका कोई निर्माण कर्ता नहीं है। अर्थात् जो मन चाहे वह किये चले जाओ, इस भ्रान्त धारणा को लिये हुए लोग अ-सम्भूति याने अन्-ऐश्वर्य अर्थात् भाति भाति के व्यावहारिक सुखों की छटपटाहट में लिपटे रहते हैं, वे अन्धतम् नामक दुर्गति को प्राप्त होते हैं। और जो लोग सम्भूति याने कर्मकाण्डगत विधियों के अनुसार देव

(पूर्व पृष्ठ से अनुवृत)

कीट को पकड़, अपने बिल मे बन्द कर लेता है, और बारबार उसकी ध्वनि से वह कीट भयाक्रान्त होता हुआ, उसका ध्यान करते करते अन्त में भ्रमर बन जाता है। ठीक इसी प्रकार सतत ब्रह्मचिन्तन से जीवात्मा ब्रह्म बन जाता है, ऐसी अनेक पण्डितों की कल्पना है।

अद्वैत विज्ञान अपनी उच्च कक्षा में इसे स्वीकार नहीं करता, परन्तु निचली कक्षा में भी यह दृष्टान्त सत्य नहीं है। प्राणि शास्त्र की दृष्टि से भी सतत ध्यान से ऐसा कुछ परिवर्तन होने के लिए प्रमाण नहीं है, ऐसी ही वैज्ञानिकों की सम्मति है।

तात्म भाव एवं ऐश्वर्य प्राप्त करा लेने के पीछे पड़े हैं, याने जिनमें शास्त्र द्वारा क्यों न हो, ऐहिक और पारलिक सुख भोगों की ही लालसा होती है, ऐसे लोग, और भी घोर दुर्गति को प्राप्त होते हैं।

असम्भूति का सच्चा अर्थ श्रौत स्मार्त कर्मानुष्ठान है, क्योंकि उसमें अनैश्वर्य अर्थात सच्चा ऐश्वर्य नहीं। उसके फल विनाशी ही होते हैं। तथापि इनका भी अनुष्ठान ईश्वरार्पण बुद्धि से करना योग्य होता है, जिससे इस एषणा रूप मृत्यु लोक पर विजय प्राप्त होती है। इसके उपरान्त 'सम्भूति' याने सच्चा ऐश्वर्य अर्थात् निरतिशय कल्याण करा देने वाली ब्रह्मविद्या, इसकी आराधना से अमृतत्व की प्राप्ति अवश्य हो जाती है।

अतत संक्षेप से यही कहा जा सकता है, इस उपनिषत् में कर्म काण्ड और ज्ञान साधन इनका तारतम्य बड़ी स्पष्टता से और सफलता से बताया गया है। मीमांसकों ने कर्म काण्ड के विषय में एक विचित्र दुराग्रह का पक्ष हमारे समाज मे प्रस्थापित कर रक्खा था, जिसकी हद्द नास्तिकता तक बढ गई थी। उसका यहां स्त्री भाषा से खण्डन कर दिया गया है।

अब आगे के विभाग में, इस उपनिषद् का जो अनुवाद दिया गया है, विद्वानों से प्रार्थना है कि वे उसका पर्यालोचन तथा परीक्षण करें, और कुछ दोष हों तो अवश्य बतावें। दोषों का निराकरण ही सत्य स्वरूप परमात्मा के ज्ञान के लिये सर्वथा उपकारी है।

। हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।
(ईश मन्त्र १५)

ॐ शान्ति शान्ति. शान्ति.

द्वितीय प्रबन्ध

ईशावास्योपनिषद्

[काण्व पाठ]

प्रकरण (६०) खण्ड (२) सरल हिन्दी अनुवाद

। एष आदेशः । एष उपदेशः एषा वेदोपनिषत् ।

(तैत्तिरीय शिक्षाध्याय अनु० ११ मंत्र४)

(यही आदेश है। यही उपदेश है।
यही वेदों का रहस्य है।)

ॐ

* तत्सद्ब्रह्मणे नमः

प्रकरण (६०) खण्ड (२) ईशावास्योपनिषत् का सरल हिन्दी अनुवाद

। पूर्णमदः पूर्णमिदम् पूर्णात्पूर्णमुदच्यते
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

अर्थ : वह ब्रह्म पूर्ण है, और यह (मेरे हृदय के अन्दर जो प्रत्यगात्मतत्त्व है, जिसको हृदयस्थ नारायण कहते हैं, वह) भी पूर्ण है। पूर्ण से ही पूर्ण निकला है। एवं पूर्ण में से पूर्ण निकलने पर जो शेष रहता है, वह भी पूर्ण है।

---

* श्री मद्भगवद्गीता अ. १७ श्लो. २३ मे बताया है, कि ॐ, तत् और सत् ऐसा त्रिविध ब्रह्म का निर्देश हुआ करता है। श्री विष्णु सहस्र नाम स्तोत्र के भाष्य में श्रीशंकराचार्य ने इन शब्दों के बड़े मनोज्ञ अर्थ बताये हैं। तत् केवल दर्शक सर्वनाम नहीं, किन्तु 'तनोति इति तत्' जो विश्व का विस्तार करता है, वह परब्रह्म परमात्मा है, (दे. श्लोक ९१ का भाष्य) इस उपलक्षण में उत्पत्ति स्थिति और लय तीनों आते हैं, यह पृथक् कहने की आवश्यकता नहीं।

परब्रह्म का 'सत्' शब्द से निर्देश छान्दोग्य उपनिषद् (६-२-१) में किया गया है। यहां शांकर भाष्य में सृष्टि के पूर्व काल मे 'सत्' ब्रह्म के बिना

ॐ

* तत्सद्ब्रह्मणे नमः

प्रकरण (६०) खण्ड (२) ईशावास्योपनिषत् का सरल हिन्दी अनुवाद

। पूर्णमद पूर्णमिदम् पूर्णात्पूर्णमुदच्यते
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूणमेवावशिष्यते ।

ॐ शान्ति शान्ति शान्ति

अर्थ : वह ब्रह्म पूर्ण है, और यह (मेरे हृदय के अन्दर जो प्रत्यगात्मतत्त्व है, जिसको हृदयस्थ नारायण कहते हैं, वह) भी पूर्ण है। पूर्ण से ही पूर्ण निकला है। एव पूर्ण में से पूर्ण निकलने पर जो शेष रहता है, वह भी पूर्ण है।

---

* श्री भगद्भगवद्गीता अ १७ श्लो २३ मे बताया है, कि ॐ, **तत्** और **सत्** ऐसा त्रिविध ब्रह्म का निर्देश हुआ करता है। श्री विष्णु सहस्र नाम स्तोत्र के भाष्य में श्रीशंकराचार्य ने इन शब्दों के बड़े मनोज्ञ अर्थ बताये हैं। **तत्** केवल दर्शक सर्वनाम नहीं, किन्तु 'तनोति इति तत्' जो विश्व का विस्तार करता है, वह परब्रह्म परमात्मा है, (दे श्लोक ९१ का भाष्य) इस उपलक्षण में उत्पत्ति स्थिति और लय तीनों आते हैं, यह पृथक् कहने की आवश्यकता नहीं।

परब्रह्म का **'सत्'** शब्द से निर्देश छान्दोग्य उपनिषद् (६-२-१) में किया गया है। यहां **शांकर** भाष्य में सृष्टि के पूर्व काल में **'सत्** ब्रह्म के बिना

ऊपर के मन्त्र में जो आपाततः गणित भाषा में, एक कूट रचना जैसा दीख पड़ता है, उसका, अनेक गणितज्ञ पण्डित संख्या परिगणना कर, हल करने की चेष्टा करते हैं, किन्तु उन्हें इसमें बड़ी हैरानी होती है। गणित शास्त्र की प्रक्रियाएँ द्रव्यों के सम्बन्ध में ही ठीक हो सकती हैं, परन्तु, निरवयव अमूर्त नित्य शुद्ध, बुद्ध, चैतन्य, अखण्ड परब्रह्म के सम्बन्ध में वे निरुपयोगी हैं। पूर्ण का अर्थ जड़ द्रव्य की भाँति भरा रहना, नहीं हो सकता। जैसे घट में जल, वैसे 'ब्रह्माण्ड भाण्ड' में ब्रह्म भर कर रक्खा है, यह अर्थ योग्य नहीं है। पिछले प्रबन्ध में पृष्ठ १०६ पर 'परमात्मा का सर्वव्यापित्व' का जो ३६ वाँ प्रकरण है, उसमें इस सम्बन्ध में विशेष विवेचन किया गया है, जिसको पाठक देख लें। एक सर्वव्यापी द्रव्य के भीतर, दूसरा सर्वव्यापी द्रव्य कैसे रह सकता है ? अर्थात् यहाँ परब्रह्म के सर्व प्रभावित्व का ही अभिप्राय है, स्थूल भौतिक दृष्टि नहीं है। यह आलंकारिक भाषा है, जिसमें तत्त्व दृष्टि का ही अर्थ रक्खा हुआ है। 'अणोरणीयान् महतो महीयान् आत्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्'

(पूर्व पृष्ठ से अनुवृत्त)

इतर कुछ था ही नहीं, ऐसा बताते हुए बहुत कुछ चर्चा की गई है, जिसमें यह स्पष्ट किया गया है, कि 'सत्' तत्त्व वैशेषिकों का 'सद्द्रव्य सत् गुण सत्कर्म ऐसा 'सत्सामानाधिकरण्य' वाला नहीं है, प्रत्युत ईक्षण करने वाला, जगत् की उत्पत्तिस्थितिलय करने वाला परब्रह्म है। (देखिए प्रथम प्रबंध प्रकरण २८ पृष्ठ ४१)

श्रीविष्णुसहस्रनाम स्तोत्र श्लोक ८८ 'सत्कर्ता सत्ता' के भाष्य में, सत्ता का अर्थ 'जगद्रक्षणलक्षणा सत्ता' ऐसा बताया है। 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ बृहत्वात् बृंहणत्वात् सम्पूर्ण स्वरूप और सब का नियमन करने वाला, ऐसा बताया है। (दे श्लो ९ और ८८ के भाष्य) 'पूर्ण' का अर्थ 'सकलैः कामैः सकलाभिः कलाभिः सम्पन्न' ऐसा इसी स्तोत्र के श्लोक ८६ के भाष्य में दर्शाया गया है। केवल भरा हुआ ऐसा जड़ द्रव्य दृष्टि का अर्थ नहीं हो सकता।

(ऋ् २-२०) यही तत्व रहा है। तिनके के भीतर ब्रह्म तत्व उतना ही प्रभावी है, जितना कि हिरण्यगर्भ के भीतर। और तृण के नष्ट होने पर भी ब्रह्म को यत्किंचित् भी क्षति नहीं पहुँचती।

। ईशावास्यमिदँ सर्वं यत्किंच जगत्या जगत्
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध कस्य स्विद्धनम् ॥१

अर्थ —इस विश्व के अन्दर जितने गतिशील, स्वयं हल्चल करने वाले, सचेतन या जीवरूप पदार्थ हैं, उनके भीतर परमात्मा का— आवास्यम् रहने का स्थान है। अतः इस जगत् के स्वामी ने जो कुछ तुम्हें दिया है, उसी पर तुम अपना जीवन बिताओ, किसी के धनधाम की अभिलाषा मत करो।

ईशोपनिषद् के अनेक मन्त्रों के विषय में, पण्डितों में गहरा मतभेद रहा है। अनेकों ने भिन्न भिन्न अर्थ किये हैं। फिर भी श्रीमदाचार्य के शुभ नाम से जो ईशभाष्य प्रसिद्ध है, उसमें तो बड़ी ही गड़बड़ी दिखाई देती है, जिसका विवेचन पिछले विभाग में किया गया है।

यह उपनिषत् शुक्ल यजुर्वेद संहिता के अन्तर्गत है, अतएव इसके यथार्थ अभिप्राय का अन्वेषण उसी वेद के ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थों के सहारे होना उचित है। क्योंकि उक्त ग्रन्थ, वेदार्थों के उपबृंहण के लिए ही बनाये गये हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में केवल अर्थ ही दिया गया हो ऐसी बात नहीं, प्रत्युत आनुषंगिक विषयों का उदाहरणों के साथ विवरण भी किया हुआ रहता है। एवं वैदिक ज्ञान का विस्तार प्राचीन ऋषियों के अनुगमों के साथ, इन ग्रन्थों में दिखलाई देता है।

शुक्ल यजुर्वेद के ब्राह्मण ग्रन्थ का नाम 'शतपथ ब्राह्मण' है। वैदिक वाङ्मय में यह ग्रन्थ विशिष्ट महत्ता रखता है. कारण कि इसमें यज्ञ विधानों

के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी और विवरण दिया गया है। और साथ ही वेदान्त के सम्बन्ध में भी विवेचन किया गया है। इसके देखने से ज्ञात होता है कि, इस उपनिषद् का पहला मन्त्र जो 'ईशावास्य' इत्यादि उसका गम्भीर अभिप्राय दर्शाने के लिये महर्षियों ने 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' इस श्लोक की योजना की है। और जान पड़ता है कि यह श्लोक पूर्वाचार्यों को इतना पसन्द आ गया कि इसको उन्होंने शान्ति पाठ के सुन्दर मन्त्रों के अन्दर संगृहीत कर दिया। इस श्लोक में वही तत्त्व है जो 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' (गी १८-६१) इत्यादि अनेक स्थलों पर बताया गया है। माध्यंदिन शाखा के अन्तर्यामी ब्राह्मण (काण्ड १४ अ ६ ब्रा ७) के अन्त के ३० वें मन्त्र में स्पष्ट किया गया है कि जीवात्मा के भीतर जिसका निवास है और, जीवात्मा को जिसका ज्ञान नहीं, यद्यपि उस पर उसीका नियंत्रण है इ इ. वही परमात्मा है। इस श्रुतिका उल्लेख पहले पृ १९१ पर आगया है 'यत्किंच जगत्यां जगत्' इस में जो गम् धातु है वह ज्ञानार्थक भी है। एव जहां जहां बुद्धितत्त्व है, वहां वहां अर्थात हर पौधे में, पतङ्ग में जीवाणु में, परमात्मा का वास्तव्य है। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि परमात्मा के अनन्त खंड या अलग अलग अंश बन कर वह जगत के सम्पूर्ण पदार्थों के भीतर जा बैठा है। उपदेश यही है, कि परमात्मा को ढूंढने के अर्थ भक्तों या जिज्ञासु लोगों को कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं। यदि हमारा चित्त विशुद्ध, बनाया जाय या हमारी ठीक योग्यता हो, तो हृदयस्थ नारायण का साक्षात् दर्शन तत्काल ही हमें हो सकता है, और यह वही पूर्ण स्वरूप परमात्मा है, जिसको ब्रह्म कहा गया है।

'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' यह श्लोक बृहदारण्यक (५-१-१) में भी आया है। यहां श्री मध्वाचार्य ने 'यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह' (कठ ४-१०) इस श्रुति के आधार पर इसी तत्त्व को समझा दिया है।

प्राणिमात्र के हृदय में परमात्मा का वास्तव्य है, यह तो हमारे तत्त्वज्ञान का मौलिक प्रमेय है। 'गुहां प्रविष्टौ आत्मानौ हि तद्दर्शनात्' (ब्र सू १-२-११) इसमें उसका सुन्दर प्रतिपादन है। भाष्य के कुछ वचन यहां

दिये जाते हैं :— 'गुहाहितत्वं तु श्रुतिस्मृतिपुराणेषु असकृत्परमात्मन एव दृश्यते, गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् (कठ १-२-१२) सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, यो वेद निहितं गुहायाम् (तै० २-९) ... सर्वगतस्यापि ब्रह्मण उपलब्ध्यर्थो देशविशेषोपदेश न विरुद्ध्यत इत्येतदपि, उक्तमेव'। 'ईशावास्यम्' इसका सीधा विग्रह ईशस्य आवस्यम् होता है, जैसा कि श्रीमध्वाचार्य ने किया हैं ; परन्तु वैदिक पद पाठ में, ईशा और आवास्यम् ऐसे दो पद हैं, इस कारण ईशा यह तृतीया लेनी पडती है, जिससे आवास्यम् का अन्वय ठीक नहीं बनता, इसलिये प्रस्तुत भाष्य में 'वास्यम्' ऐसा पद बना कर, उसका अर्थ 'आच्छादनीयम्' ऐसा लिया गया है. और आगे इसका तात्पर्य 'त्यजनीयम्' ऐसा भी बताया गया है। फिर 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' इसका अर्थ 'जगत्त्यागेन आत्मानं पालयेथा' ऐसा किया गया है। तात्पर्य यह सब अज्ञता पदपाठ के कारण हो गयी है। और इस चक्कर में केवल अद्वैतवादी पंडित ही आगये हैं ऐसा नहीं, श्रीरामानुज सम्प्रदायी और श्रीदयानन्द सरस्वती भी आ गये हैं।

श्रीमद्भागवत के स्कन्द ८ अध्याय १ में १० वां श्लोक इसी मन्त्र का अनुवाद है, और वहां इस उपनिषद् का हवाला भी दिया गया है। भेद इतना ही है कि 'ईशावास्यम्' के स्थान मे 'आत्मावास्यम्' शब्द है, शेष भाग में कोई भेद नहीं। टीकाकार श्रीधर स्वामी ने आत्मा शब्द में तृतीया ही ली है, और तृतीया समास ही उन्होंने माना है, तथापि, तात्पर्य बड़ी सुन्दरता से बताया है, जैसे :— आत्मना ईश्वरेण आवास्यम् सत्ताचैतन्याभ्यां संव्याप्तम् विश्वं सर्वं जगत्यां लोके यत्किंचित् जगत् भूतजातम् अतस्तेनैव ईश्वरेण यत्किंचिदियत्तं दत्तं धन तेनैव भुञ्जीथाः भोगान् भुंक्ष्व, यद्वा तेन हेतुना त्यक्तेन ईश्वरार्पणेन, भुञ्जीथा, न स्वार्थम्'।

तत्त्व विज्ञान का कितना मौलिक उपदेश इस पहले मन्त्र में भरा हुआ है ! इस में आस्तिकता का उपदेश है, निष्काम कर्म द्वारा परमात्मा की सेवा का विधान है, और प्राणिमात्र के हित और स्वातन्त्र्य रक्षण की भी शिक्षा है। स्वर्गीय

प्रेसिडेण्ट रूजवेल्ट के चारों स्वातन्त्र्य तत्त्व इसके एक कोने में आ गये हैं। अखिल जगत् परमात्मा का गृह है, यहां के सब जीव उसके घर के जन हैं, हम उनके सेवक हैं, और सब की यथा योग्य सेवा करना यह हमारा कर्तव्य है कोई किसान अपने स्वामी के लिये जैसे रात दिन बड़ी मेहनत करता है, मनों अन्न पैदा करता है, मालिक के घर पहुंचाता है इतना ही नहीं, खेती में से शाक, भाजी, तृण, घास, लकड़ी, फल आदि ला कर मालिक की और मालिक के सम्बन्धियों, जानवरों की सेवा तथा रक्षा करता है और मालिक, जो कुछ वेतन दे उतना ही अपना समझता है। ठीक इसी प्रकार हमें भी रात दिन परिश्रम और चिन्तनशीलता से इस विश्व के ईश की सेवा करना आवश्यक है। और धन धान्य आदि की पैदावार को परिश्रम से बढा कर वह सब उसी की प्रजा के अर्थ है, ऐसा निश्चय रखना चाहिये और अपने लिये उतना ही लेना चाहिये जितना कि योग्य हो।

। यावद् भ्रियेत जठरं तावत्स्वत्त्वं हि देहिनाम्
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ।
(भागवत ७-१४-८)

यह केवल उपदेश नहीं 'यद् ददासि विऽशिष्टेभ्यो यच्चाश्नासि दिने दिने, तत्ते वित्तमहमन्ये शेषं कस्यापि रक्षसि' इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभव की बात है। परमात्मा के स्वामित्व की यहां प्रतीति हो सकती है।

ऐसी आस्तिकता तथा निष्ठा के बल पर, भारत वर्ष में प्राचीन काल में अनेक छोटे बड़े राज्यों के शासन चलाए जाते थे, और आज भी चलाए जा रहे हैं जिसके प्रमुख उदाहरण त्रावणकोर, कोचीन और नेपाल हैं। राज्य ईश्वर का, और राजा सेवक मात्र। महाराष्ट्र के अनेक संस्थानों में भी यही भावना रही है। इसमें सन्देह नहीं कि इस दृष्टि से सभी कार्यवाही नहीं होती। स्वार्थ लिप्सा तो मनुष्यमात्र में सदा से ही बनी रही है। पर ऐसे महनीय उद्देश्यों को सम्मुख रखते हुए, शासन के विधि विधान बना लेने की प्रथा और

तदनुसार अधिकार यन्त्र को चलाने का प्रयत्न, ये प्राचीन आर्य संस्कृति के निदर्शक हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता में जिस कर्म योग की महनीयता बताई गई है, वह यही ईश्वर सेवा का राजपथ है। अखिल जनता, प्रत्युत् प्राणिमात्र सुखी रहे और मानवता में अध्यात्म विज्ञान की अभिवृद्धि हो, इस दृष्टि के आचरण से ही परमात्मा प्रसन्न हो सकते हैं। स्मरण रहे कि **दैवी सम्पत्ति** की दृष्टि से, जैसी अपनी सच्छीलता आवश्यक है, उसी प्रकार अपने अधिकार क्षेत्र में दूसरों से भी सदाचार का परिपालन और दुराचारों का कड़ा प्रतिबन्ध रहना अत्यावश्यक है। इस प्रकार का वर्तन, बन्धक कभी नहीं होता और साधक को इसके अतिरिक्त कुछ चाहिए भी नहीं, यह अभिप्राय अगले मन्त्र में स्पष्ट किया गया है।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे। २

अर्थ —जीव मात्र में परमेश्वर का वास है, इस निष्ठा से हर कोई पुरुष कर्मों का यथा योग्य आचरण करते हुए ही सौ वर्ष तक जीवित रहने की आकांक्षा रक्खे। उसे दूसरी किसी धुन की आवश्यकता ही नहीं है। क्योंकि इस निष्ठा के कर्म मनुष्य को बन्धक नहीं होते।

उपर्युक्त दो मन्त्रों में मानव समाज की समुन्नति का कितना ऊँचा आदर्श रक्खा हुआ है? यदि हम, तदनुसार आचरण रक्खें तो कॉम्युनिज्म फॉशिज्म और मार्क्सवाद इत्यादि चरम पन्थियों के आन्दोलन क्यों कर जड़ पकड़ेंगे? गत इतिहास साक्षी है, कि आर्यावर्त ने एक समय ऐसे सुवर्ण युग का अनुभव किया था। इसका उल्लेख पहले प्रकरण (३९) पृष्ठ १२८ पर किया गया है।

बात यह है, कोई भी सिद्धान्त निकाला जाय, उसके उदात्त ध्येयों के अनुसार मानव नहीं चल सकता, कामक्रोधादि उन्मादों के भँवर में आ ही जाता

है, और फिर अपनी बुद्धि, चातुरी से, स्वार्थ का कुछ न कुछ मार्ग निकाल लेता है। इस प्रकार विषयासक्ति की चरितार्थता के साधन और दुर्व्यवहार बढ़ते बढ़ते, समाज मे अनेक अनर्थकारी कार्य होने लगते हैं। धर्म की ओट मे अनेक दुष्कृतियां की जाती हैं, विप्लव होते हैं। इसके अनन्तर जनमण्डल असतोष से भर उठता है, और वह सिद्धान्त टूट जाता है। प्राय सभी पन्थों का यह इतिहास रहा है। तमाखू अस्पृश्य है, यहां तक कि उसके खेत में से भी गुजरना पातक है, ऐसा कड़ा निर्बंध सिक्ख सम्प्रदाय में आज भी है, किन्तु मद्य का प्रचार उस सम्प्रदाय में अव्याहत सा ही हो गया है। यह छोटा-सा उदाहरण है, कहने का तात्पर्य यह है, कि पन्थ के ध्येय इतने उच्च कोटि के और विशुद्ध हों कि मानव को उनसे अपनी स्वार्थ सिद्धि करना कठिन ही नहीं असाध्य हो जाय। अगर ध्येय ही परिच्छिन्न या सदोष हो, तो मानव को अनाचारों के मार्ग निकालना कठिन नहीं होता। ईशावास्य के पहले दो मन्त्रों का ध्येय कितना विशुद्ध और उच्चतम् कोटि का है? कहां 'सर्वभूतहितेरतत्व' और कहां आजकल का साम्यवाद? कहा 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' का आदर्श, और कहां पूञ्जीवाद के विरुद्ध नौकर शाही के झगड़े? कहा 'सर्वेऽपि सुखिनस्संतु' एव 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का ध्येय? और कहां नेशनल सोशलिज्म और पॉलिटिक्स? जिन उद्देश्यों में परमात्मा का नाम ही नहीं, उनकी क्या मौलिकता हो सकती है? बहुत दिनों से हम नासमझी और व्यवहार-शून्यता से ऐसे उत्कृष्ट सनातन सिद्धान्त को खो बैठे हैं। अब ईश्वर की कृपा से स्वाधीनता मिल गई है। उसकी और आर्य संस्कृति की रक्षा के लिए, हमारे सब प्रयत्न एव विचार उच्च श्रेणी के होने चाहिएँ। विषय बड़ा मार्मिक है, अत एव स्पष्टीकरण के लिए कुछ विषयान्तर मे जाना पड़ा, पाठक क्षमा करें।

> । असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृता
> ता स्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जना ॥ ३

अर्थ:—आत्मोन्नति का निश्चित मार्ग पिछले दो मन्त्रों मे दिखाया गया है। इसके विरुद्ध आचरण करने वाले आत्मघाती हैं। ऐसे लोग घोर अज्ञान से भरे हुए असुर्या नामक देश में जन्म पाते हैं।

। अनेजदेक मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षद् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ।।४

अर्थ —परमात्म तत्व निष्कम्प होत हुए मन से भी अधिक वेगशाली है। उसका पार देवताओं को भी नहीं लगा, क्योंकि कितना भी दूर आप चले जाएँ वह वहां पर मानों पहले ही पहुँचा हुआ पाया जाता है। दौड़ने वालों में वह दूसरों से आगे ही रहता है तथापि वह स्थिर ही है। इसी तत्व के प्रभाव से, अखिल क्रिया समर्थ मातरिश्वा वायु अपने सब कार्य चलाता है।

। तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यत ।५

वह गतिमान् है, और गतिमान नहीं भी है। वह दूर है, और निकट भी है, वह सब पदार्थों के भीतर है, और बाहर भी है।

यह एक विरोधाभास अलङ्कार का सुन्दर उदाहरण है। इस अलङ्कार का उपयोग गहन विषय के समझा देने के लिए विद्वान् साहित्यिक किया करते हैं। श्रुति ने यहाँ स्वय ही उसका प्रयोग किया है। अर्थात यहां विरोध बताने का अभिप्राय नहीं है। किन्तु समन्वय दिखाना है, जो लक्षणावृत्ति के अगीकार से ही होता है, यह विज्ञ पाठकों को विदित है। प्रथम प्रबन्ध का ४० वा प्रकरण 'वेदान्त शास्त्र और परिभाषा' इसमें इसका विशेष विवरण किया गया है। यहांपर श्रुति का आशय यही है कि, आत्मतत्व की अद्भुतता बखानने के लिए कोई व्यावहारिक दृष्टान्त पर्याप्त नहीं होता।

। यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति
सर्वभूतेषु चात्मान ततो न विजुगुप्सते ।६

अर्थ —जो अखिल चराचर प्रपंच को, परमात्मा की सत्ता में देखता है, अपि च सर्व भूतों के अन्दर भी उसी की सत्ता को प्रमाणित करता है, उसको किसी से भी घृणा नहीं होती।

। यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानत
तत्र को मोह क शोक एकत्वमनुपश्यत । ७ ·

अर्थ —जिस ज्ञानी पुरुष को, अखिल चराचर प्रपंच परमात्म स्वरूप हो गया। जैसा कि 'आत्माम्बोधेस्तरग ' समुद्र के हिलोर लहरें तरग इत्यादि जैसे उसे छोड़ कर स्वतन्त्रता से नहीं हो सकते, उसी प्रकार आत्मतत्त्व को छोड़ कर सृष्टि और सृष्टि कार्यों के अस्तित्व भातित्व क्रियाकारित्व आदि हो नहीं सकते । ऐसी एकात्मता की निश्चिति जिस पुरुष को हो गयी, उसको मोह और शोक कैसे हो सकते हैं ?

। स पर्यगात् शुक्रमकायमव्रणम् अस्नाविर ँ शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभू स्वयभूर्याथातथ्यतो ऽर्थान्
व्यदधात् शाश्वतीभ्य· समाभ्य । ८

अर्थ —वह ज्योति स्वरूप, अशरीरी, अक्षर, निरवयव, सुनिर्मल, निर्लिप्त, प्रज्ञान घन, प्रभावशाली और क्रान्तदर्शी, आत्मचैतन्य, दिग्मण्डल को परिव्याप्त किये हुए है, और (रहस्य की बात यह है कि) उसी ने अपनी असीम महिमा से, इन अगणित वस्तुओं को, भिन्न भिन्न अर्थों में, यथातथ्यता से इस अजस्र काल के प्रारम्भ से ही, सञ्जीवित प्रकाशित तथा प्रेरित कर दिया है ।

। अन्धतम प्रविशन्ति ये ऽ विद्यामुपासते
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया ँ रता । ९

अर्थ —जो लोग अविद्या या अज्ञान में रहना पसन्द करते हैं, अर्थात् अपने आकुंचित स्वार्थ व्यवहारों में लगे रहते हैं, वे अन्धतम की दुर्गति को प्राप्त होते हैं । और जो लोग ऐहिक अथवा स्वर्गादि भोगों की अभिलाषा से कर्मकाण्डगत् विद्या एव उपासना के चक्र में व्यस्त रहते हैं, वे तो अधिक ही दुर्गति को प्राप्त कर लेते हैं ।

। अन्यदेवाहुर्विद्यया अन्यदाहुरविद्यया
इति शुश्रुम धीराणां ये न स्तद्विचचक्षिरे । १०

अर्थ :—विद्या का सद्या अर्थ कुछ और है, और अविद्या का भी कुछ और है, ऐसा हमने अपने प्रवीण दृष्टि गुरुजनों से सुना है, प्रत्युत यह बात उन्होंने हमको भली भांति समझा दी है।

। विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभय ँ सह
अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते । ११

अर्थ :—विद्या और अविद्या इनको जो यथार्थता से समझ लेता है, और तदनुसार अपनी उपासना और आराधना चलाता है, वही अविद्या से अर्थात् श्रौत स्मार्त कर्मों के अनुष्ठान ईश्वरार्पण बुद्धि से करने के कारण, इस एषणा रूप मृत्युलोक पर विजय पा लेता है, और विद्या से अर्थात् ब्रह्मविद्या से अमृतत्व का लाभ कर लेता है।

। अन्धंतम प्रविशन्ति ये ऽ सम्भूतिमुपासते
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्या ँ रता । १२

अर्थ :—जो लोग असम्भूति की उपासना करते हैं, अर्थात् जगत् की उत्पत्ति हुई नहीं, वह स्वयम्भू है, और उसका कोई निर्माण कर्ता नहीं है, ऐसा मानते हैं, और इस भ्रांति से अ-सम्भूति याने अन् ऐश्वर्य, अर्थात् भाँति भाँति के व्यावहारिक सुखों की छटपटाहट में लिपटे रहते हैं, वे अन्धतम नामक दुर्गति को प्राप्त होते हैं। और जो लोग सम्भूति, याने कर्मकाण्ड गत विधियों के अनुसार देवतात्मभाव एवं ऐश्वर्य प्राप्त करा लेने के पीछे पड़े हैं, अर्थात् जिसमें शास्त्र द्वारा क्यों न हो, ऐहिक और पारलौकिक सुख भोगों की ही लालसा होती है, ऐसे लोग और भी घोर दुर्गति को प्राप्त होते हैं।

। अन्यदेवाहु सम्भवाद-यदाहुरसम्भवात्
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे । १३

अर्थ —सम्भूति का सच्चा अर्थ कुछ और है, और असम्भूति का भी कुछ और है, ऐसा हमने अपने प्रज्ञादृष्टि गुरुजनों से सुना है, और यह बात उन्होंने हमको अच्छी तरह समझा दी है।

। सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदो भय ँ सह
विनाशेन मृत्यु तीर्त्वा सम्भूत्या ऽ मृतमश्नुते । १४

अर्थ —सम्भूति और विनाश (असम्भूति) इन दोनों को जो यथार्थता से समझ लेता है, और तदनुसार उनकी उपासना और आराधना करता है, वह विनाश, अर्थात् विनाश फल स्वभाव श्रौतस्मार्त कर्म उनका इश्वरार्पण बुद्धि से अनुष्टान करके इस एषणा रूप मृत्युलोक पर विजय प्राप्त कर लेता है, और सम्भूति-अर्थात् निरतिशय कल्याण देने वाली ब्रह्मविद्या के बल पर अमृतत्व अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

मन्त्र ९ से १४ का सच्चा अभिप्राय समझना, अनेक मतामतों के और सम्प्रदायों के प्रादुर्भाव से दुर्घट होगया है। इस कारण, इन में जो चार प्रधान शब्द आए हैं, उनका स्पष्ट भेद समझने के लिये नीचे तालिका दी जाती है —

महत्व के शब्द	उनके लौकिक असमीचीन अर्थ	उनके विशेष अथवा दार्शनिक अर्थ	विशेष
अविद्या	स्वभाविक अज्ञान और स्वार्थ मूलक व्यवहार	सृष्टि को उत्पन्न करने वाली परमात्मा की शक्ति और तत्सृष्ट श्रौत स्मार्त कर्म विधान तथा निष्काम कर्म	
विद्या	शास्त्रीयज्ञान और तदनुसार सकामकर्मानुष्ठान	ब्रह्मज्ञान अथवा सम्यग्बोध	
अ-सम्भूति	जगत् का जन्म नहीं है, वह स्वयम्भू है, उसका कोइ निर्माणकर्त्ता नहीं है, यह मत और अ-सम्भूति अर्थात् अन् ऐश्वर्य याने नश्वर वस्तुओं के या श्रौत स्मार्त काम्यकर्मों में ही व्यस्त रहना	श्रौत स्मार्त काम्यकर्मानुष्ठान विनाशी फलरूप होने से सच्चे सम्भूति के अर्थात् मोक्ष के लिए उपयोगी नहीं है, परन्तु इश्वरार्पण बुद्धि से किये जाने से, चित्त शुद्धि के लिए बड़ा उपकारक है, यह ज्ञान, जिससे मृत्यु लोक पर विजय होती है	
सम्भूति	(१) सम्पदुपासना अथवा श्रौत स्मार्त कर्मानुष्ठानों द्वारा देवतात्मभाव या ऐश्वर्य की प्राप्ति [इसमें विषय भोगों की लिप्सा रहती ही है] (२) 'असत्कार्य वाद' के पक्षानुसार जगत् की उत्पत्ति को मानना	निरतिशय कल्याण का लाभ करा देने वाली ब्रह्मविद्या एव सम्यग्बोध। कहना न होगा कि इसमें **अद्वैतविज्ञान** के 'सत्कार्यवाद' तथा ब्रह्म-कारणता आदि अनेक मौलिक सिद्धान्तों का समावेश होता है	

इस विषय में विशेष प्रतिपादन, प्रथम खण्ड, 'विषय समीक्षा' में किया गया है।

। हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहित मुखम्
तत्व पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।१५

अर्थ —हे जगत्पोषक आदित्य देव, आपकी सुनहली रश्मिजाल के आवरण से, सत्य ब्रह्म का स्वरूप मानों छा गया है। मैं सत्य ब्रह्म का उपासक हूँ, मुझे सम्यग्दर्शन होने के लिए कृपा करके इस रश्मिजाल रूप आवरण को उठा लीजिए।

। पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमम् तत्ते पश्यामि
योऽसावसौ पुरुषस्सोहमस्मि ।१६

अर्थ —हे सृष्टिपोषक, गतिशील, जगन्नियामक, प्रजापति के सुपुत्र, आदित्य देव, आप अपनी किरणों को इकट्ठा करके समेट लीजिए। इस हेतु, कि आपका जो तेजस्वी और नि श्रेयस देने वाला आन्तरिक स्वरूप है, उसे मैं देख लूँ। यह वही (उत्तम) पुरुष है, जो मेरे अहं प्रत्यय का अधिष्ठान बना हुआ प्रत्यगात्म तत्त्व है।

। वायुरनिलममृतमथेदम् भस्मान्त शरीरम्
ॐ क्रतो स्मर कृत स्मर क्रतो स्मर कृत स्मर ।१७

अर्थ :—हे अधियज्ञरूप परमात्मन्, यह जो वायु और प्राणरूप तत्त्व इस शरीर के भीतर है, वह अमर है, ओर यह जड़ शरीर तो अन्त में भस्म ही होने वाला है। अत हे यज्ञपुरुष, मेरे कर्मों का ही आप स्मरण रखिए, उन पर ही आप (कृपया) ध्यान दीजिए।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्

युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः
भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम ।१८

अर्थ:—हे अग्ने, आप अखिल कर्म और ज्ञान के व्यवहारों के ज्ञाता हैं, हमको शुभमार्ग से ले चलिये । कुटिल मार्गों की ओर हमको प्रवृत करने वाला जो हमारा पाप है, उससे हमें जुदा कर दीजिए; हम आपको बहुत बहुत प्रणाम करते हैं।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

प्रकरण (६१) परिशिष्ट (अ)
श्रुति वाक्यों के अभिप्राय

वेद	महा वाक्य	अवा-तर वाक्य	वाक्य का यथार्थ अभिप्राय	वाक्यका रूढ़ असमीचीन अर्थ
ऋग्वेद	प्रज्ञान ब्रह्म (ऐ उ ५-३)		आचार्य का भाष्य — 'सर्वं तत् अदोषत प्रज्ञानेनम् प्रज्ञप्ति प्रज्ञा, तच्च ब्रह्मैव प्रज्ञाने ब्रह्मणि उत्पत्ति स्थिति लय कालेषु प्रतिष्ठित प्रज्ञाश्रयमित्यर्थं तस्मात् प्रज्ञान ब्रह्म' इस विराट विश्व की उत्पत्ति स्थिति और लय प्रज्ञा स्वरूप ब्रह्म के आधीन है यह अभिप्राय है।	प्रज्ञा स्वरूप ब्रह्म की अद्भुत प्रभाविता और सृष्टि स्थिति लय कारित्व को कतिपय अर्वाचीन पण्डितों ने उड़ा दिया है। ब्रह्म केवल ज्ञप्ति स्वरूप है ऐसा कहा जाता है पर ज्ञप्ति का अर्थ ज्ञान रहितत्व ऐसा विचित्र किया जाता है। बौद्ध सम्प्रदाय के प्रसार का ही यह प्रभाव है।
यजुर्वेद (कृष्ण)		सत्यज्ञानमनन्त ब्रह्म (तै उ. २-१ २)	'सत्य ज्ञानमनतम्' ये केवल व्यावर्तक ही विशेषण नहीं, प्रत्युत् स्वरूप भूत विशेषण हैं। इसका विस्तृत विवरण प्रकरण में २८ पृष्ठ ४१ पर किया गया है।	इसके विरुद्ध ब्रह्म को क्रियासामर्थ्य है ही नहीं, प्रत्युत उसे किसी भी पदार्थ का ज्ञान है नहीं, और इसी कारण वह अविकृत और असग है, एसा विचित्र अर्थ

			ब्रह्म के सर्वज्ञत्व के सम्बन्ध में तैत्तिरीय भाष्य में श्रीमदाचार्य ने बड़ा ही पुर जोर प्रतिपादन किया है वह बड़ा ही द्रष्ट है।	किया जाता है। जिस को कुछ खबर ही नहीं वह अविकृत है ऐसा कहने में कोई स्वारस्य ही नहीं है। (देखिये प्रकरण २८)
यजुर्वेद शुक्ल)		अहं ब्रह्मास्मि (बृ १-४-१०)	आचार्यभाष्य — 'तस्मायत् प्रविष्ट स्रष्टृ ब्रह्म तद्ब्रह्म' 'अह दृष्टे द्रष्टा आत्मा ब्रह्मास्मि भवामीति' तात्पर्य दृश्य जो अहकार वह ब्रह्म नहीं, प्रत्यगात्मा ब्रह्म है यह अभिप्राय है।	इसके विरुद्ध जो मैं संसार में लिपट गया हूँ वही ब्रह्म है ऐसी भ्रांत धारणा सिद्धान्त रूप से बतायी जाती है।
यजुर्वेद । शुक्ल)		इद सर्वं यदयमात्मा बृ (२-४-६)	आचार्यभाष्य — परमात्मा हि सर्वेषामात्मा .. यस्मादात्मनो जायते आत्मन्येव लीयते आत्ममयच स्थिति-काले-आत्मव्यतिरेकेण अग्रहणात् आत्मा एव सर्वम् यहां प्रत्यगात्मा ही ब्रह्म है उसीका सृष्टिस्थित्यंत कारी प्रभावी सामर्थ्य	प्राचीन दर्शनकार मीमांसक, सांख्य, जैन, बौद्ध, वैशेषिक, और नैयायिक, इन में से किसी को भी सृष्टि का कोई कर्ता नियता सहर्ता है, यह मत मान्य नहीं है। चार्वाक तो कट्टर ही नास्तिक हैं। द्वैत सम्प्रदाय वाले भी परमात्माको जगत् का रचयिता मानते हैं, किन्तु जगत् की मूल

प्रकरण (६१) परिशिष्ट (ख)

श्रुति वाक्यों के अभिप्राय

वेद	महावाक्य	अवान्तर वाक्य	वाक्य का यथार्थ अभिप्राय	वाक्यका एक असमीचीन अर्थ
			है ऐसा बताया गया है, इस विषय का बृहदारण्यक (२-५-१) मधु ब्राह्मण प्रस्ताव भाष्य, बड़ा ही मनोज्ञ है।	प्रकृति का उत्पन्न कर्ता नहीं मानते। अद्वैत सम्प्रदाय मात्र ब्रह्म के इस निरंकुश सामर्थ्य को मानता है। पर इस बात को बिना ध्यान में लिये मध्य कालीन और अर्वाचीन पंडित जगत् के विषय में कुछ अन्यान्य ही उपपत्तियों के चकराने में पड़े हैं।
यजुर्वेद (शुक्ल)		य एष हृदंतर्ज्योतिः पुरुष (बृ. ४-३ ७)	यह वाक्य पण्डित पीतांबर मिश्रजी ने अपने श्रुतिरत्नावली ग्रन्थ के अंक ४१ के नीचे दिया है। जान पड़ता है, कि यह बृहदारण्यक (४-३-७) में से ही उद्धृत किया गया है। वहां की पंक्तियां ऐसी	संसारी जीव और प्रत्यगात्मा एक ही हैं, ऐसा मीमांसकों का मत था। परन्तु कितनेक वेदान्ती पण्डित भी यही समझते हैं, और कारण यह बताते हैं, कि संसारी जीव प्रत्यगात्मा के व्यतिरिक्त

	हैं –'कतम आत्मेति योऽय विज्ञानमय प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योति पुरुष' इसका अभिप्राय प्रत्यगात्मा ब्रह्म है, ऐसा है, न कि ससारी जीव।	रह नहीं सकता। पर यह मत तर्क सिद्ध नहीं है। प्रथम तो यह श्रुति विरोधी है। द्वा सु पर्णा (मु ३-१-१ और श्वे. ४-६) यह श्रुति, उनकी विभिन्नता बता रही है। द्वितीय, इसमें एक हेत्वाभास है। दृष्टान्त यह है, कि मानव हवा के बिना क्षण भर भी नहीं रह सकता, पर वह हवा नहीं है। ठीक इसी प्रकार जीवात्मा प्रत्यगात्मा के व्यतिरिक्त नहीं रह सकता परन्तु इससे वह प्रत्यगात्मा है, यह सिद्ध नहीं होता। फिर इसके लिये बृहदारण्यक अन्तर्यामी ब्राह्मण, माध्यादिन पाठ (कां १४ अ ६ ब्रा ७ म ३०) का भी आधार है। यहा 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोन्तरो यमात्मा न वेद यस्य आत्मा शरीरम्' ऐसा वर्णन है, जिससे जीवात्मा और प्रत्यगात्मा अलग हैं, यही सिद्ध होता है।

प्रकरण (६१) परिशिष्ट (अ)
श्रुति वाक्यों के अभिप्राय

वेद	महा वाक्य	अवान्तर वाक्य	वाक्य का यथार्थ अभिप्राय	वाक्य का रूढ असमीचीन अर्थ
यजुर्वेद (शुक्ल)		'आत्मानं चेद्विजानीयाद-यमस्मीति पूरुष किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसज्वरेत्' (बृ ४ ४ १२)	आचार्यभाष्य — 'सर्वप्राणिमनीषितज्ञ हृस्थमशनायादि धर्मातीतम् .. .सर्व प्राणि प्रत्यय साक्षी यो नेति नेत्युक्तो नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव ' इसका अर्थ प्रत्यगात्मा ब्रह्म है, यह ही है।	ससारी जीव और प्रत्यगात्मा एक ही हैं, ऐसी बहुत लोगों की धारणा है, परन्तु यह समीचीन नहीं जैसा कि ऊपर बताया गया है।
यजुर्वेद (शुक्ल)		'नेह नानाऽस्ति किंचन' मनसैवेद मासव्य नेह नानास्ति किंचन(कठ २–४–११)	आचार्यभाष्य — दर्शन विषये ब्रह्मणि नेह नानाऽस्ति किंचन। किंचिदपि अविद्याध्यारोपण व्यतिरेकेण नास्ति परमार्थतो द्वैतम्। अविद्या नामक पारमेश्वरी शक्ति का ही यह सब प्रपञ्च विकाश है। सत्कार्य वाद	इसके विरुद्ध, एक ब्रह्म ही ब्रह्म है, दूसरा कुछ है ही नहीं, इस भ्रम के जाल में बहुत वेदान्ती पण्डित आ गये हैं। (देखिए 'सर्वं खल्विद ब्रह्म' का यथार्थ बोध प्रकरण ५२ पृष्ठ २०६)

		मनसैवानु द्रष्टव्यं नेह नानाऽस्ति किंचन (बृ. ४-४-१९)	(द पृ. १४७) के सिद्धान्त से कारण-ब्रह्म में तो भेद का नाम नहीं है। पर उसमें और तत्सृष्ट प्रपञ्च में भेद नहीं, अनन्यत्व है, अर्थात् यहां एक भी वस्तु परमात्मा से पृथग् नहीं रह सकती, और चैतन्य में नानात्व है नहीं, ऐसा अभिप्राय है। नानात्व, जो यहां दिखाई देता है, वह मिथ्या, अनिर्वचनीय है, व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं। (देखिए श्रुतिरत्नावली अंक १८०)	
—	—	स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः तस्मिञ्छेते। सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः	इस श्रुतिवाक्य का तात्पर्य तो स्पष्ट ही है। अपने भाष्य में श्रीमदाचार्य ने ब्रह्म के प्रभावी सामर्थ्य का सुन्दर वर्णन किया है, और बताया है कि जो कुछ गूढ ज्ञातव्य है वह यही है।	परब्रह्म और प्रभावी सामर्थ्य, ये तमः प्रकाश के न्याईं विरोधी बातें हैं, ऐसा बहुत लोग समझ बैठे हैं, इसका क्या इलाज?

प्रकरण (६१) परिशिष्ट (अ)

श्रुति वाक्यों के अभिप्राय

वेद	महा वाक्य	अवान्तर वाक्य	वाक्य का यथार्थ अभिप्राय	वाक्य का रूढ असमीचीन अर्थ
		(बृ ४-४-२२)		
यजुर्वेद (शुक्ल)	—	स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यते (बृ उ ३-९-२६ और ४-४-२२) अथात आदेशो 'नेति नेति' बृ. उ. २-३-६	ऊपर निर्दिष्ट श्रुतिवाक्य के अन्त में ब्रह्मको 'नेति नेति' कर के कहा गया है। इसका आशय ऊपर 'नेह नानास्ति किंचन' में स्पष्ट बताया गया है। इसका तात्पर्य, ब्रह्म अनंत अमर्याद है वह इंद्रिय गम्य वा स्थूल बुद्धिगम्य नहीं, अर्थात् सूक्ष्म बुद्धि से ही उसकी पहचान हो सकती है। इस सम्बन्ध में सुस्पष्ट प्रतिपादन आचार्य ने ब्र सू. ३-२-२२ 'प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः'	'नेति नेति' इसका एक विचित्र अन्तराल में लटकने वाला अर्थ, बहुत लोग समझते हैं। बौद्ध सम्प्रदाय में एक 'महायान' नामी अतिम पथ प्रवृत्त हो गया था, उसका एक बड़ी महत्ता वाला ग्रन्थ 'प्रज्ञापारमिता' (अर्थात् बुद्धि राज्य की पराकाष्ठा) नामका प्रसिद्ध हो गया था, इसमें एक अजब 'नन्ना' के पहाड़े का तत्वज्ञान दर्शाया गया है। कोई कुछ भी पूछे उसका उत्तर 'नहीं' इस शब्द से देना यह ठहरी

–	–	इस के भाष्य में किया है। इसमें प्रपंच का निषेध करके प्रत्यगात्मा ब्रह्म है ऐसा बताया है। तथा ब्रह्म सू ३–२–२३ 'तदव्यक्तमाह हि' इसके भाष्य में 'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा' स एष नेति नेतीत्यात्मा ऽगृह्यो न हि गृह्यते' याने, ब्रह्म इन्द्रिय गम्य नहीं यही बताया है।	हुई बात थी। जगत् है क्या? तो, नहीं। जगत् नहीं क्या? तब भी नहीं! अस्तित्व या नास्तित्व दोनों को, नहीं उत्तर देना यह निश्चित था। इस ग्रन्थ का वर्णन महाराष्ट्र भाषा के 'ज्ञान कोश' नामक ग्रन्थ में द्रष्टव्य है। दार्शनिक विचारों में ऐसे अण्ट के सण्ट मत कैसे निर्माण होते हैं और दीर्घ काल तक कैसे प्रवृत्त रहते हैं यह महान् आश्चर्य है। प्राय इसी बौद्ध मत का प्रभाव हमारे पंडितों पर होकर 'नेति नेति' का अर्थ उन्होंने एक कपोलकल्पित अतराळ-वर्ती शशशृंग के समान कर दिया है, ऐसा जान पड़ता है।

प्रकरण (६१) परिशिष्ट (अ)

श्रुति वाक्यों के अभिप्राय

वेद	महा वाक्य	अवान्तर वाक्य	वाक्य का यथार्थ अभिप्राय	वाक्य का रूढ़ असमीचीन अर्थ
सामवेद	तत्त्वमसि (छा ६ २–१ से ६–८–७)		इसका विशेष विवेचन प्रकरण(५२) में किया गया है। इस सम्पूर्ण अध्याय में ब्रह्मकारणता सिद्धान्त का सुचारु रूप से निरूपण किया गया है जो द्रष्टव्य है। 'तत्वमसि' महावाक्य का अर्थ श्वेतकेतु प्रत्यक्ष ब्रह्म नहीं, किन्तु उसमें जो प्रत्यक्तत्त्व, वह ब्रह्म है ऐसा है। ससारी जीव अर्थात् बुद्धिस्थ अहकार ब्रह्म नहीं, अत भागत्याग लक्षणा की प्रक्रिया यहाँ उपपन्न नहीं होती। हाँ प्रत्यगात्मा के सम्बन्ध में वह उपपन्न हो सकती है।	

सामवेद		एकमेवाद्वि-तीय ब्रह्म (छां ६-२-१)	परब्रह्म अखण्ड निरवयव है संघात रूप या विभाज्य नहीं है और उसके समान दूसरी कोई वस्तु है नहीं, यह यहाँ तात्पर्य है। इस श्रुति वचन के भाष्य में भगवान् शंकर ने यही बताया है, कि सृष्टि के पूर्व काल में यह सब दृश्यमान जगत् एक ही सत् ब्रह्म रूप था और आज भी वह वैसा ही है परन्तु आज नाम रूपों की व्याकृतावस्था में है। और परब्रह्म से ही सृष्टि के उत्पत्ति स्थिति लय होते हैं इत्यादि। भगवान् सनत्कुमारों ने नारद जी को जो ब्रह्म के सम्बन्ध में उपदेश किया है, उसमें उपासना के अर्थ १५ दृश्य नाम-रूपात्मक वस्तुएँ ब्रह्म की निदर्शक बताईं, और अन्त में 'यत्र नान्य-त्पश्यति नान्यद्विजानाति स भूमा' ऐसा उपदेश दिया। तात्पर्य यह कि ब्रह्म, कोई	ब्रह्म को अखण्ड निरंश तो मानते हैं परन्तु उसे कुछ अत्यन्त सूक्ष्म द्रव्य सा समझ कर उसके अन्दर कोई दूसरी वस्तु नहीं रह सकती ऐसी विचित्र कल्पना की जाती है। और सृष्टि की उत्पत्ति इत्यादि उससे नहीं होते यह मानते हैं। इसका खण्डन इस पुस्तक में अनेकों स्थलों पर किया गया है।

प्रकरण (६१) परिशिष्ट (अ)

श्रुति वाक्यों के अभिप्राय

वेद	महा वाक्य	अवान्तर वाक्य	वाक्य का यथार्थ अभिप्राय	वाक्य का रूढ़ असमीचीन अर्थ
			इंद्रिय गम्य वा स्थूल बुद्धि गम्य वस्तु नहीं है। 'नेति नेति' का भी यही अर्थ है।	
सामवेद		यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्म र्त्यम् (छां. ७-२४-१)	इस सम्बन्ध में विशेष विवेचन 'आत्म-दर्शन' प्रकरण (३७) पृ. १०८ पर किया गया है, जो द्रष्टव्य है। भूमा अपरिच्छिन्न है, अदृश्य है, अमृत है, इसके अतिरिक्त जो कुछ है वह अल्प है और विनाशी है।	ऐसे सुन्दर अर्थ को छोड़ कर, ब्रह्म में न कोई देखने वाला है न सुनने वाला है, सब शून्य ही शून्य है, ऐसा विचित्र अर्थ किया जाता है। 'आत्मान्योधे स्तरंग.' इसके न्याई यहां किसी भी पदार्थ को स्वतन्त्र अस्तित्व है नहीं, यह यहां रहस्य है। अल्प और विनाशी वस्तु यहां हैं, किन्तु उनको

				स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं यह मर्म है । इसी को अद्वैत कहते हैं । द्वैत का अभाव नहीं, किन्तु उसका अपरमार्थत्व है यह अभिप्राय है
साम वेद		अथ य आत्मा स सेतुर्वि-धृति एषां लोकानां अ सम्भेदाय (छां ८-४-१)	आचार्यभाष्य —'अनेन हि सर्वं जगद्वर्णा-श्रमादि क्रिया कारक फलादि भेद नियमै कर्तुरनुरूप विदधता विधृतम् । अध्रियमाण हि ईश्वरेण इद विश्व विनश्येत् यतस्तस्मात् स सेतु विधृति ' अर्थ स्पष्ट है 'फलमत उपपत्ते ' (ब्र सू. ३-२-३८) इसके भाष्य में भी पर-ब्रह्म का नियन्तृत्व स्पष्ट बताया गया है ।	परन्तु बहुत मध्ययुगीन तथा अर्वाचीन पण्डितों को ब्रह्म के प्रभावित्व का बड़ा ही डर लगता है, इस का क्या उपाय है ?
अथर्व वेद	'अयमात्मा ब्रह्म' (बृ २-५-१९)		इस अथर्व वेदान्तर्गत श्रुतिवाक्य का उल्लेख बृहदारण्यक (२-५-१९) में आया है यथा — 'इद वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्या मुवाच तदेतदृषि पश्यन्नवोचत् पुरश्चक्रे द्विपद पुरश्चक्रे चतुष्पद ,, इत्य इत्य	परन्तु जगत् कारणता के डर के मारे कितने ही पण्डित यह सब सामर्थ्य परब्रह्म का नहीं किन्तु एक अनात्म पदार्थ का है, ऐसा कहते हैं । और उसे 'अशुद्ध ब्रह्म' भी कहते हैं, मानों ब्रह्म भी अशुद्ध होता है । एसी अनेक विपर्यस्त धारणाओं का

प्रकरण (६१) परिशिष्ट (अ)

श्रुति वाक्यों के अभिप्राय

	महा वाक्य	अवान्तर वाक्य	वाक्य का यथार्थ अभिप्राय	वाक्य का रूढ़ असमीचीन अर्थ
			प्रतिरूपो वभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय। इन्द्रो माया भि:......अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः। यहां भी जगत् कारणता स्पष्ट बताई गयी है।	निराकरण इस पुस्तक में जगह जगह किया गया है, जो पाठकों ने देखा ही है।

प्रकरण (६२) परिशिष्ट (आ)

अद्वैत सम्प्रदाय पर बौद्ध मत का अनिष्ट परिणाम

क्र०	विषय	अद्वैत विज्ञान का मन्तव्य	बौद्ध सम्प्रदाय का मत	मध्यकालीन और अर्वाचीन कतिपय पण्डितों का मत	विशेष
	ब्रह्म	सच्चिदानन्द नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त-स्वभाव सर्वज्ञ सर्व शक्ति निर्गुण नेति नेति स्वरूप विगत अशेष विशेष नियन्तृ प्रशासितृ। देखिये 'सत् चित् आनन्द' के तात्पर्य विषयक प्रकरण २८ पृष्ठ ४१	महात्मा बुद्ध ने ब्रह्म के विषय में कोई अपना मत नहीं दिया। ध्यान मार्ग से उसकी खोज करो यही उन्होंने उपदेश दिया। परन्तु बुद्ध शिष्यों ने देखा कि मनस्तत्व की आलय और विज्ञान धाराएँ बन्द होने के उपरान्त शून्य ही अवशिष्ट रहता है, अत जगत् का अधिष्ठान शून्य है यही उन्होंने निश्चित कर लिया। अर्थात् जिस को ब्रह्म कहा जाता है, वह शून्य के अतिरिक्त कुछ है नहीं, इस	सामर्थ्य हीन कर्तृत्व शून्य ज्ञान हीन, जिसको सत् भी नहीं कहा जाता अर्थात् वह शून्य समान है इस निश्चय पर ही ये लोग आरूढ़ हो गये। ब्रह्म को प्रत्यक्ष शून्य तो नहीं कहते किन्तु प्रतिपादन का निगमन यही होता है। जगत् की दृष्टि से उसका न कहीं प्रभाव है, न आविर्भाव। श्रीकृष्ण भगवान् को सनातन धर्म के सिद्धान्त मे, पूर्णब्रह्मावतार कहा गया है, परन्तु इन पण्डितों की दृष्टि	

प्रकरण (६२) परिशिष्ट (आ)

अद्वैत सम्प्रदाय पर बौद्ध मत का अनिष्ट परिणाम

विषय	अद्वैतविज्ञान का मन्तव्य	बौद्ध सम्प्रदाय का मत	मध्यकालीन और अर्वाचीन कतिपय पण्डितों का मत	विशेष
जगत्	अपरमार्थ, अनित्य, व्यावहारिकसत्य, कार्यक्षम। देखिये। जगन्मिथ्यात्व का प्रकरण (४१) पृष्ठ १४५	'सर्वं दुःखं दुःखं सर्वं क्षणिकं क्षणिकं' जगत् यह एक नितान्त भ्रम है। मानव के मस्तिष्क में जो आलय और प्रवृत्ति विज्ञान की धाराएँ चल रही हैं, उनके प्रतिभास बाहर दिखाई देते हैं, वास्तव में बाहर (कोई) पदार्थ नहीं है। अर्थात् दूसरा कोई मनुष्य या मस्तिष्क नहीं है। सब कुछ एक ही बड़े मस्तिष्क का स्वप्न है। यह एकजीव वाद की भित्ति है।	लगभग यही बौद्ध सम्प्रदाय का मत इन पण्डितों ने स्वीकार कर लिया है। बौद्ध मत जगत् को स्वप्न मानते हुए भी व्यवहार योग्य मानता है; परन्तु हमारे पण्डित जगत् है ही नहीं ऐसा विचित्र प्रतिपादन किया करते हैं। इसका कारण इन्होंने अजातिवाद अथवा विवर्तवाद का रहस्य ही नहीं जाना है। देखिये 'अजाति-वाद' के प्रकरण ३३ और ३४ पृष्ठ ८७ और १०३	

४	जगत् का कारण	ब्रह्म 'सर्वज्ञं सर्व शक्ति नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभावं शारीरादधिकमन्यत् तद्वयं जगत स्रष्टृ ब्रूम.' (ब्र.सू. २-२-२२ पर का भाष्य)	ऊपर वर्णित मानव मस्तिष्क के भीतर के आलय और प्रवृत्ति विज्ञानों का प्रतिभाग	(देखिये ऊपर की टिप्पणी)	
५	माया	इस शब्द का एक अर्थ विद्युक्ति अर्थात् वास्तव में ब्रह्म ही है। यह जगदुत्पत्तिस्थिति निर्वाहक सामर्थ्य है, यद्यपि इसे सदसद्विलक्षणा प्रकृति कहते हैं, या अविद्या भी कहते हैं। इसका पर्याप्त विवेचन प्रकरण (३०) परिच्छेद पृष्ठ ५७ पर किया गया है।	ब्रह्म या ब्रह्म शक्ति अथवा उससे उत्पन्न सदसद्विलक्षण शक्ति इन बातों को बौद्ध सम्प्रदाय मानता नहीं। विश्व को एक बड़ा विभ्रम ठहराने के बाद माया का अर्थ 'समष्टि अज्ञान' आवरण विक्षेप शाली, यह ही सिद्ध हो जाता है।	इन पण्डित जनों ने अधिकांश में बौद्ध मत को ही अपनाया है।	वास्तव में देखा जाय तो मोह या अज्ञान ये मनो धर्म हैं जो बाहर कहीं हैं ही नहीं। अर्थात् इनकी समष्टि असम्भव है।
६	अविद्या	इस शब्द का भी ऊपर कथित प्रकार अर्थ है।	देखिए ऊपर का विवेचन	देखिए ऊपर का विवेचन	देखिए ऊपर का विवेचन

प्रकरण (६२) परिशिष्ट (आ)

अद्वैत सम्प्रदाय पर बौद्ध मत का अनिष्ट परिणाम

क्रमांक	विषय	अद्वैतविज्ञान का मन्तव्य	बौद्ध सम्प्रदाय का मत	मध्यकालीन और अर्वाचीन कतिपय पण्डितों का मत	विशेष
७	जीव या जीवात्मा	इस शब्द के दो अर्थ होते हैं — (क) पारमार्थिक जीव अर्थात् प्रत्यगात्मा वा हृदयस्थ ईश्वर (ख) संसारी जीव, यह तो अनात्म जड़ ही है किन्तु सत्व धर्म युक्त होने से इसमें बोधाऽभास लक्षण है देखिए प्रकरण ४७ पृष्ठ १९१	(क) ऐसा कोई तत्त्व, बौद्ध मत को मान्य नहीं है। (ख) यह क्षणिक, मनोगत आलय विज्ञानधारा रूप होने से निरा भ्रम है। कल का ही आज मैं हूँ या गत क्षण के समय का ही इस क्षण में मैं हूँ, यह प्रत्यभिज्ञा जो हमें है, वह दीपक की ज्योति के सातत्य के नाईं, भ्रांति रूप है। परन्तु इसको नष्ट करने की शक्ति जीवात्मा में है अतः उसका मोक्ष दीपक के निर्वाण के सदृश है।	(क) कितने ही पण्डितों ने इसी बौद्ध मत को अपनाया है। (ख) कितने ही तो, बौद्ध मत के न्याई जीव को क्षणिक मानते हैं। परन्तु दूसरे, प्रत्यगात्मा को ही संसारी बनाए हुए हैं, और क्योंकि शास्त्रों में प्रत्यगात्मा को ब्रह्म माना गया है, अतः ब्रह्म ही स्वयं भ्रांत बनता है और ज्ञान के पश्चात् मुक्त होता है, नहीं तो वह ही बना रहता है इस भ्रांति में पड़े हैं॥	

८	संसारी जीव का पुरुषार्थ स्वातन्त्र्य	यह तो पूर्णतया मान्य है। 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् (ब्र सू. २-३-३३) इस प्रकार जीव को अपना अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त कर लेने का सामर्थ्य है। (देखिए प्रकरण ४० पृष्ठ १३७)	जीव अज्ञ है और बड़ा दुर्बल है। उसको ऐहिक वा पारलौकिक उन्नति करा लेने का कोई सामर्थ्य नहीं है। इतना मात्र उसमें सामर्थ्य है कि वह अपने मनोविजृंभण को बंद कर सकता है। समझना बंद हो गया ज्ञान का दीपक बुझ गया, तो वही निर्वाण है, दूसरा कोई मोक्ष नहीं है।	अधिकांश पण्डितों ने बौद्ध मत का ही स्वीकार कर लिया है, और समझना बन्द होना इसीको वे मुक्ति कहते हैं। द्वैत विस्मृति, देह विस्मृति, जड़मूढ़त्व यह जीवन्मुक्त के लक्षण समझे जाते हैं, इस मर्यादा तक वेदान्त में उलझन उत्पन्न हुई है।	
९	ब्रह्म ज्ञान का साक्षात् मुख्य साधन	ज्ञान यही मुख्य और साक्षात् साधन है। 'ज्ञानादेवतु कैवल्यम्' । कर्म भक्ति ध्यान ये केवल चित्त शुद्धि के अर्थ हैं। श्रवणमनननिदिध्यासन पूर्वक श्रुत्यर्थ को हृदयगम कर लेना यही मुक्ति का साधन है।	चित्त शुद्धि द्वारा विज्ञान धारा को बन्द कर देना यही निर्वाण का साधन बताया गया है।	कई वेदान्ती जनों ने श्रुत्यर्थ के अनंतर विज्ञान धारा को बन्द कर लेना, इसीको मोक्ष का साधन समझ लिया है। यह तो बौद्ध मत का ही अनुकरण है।	

(पिछले पृष्ठ से अनुवृत्त)

ऐसी अनेक बातों का भण्डार बना हुआ है। उसमें अद्वैत है, भेदाभेद वाद है, बौद्ध मत है, समष्टि अज्ञान का भ्रम वाद है, सविकल्प, निर्विकल्प समाधि और ज्ञान की सप्त योग भूमिकाओं का भी वर्णन है। इस खिचड़ी में श्रीवसिष्ठ महामुनि का यथार्थ मत क्या था, इसका आकलन होना बड़ा दुःसाध्य हो गया है। ध्यान रहे कि निर्विकल्प और सविकल्प समाधि की प्रक्रियाएँ परकीय हैं। औपनिषत्तत्वविज्ञानान्तर्गत नहीं हैं। 'तत्त्वावबोध एवासौ वासनातृणपावकः प्रोक्तः समाधि शब्देन न तु तूष्णीमवस्थितिः' (महोपनिषद् अ ४ श्लोक १२) ऐसी हमारी समाधि की व्याख्या है। हमारा निर्विकल्प पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन् वाला आत्मिक निश्चय और समाधान है। बुद्धि तत्त्व की निर्बुद्धता नहीं है। देह विस्मृति और द्वैत सत्ता का अभाव यह सारा भ्रममूलक है, हमारी नहीं है। स्मरण या विस्मरण ये मन बुद्धि के धर्म हैं। आंतरिक आत्मिक निश्चय का और इन व्यापारों का सम्बन्ध ही क्या है कि वे उसके लक्षण बन सकें? कुछ का कुछ कहने से अद्वैत विज्ञान नहीं बनता।

प्रकरण (६२) परिशिष्ट (आ)

अद्वैत सम्प्रदाय पर बौद्ध मत का अनिष्ट परिणाम

क्रमांक	विषय	अद्वैत विज्ञान का मन्तव्य	बौद्ध सम्प्रदाय का मत	मध्यकालीन और अर्वाचीन कतिपय पण्डितों का मत	विशेष
१०	इस साधन का स्वरूप	'ज्ञान सम्यगवेक्षणम्' यही इस साधन का लक्षण है। ब्रह्म के स्वरूप लक्षण और तटस्थ लक्षण का यथार्थ अवधारण, जीव और जगत् के तत्त्व का ज्ञान, इन तीनों के पारस्परिक सम्बन्धों का आकलन, और इन सब बातों का निस्सन्दिग्ध निश्चय, इसीको ज्ञान कहते हैं।	लय विक्षेप कषाय और रसास्वाद के बिना, जागृत अवस्था में बुद्धि की निर्बुद्धता यही मोक्ष माना गया है। इस विषय में बुद्ध शिष्य **असंग** ने ज्ञानी की दश भूमिकाओं का एक बड़ा ही काल्पनिक प्रपञ्च निर्माण करके रखा है, देखिये पृष्ठ २५।	इन पण्डितों की दृष्टि से, एक ब्रह्म का ज्ञान और वह भी केवल उसके स्वरूप लक्षण का ज्ञान, यही मोक्ष के अर्थ आवश्यक माना गया है। इसके उपरान्त स्तम्भ ४ में बताई हुई निर्बुद्धता और ज्ञान की भूमिकाओं को भी ये पण्डित मानते हैं।	ज्ञानी की सप्त या दश योग-भूमिकाओं का प्रपञ्च, वेदों में नहीं है, मूल दश उपनिषदों में नहीं है। *

भगवद्गीता या ब्रह्म सूत्रों में नहीं है। श्रीमदाचार्य ने ऐसी ध्यान की बातें कहीं नहीं बताई हैं, किन्तु हमारा ब्रह्मयोगवाशिष्ठ ग्रन्थ

(पिछले पृष्ठ से अनुवृत्त)

ऐसी अनेक बातों का भण्डार बना हुआ है। उसमें अद्वैत है, भेदाभेद वाद है, बौद्ध मत है, समष्टि अज्ञान का अंग॰ वाद है, सविकल्प, निर्विकल्प समाधि और ज्ञान की सप्त योग भूमिकाओं का भी वर्णन है। इस खिचड़ी में श्रीवसिष्ठ महामुनि का यथार्थ मत क्या था, इसका आकलन होना बड़ा दुःसाध्य हो गया है। ध्यान रहे कि निर्विकल्प और सविकल्प समाधि की प्रक्रियाएँ परकीय हैं। औपनिषत्तत्त्वविज्ञानान्तर्गत नहीं है। 'तत्त्वावबोध एवासौ वासनाक्षयपावक: प्रोक्त: समाधि शब्देन न तु तूष्णीमवस्थिति' (महोपनिषत् अ ४ श्लोक १२) ऐसी हमारी समाधि की व्याख्या है। हमारा निर्विकल्प, पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन् वाला आत्मिक निश्चय और समाधान है। बुद्धि तत्त्व की निर्बुद्धता नहीं है। देह विस्मृति और द्वैत सत्ता का अभाव यह भाषा भ्रममूलक है, हमारी नहीं है। स्मरण या विस्मरण ये मन बुद्धि के धर्म हैं। आन्तरिक आत्मिक निश्चय का और इन व्यापारों का सम्बन्ध ही क्या है कि वे उसके लक्षण बन सकें? कुछ का कुछ कहने से अद्वैत विज्ञान नहीं बनता।

प्रकरण (६२) परिशिष्ट (आ)

अद्वैत सम्प्रदाय पर बौद्ध मत का अनिष्ट परिणाम

क्रमाङ्क	विषय	अद्वैत विज्ञान का मन्तव्य	बौद्ध सम्प्रदाय का मत	मध्यकालीन और अर्वाचीन कतिपय पण्डितों का मत	विशेष
११	ब्रह्मज्ञान की फलश्रुति	(१) पराप्रज्ञा की प्राप्ति (२) सर्वात्मभावापत्ति (३) दुःख की अत्यंत निवृत्ति और निरतिशय सुख की प्राप्ति	(१) और (२) ये बौद्ध सम्प्रदाय को मान्य नहीं (३) के विषय में इन का यह अभ्युपगम है कि मन की विज्ञान धारा को बन्द करना यही मोक्ष है।	इन पण्डितों को भी (१) और (२) मान्य नहीं है, क्यों कि वे उनका कुछ अलग ही अर्थ करते हैं। (३) को तो मानते हैं, किन्तु उसमें भी समझना बन्द हो जाना, इस विशेषता को वे नहीं छोडते। यह बौद्ध मत का ही परिणाम है।	
१२	एक जीव वाद	इस वाद को श्रुति स्मृति अथवा भगवद्गीता इन में से किसी का भी आधार नहीं है।	इस वाद का मूल, बौद्ध सम्प्रदाय के भ्रांत तत्त्वज्ञान में ही है, जैसा कि ऊपर क्रमाङ्क ३ में बताया गया है।	शास्त्रों के विरुद्ध होते हुए भी इस वाद का बडा ही प्रस्थ इन पंडितों में पाया जाता है।	विशेष विवेचन प्र ५५ पृष्ठ २१४ पर द्रष्टव्य है।

प्रकरण (६२) परिशिष्ट (आ)

अद्वैत सम्प्रदाय पर बौद्ध मत का अनिष्ट परिणाम

क्रमांक	विषय	अद्वैत विज्ञान का मन्तव्य	बौद्ध सम्प्रदाय का मत	मध्यकालीन और अर्वाचीन वनिषय पण्डितों का मत	विशेष
१३	अजाति वाद	वेदान्ती जनों में 'अजातवाद' यह शब्द बड़ी ही प्रतिष्ठा को पहुँच गया है। इस नाम से विचित्र मता-मतों का प्रतिपादन किया जाता है, और उनको माण्डूक्य उपनिषद् पर जो कारिकाएँ श्रीगौडपादाचार्य ने रची हैं, उनका आधार बताया जाता है। कारिकाओं में 'अजातवाद' शब्द	बलवदनुमान है, कि यह वाद बौद्धों का है। इनसे भी प्राचीन, जो मीमांसक हो गये, उनका भी एक 'असम्भूति' वाद था जिसका कड़ा निषेध ईशोपनिषद् में आया है। असम्भूति और अजाति इनका लगभग एक ही तात्पर्य है कि, यह जगत् स्वयम्भू है, उसका जन्म किसी से नहीं हुआ है, और उसका कोई कर्ता नहीं। यही दोनों मतों का अनुगम है। भेद	वास्तव में देखा जाय तो 'ब्रह्म कारणतावाद' यह अद्वैत विज्ञान का मौलिक सिद्धान्त है। परन्तु दुर्भाग्य है, कि हमारे पंडित गण बौद्धों के अजात-वाद में फँस कर इस प्राचीन सिद्धान्त को खो बैठे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि श्रीगौडपादाचार्य ने बड़ी ही बुद्धिशीलता और चातुरी से, इसी बौद्ध मत को लेकर, उसको हमारे ब्रह्म कारणता वाद या विवर्त सिद्धान्त में परि	

अद्वैत सम्प्रदाय पर बौद्ध मत का अनिष्ट परिणाम

क्रमांक	विषय	अद्वैत विज्ञान का मन्तव्य	बौद्ध सम्प्रदाय का मत	मध्यकालीन और अर्वाचीन कतिपय पण्डितों का मत	विशेष
		का निर्देश नहीं है, परन्तु भाष्य में,' अजातिवाद' शब्द आया है, और यही योग्य है। अजातवाद इस शब्द का अर्थ जिसका जन्म हुआ नहीं ऐसा वाद, ऐसा कुछ विचित्र और असमञ्जस होता है। समझ में नहीं	इतना है, कि मीमांसक जगत् को परिणामी नित्य मानते हैं और बौद्ध, भ्रम मानते हैं। जान पड़ता है कि बौद्धों ने पुराने असम्भूति पक्ष को ही अपने कुछ निराले अर्थों मे अजातिवाद में रूपान्तरित कर दिया है।	वर्तित कर दिया है। उन्हों ने यह बताया है कि परमात्मा जैसा 'अजाति' है, किसी से जन्म नहीं पाया है, वैसा जगत् भी परमात्मा के, कुछ खण्ड बन कर, या उनमें कुछ विकार या परिणाम हो कर नहीं जन्मता है। यह सब अधिष्ठान चैतन्य दृष्टि की सृष्टि है।	

प्रकरण (६२) परिशिष्ट (आ)

अद्वैत सम्प्रदाय पर बौद्ध मत का अनिष्टपरिणाम

क्रमाङ्क	विषय	अद्वैतविज्ञान का मन्तव्य	बौद्ध सम्प्रदाय का मत	मध्यकालीन और अर्वाचीन कतिपय पण्डितों का मत	विशेष
		आया कि भाष्य के शब्द को छोड़ कर इस अव्युत्पन्न शब्द का क्यों स्वीकार किया गया है? प्रथम तो यह वाद हमारा नहीं। श्रुति स्मृति या हमारे तत्त्व विज्ञान के ग्रन्थों में इस वाद का उल्लेख नहीं है। इस सम्बन्ध में अनेक उलझनें वेदान्त विचारों में उत्पन्न हुई हैं जिनका विस्तृत विवेचन प्रकरण ३२ पृष्ठ ८७ पर किया गया है।		उसीका यह कल्पित विवर्त है। परन्तु बौद्ध सम्प्रदाय का हमारे विचारों पर इतना गहरा परिणाम हुआ है, कि हम श्रीगौडपादाचार्य के प्रतिपादन को नहीं समझे हैं।	

प्रकरण (६२) विभाग (१) परिशिष्ट (इ)

भारतवर्ष के दार्शनिक तथा अन्य मत मतान्तरों के संबन्ध में

प्राक्कथन

परिशिष्ट (इ) का **विवरण** पत्रक (जिसके पृष्ठ अन्त में अलग सम्पुट में रखे गये हैं) उसकी रचना अधिकांश से पुण्य पत्तन (पूना) के निवासी स्व० महामहोपाध्याय श्रीवासुदेव शास्त्री अभ्यकर कृत 'सर्वदर्शनसग्रह' के आधार पर की गई है। एव अन्य विद्वद्गण के अभिप्रायों का भी आलम्बन किया गया है। अत लेखक इन महानुभावों का बहुत ऋणी है।

पत्रक मे काल निर्देश, ईसा वर्षों में बताया गया है। जहां 'पू' लिखा गया है, वहां "ईसा सन् के पूर्व' ऐसा अर्थ समझना चाहिए। दर्शनों का प्रारंभ-काल निश्चितता से बताना बहुत दुर्घट है। प्राय सब ही दर्शनों की मूल विचार धाराएँ, प्राचीन वेद उपनिषद् और आगम ग्रन्थों में उपलब्ध होती हैं। किन्तु कालांतर से इन विचारों का स्वतन्त्रता से विकास और प्रवर्तन, अन्यान्य महर्षियों ने और आचार्यों ने किया है। एव उन्हींका काल जहां तक उपलब्ध अथवा अनुमित हो सका, 'प्रवर्तन काल' कर के दिया गया है।

पूर्व मीमासा दर्शन के विषय में जान पड़ता है, कि अति प्राचीन काल में यह मीमांसा और उत्तर मीमांसा एक ही तत्त्वज्ञान के दो अग थे। विशिष्टाद्वैती आचार्यों का यही मत है। परन्तु काल के परिवर्तन में पूर्व मीमासा को एक अलग दर्शन माना गया, और आगे चल कर इसके दो विकृत सम्प्रदाय (१) निष्क्रिय ईश्वर वादी द्वैती और (२) अनीश्वर वादी द्वैती ऐसे बन गये। इस पत्रक के अक १ और २ के नीचे इन्हीं के मत दिये गये हैं। विशेष विवेचन परिशिष्ट (उ) में द्रष्टव्य है।

इसी प्रकार प्राचीन काल में सांख्य और उत्तर मीमांसा एक ही थे। श्रौत सांख्य मत तो, अद्वैत विज्ञान के नाम से ही प्रसिद्ध है। परन्तु दूसरा सांख्य मत जिसका जबरदस्त खण्डन श्रीमच्छङ्कराचार्य ने अपने ब्रह्म सूत्र भाष्य में किया है, उसको द्वैतवादी अपिच अनीश्वरवादी भी कहते हैं। इस पत्रक के अङ्क १३ तथा १४ के नीचे इसके दो मत दर्शाये गये हैं। वस्तुत य मूल सम्प्रदाय नहीं हैं। इस सम्बन्ध में विशेष विवरण परिशिष्ट (उ) में किया गया है।

इस पत्रक में, तीस मत मतातरों का समावेश किया गया है, उनमें जो अन्त्य दो (अङ्क १९ और ३०) इसाई और भौतिक विज्ञानवादी है, भारतीय नहीं हैं। इनका निर्देश केवल तौलनिक दृष्टि से किया गया है। भारतवर्ष के और भी अनेक पन्थ हैं, जिनका समावेश पत्रक में नहीं किया गया, कारण एक तो लेखक को उनका परिज्ञान नहीं है, और दूसरा, इस पत्रक का उद्देश्य दर्शनों के तात्विक तथा मौलिक अभ्यास म सहायता प्रदान करने का है, जिसके लिए प्रत्येक पन्थ के विस्तृत विवरण और पर्यालोचना की वैसी आवश्यकता नहीं है। तथापि भारतीय तीन सम्प्रदाय ऐसे महत्व के हैं, कि उनके उल्लेख यहां पर कर देना समुचित है। वे (१) बगाल का सुप्रसिद्ध श्रीकृष्णचैतन्य अथवा गौरांग सम्प्रदाय (२) पण्डित विज्ञान भिक्षु का 'समन्वयवाद' और (३) 'त्रिपुरागमसिद्ध अद्वैत सम्प्रदाय' है।

इनमें प्रथम, भेदाभेदवादी है, जिसमें निम्बार्क के समान, परब्रह्म म स्वगत भेद और परिणाम को स्वीकार किया गया है। यह एक भावना प्रधान भक्तिमार्गी पन्थ है, जिसकी प्रभाविता से इस देश का महान् उपकार हुआ है, और प्राचीन सस्कृति की बड़ी रक्षा हुई है।

दूसरा मत ख्यात नाम परिव्राट् पण्डित विज्ञान भिक्षु का 'समन्वयवाद' है। ये प्राय ई सन् की सोलहवीं शताब्दि के अन्तिम भाग में हो गए हैं। इनका मत लगभग शाङ्कर सिद्धान्त के अनुसार है, माया को परब्रह्म की

अभिन्न रूपा शक्ति मानते हैं। अर्थात् परब्रह्म को सगुण होते हुए भी निर्गुण मानते हैं, जीव को प्राणादिक की तरह जड़रूप मानते हैं, परन्तु चैतन्यांश में ब्रह्म रूप मानते हैं, यह भेद है। एवं जीव और ब्रह्म में अंशांशी भाव मानने से इनको भेदाभेद वादी कहना पड़ता है। अपिच ये ज्ञान कर्म समुच्चय वादी थे। **अद्वैत विज्ञान** में संसारी जीवात्मा भूतसूक्ष्म 'महत्' तत्त्व याने बुद्धितत्त्व का अंश अर्थात् अनात्मा माना गया है, वह चेतधिनृ धर्म वाला चिदाभास है, चेतन है, चैतन्य नहीं है। देखिये प्रकरण (३०) परिच्छेद (१) पृष्ठ ५७ और प्रकरण (४७) पृष्ठ १९१

तीसरा मत तो पूर्णतया अद्वैत है। इस मत के प्रवर्तक आचार्यों ने अपने सिद्धान्तों को आगम प्रामाण्य पर प्रतिपादन किया है। इस विषय पर श्रद्धेय विद्वान् श्रीमाधवशास्त्री दातार ने एक सुलझा हुआ लेख 'कल्याण' मासिक के ई. स १९३६ के वेदान्त अंक में प्रकाशित किया है, वह द्रष्टव्य है। शङ्कर भगवान् त्रिपुर सुन्दरी देवी की भक्ति के पुरस्कर्ता थे, **अद्वैत सिद्धान्त** भक्ति मार्ग का विरोधी नहीं है, क्यों कि वह शिव और शक्ति में रत्ती मात्र भी भेद नहीं मानता, देखिए प्रकरण (३०) परिच्छेद (१) पृष्ठ ५७

इसके अतिरिक्त तन्त्र मार्ग के भी भिन्न भिन्न सम्प्रदाय हैं जिनमें अद्वैती तथा भेदाभेदवादी भी हैं। इनमें जो प्रतिबिम्ब वाद वाला सम्प्रदाय है, वह इस पत्रक के अंक ११ के नीचे दिखाया गया है।

एवं जो तीस मतमतान्तर इस पत्रक में बताए गए हैं, उनमें पन्द्रह (अंक १, २, ५, ८, १३, १४, १५, १८, १९, २०, २१, २२, २३, २९ और ३०) द्वैती हैं। एक, (अंक २४ बौद्ध) शून्यवादी माना गया है, एवं (अंक ,११ तान्त्रिक) प्रतिबिम्ब वादी है, नौ (अंक ४, ७, ९, १०, १२, १६, १७, २५ और २६) भेदा भेद वादी हैं और चार (अंक ३, ६, २७ और २८) अद्वैत वादी हैं।

इस पत्रक के स्तम्भ १ अंक १३ के सम्मुख भिन्न भिन्न दर्शनों के भेद' विषयक मत दिखाए गए हैं। प्रमुखतः, भेद के तीन प्रकार हैं, स्वगत,

सजातीय, और विजातीय। स्वगत भेद के भी तीन प्रकार हैं —(अ) तादात्म्य रूप (आ) औपाधिक और (इ) विभाग रूप।

(आ) तादात्म्य रूप भेद के निम्न दर्शित पाच प्रकार हैं —

(१) स्वरूपभूत गुण धर्म विषयक, स्वेतर कृत्स्न व्यावर्तक, उदाहरण — अवकाश गुण आकाश , अग्न्यौष्ण्यम्, दीप ज्योति , राहो शिर ।

(२) केवल विशेषण विषयक, स्वकीय मात्राद् व्यावर्तक उदाहरण — नीलोघट , श्वेत पट ।

(३) उपलक्षण विषयक, उदा० काकोपलक्षित गृहम्।

(४) अवस्था विषयक, उदा० अहि कुण्डलम्, सङ्कोचित हस्तपादो देवदत्त ।

(५) तत्प्रभवत्व रूप अथवा केवलान्वयी, उदा० समुद्र तरंग , सूर्य-प्रकाश , चन्द्र चन्द्रिका, पुरुषस्य नख लोमानि ।

(आ) औपाधिक भेद के दो प्रकार हैं —

(१) सजाति सम्बन्ध रूप, उदा० गोत्व, मनुष्यत्व, घटत्व, पटत्व ।

(२) अजाति सम्बन्ध रूप, इसके भी दो प्रकार हैं, एक सखण्ड, उदा० घटाकाश, महाकाश, अन्त करणावच्छिन्नं चैतन्यम्, रक्त स्फटिक , अयोदहति। दूसरा अखण्ड, उदा० सामान्यत्व, विशेषत्व, कारणत्व, कार्यत्व ।

(इ) विभाग रूप भेद के दो प्रकार हैं —

(१) समान अशांशि भावरूप, उदा० अग्ने स्फुलिंगा ।

(२) विभिन्न भाव रूप, उदा० बीज गत, वृक्ष, शाखा, पल्लव, पुष्प, फलानि ।

सजातीय भेद के उदा० वृक्षाद् वृक्षान्तरम् इत्यादि, और विजातीय भेद के उदा० काष्ठ पाषाण, वृक्ष शिला, इ०

ऊपर का विवरण वेदान्त ग्रन्थों से उद्धृत किया गया है। संसार के अनन्त पदार्थों में व्यावहारिक भेद तो सभी को मान्य हैं, भले ही वे एक या दूसरी कक्षा में आएँ। इस सबन्ध मे **अद्वैत विज्ञान** का विचार शीघ्र ही आगे बताया जाएगा।

इस पत्रक के स्तम्भ (१) अंक (१४) के सम्मुख 'ज्ञान' के विषय में विविध मत बताए गए हैं। ठोस दृष्टि से इनके दो विभाग होते हैं —

(१) ज्ञान को जीवात्मा का स्वाभाविक स्वरूप मानने वाले ।

(२) ज्ञान को जीवात्मा का आगन्तुक गुण मानने वाले ।

न्याय दर्शन में दूसरे मत को स्वीकार किया गया है। मनस्तत्त्व के सयोग होने से ही जीवात्मा में ज्ञान धर्म उत्पन्न होता है, एसा वे मानते हैं। वैशेषिक तथा प्राभाकर इसी मत के पक्षपाती है, और क्यों कि मुक्ति दशा में कोई आगन्तुक गुण रहने नहीं पाता, अत इस दशा में जीवात्मा निश्चेष्ट निस्पन्द पाषाण रूप हो रहता है, यह इनका सिद्धान्त है।

जिन सम्प्रदायों में पहला मत मान्य किया गया है, उनकी मुक्ति दशा, ज्ञान स्वरूप ही रहती है। **अद्वैत सिद्धान्त** में जीवात्मा की स्वरूपभूत 'ज्ञान

बल क्रिया' मान्य की गई है जिसका पर्याप्त विवरण, प्रकरण (४०) पृष्ठ १३१, प्रकरण (४७) पृष्ठ १९१, प्रकरण (४८) पृष्ठ १९७, और प्रकरण (४९) पृष्ठ १९९ पर किया गया है। इन प्रकरणों में स्पष्टतया बताया गया है, कि जीवात्मा एक अनात्म जड़ पदार्थ है, परन्तु परमात्मा ने उसे एक ऐसा अद्भुत सामर्थ्य प्रदान किया है, कि वह ब्रह्मविद्या द्वारा यहां के यहां जीवन्मुक्ति के अमिट सुख से लाभान्वित हो सके। चैतन्य में ऐसा सामर्थ्य रहना, इतनी बड़ी बात नहीं है, पर अचैतन्य, अनात्म पदार्थ में ऐसी आश्चर्य जनक शक्ति रखना, यही परमात्मा की अगाध लीला है।

इस सम्बन्ध में अद्वैत सम्प्रदाय वाले बहुत से पण्डित एक विचित्र-सी उलझन में पड़े हैं। वे कहते हैं कि मिट्टी का सुवर्ण नहीं बनाया जा सकता; सुवर्ण ही यदि कलंकित होकर मिट्टी रूप हुआ हो, तो कलंक को हटा कर निरा सुवर्ण बनाया जा सकता है। स्वभाव को बदला नहीं जा सकता, जड़, जड़ ही रहेगा और चैतन्य, चैतन्य ही; और यदि किसी कारण वश, चैतन्य में कुछ भ्रान्ति आ गई हो तो उसको हटा देने से उसका शुद्ध स्वरूप प्रस्थापित किया जा सकता है। इस युक्ति के आधार में वे (१) 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृ ४-४-६)। (२) 'विमुक्तश्च विमुच्यते' (कठ ५-१) (३) 'अन्योऽसौ अन्योऽहमस्मीति न स वेद' (बृ. १-४-१०)। (४) 'देवास्तं परादु योऽन्यत्र आत्मनः देवान्वेद' (बृ ४-५-७) (५) 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (बृ. ४-४-१९ तथा कठ ४-११) (६) 'एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमयं ध्रुवम्' (बृ. ४-४-२०) इत्यादि इत्यादि अनेकों श्रुतियों को उद्धृत करते हैं। इस विषय में पहले ही पृष्ठ १९८ पर संक्षेप से विवेचन किया गया है, परन्तु इन श्रुतियों का विचार रह गया था, जो यहां किया जाता है। स्मरण रहे कि ये श्रुतियां परब्रह्म के 'एकमेवाद्वितीयत्व' को निर्धारित कर रही हैं, न कि सृष्ट चिद्भिन्न पदार्थों की एकता को। मिट्टी और सुवर्ण, या अश्व और गौ की एकता नहीं, बताई जा रही है, **अद्वैत विज्ञान** परब्रह्म में तनिक भी भेद या किसी प्रकार का अवच्छेद नहीं मानता, और अपनी सत्कार्य वाद की अनूठी रीति से वह, परब्रह्म तथा तत्सृष्ट अपरिमित

चराचर जड़ चेतन पदार्थों म भेद सम्बन्ध को नहीं मानता **अनन्यत्व** या **तादात्म्य** सम्बन्ध मानता है। उसी की प्रौढि वाद से, अभेद या एकता कहने की रीति है। परन्तु वह कारण दृष्टि की एकता है, शब्दार्थ वाली भेदा भेद वादियों की, घट=कलश जैसी पर्याय शब्द रूप, एकता नहीं है। विश्रुत विद्वान् वाचस्पति मिश्र लिखते हैं —'न खलु अनन्यत्वम् इति 'अभेद ब्रूम किन्तु भेद व्यासेधाम ' देखिए पृष्ठ १७५। **अद्वैत सिद्धान्त** द्वैत प्रपञ्च के अभाव का सकेत नहीं करता, किन्तु द्वैत सत्यत्व बुद्धि का निषेध करता है। अतएव जहा जहा जीवब्रह्मैक्य, ऐसे शब्द आते है, वहा वहा, **तादात्म्य** या **अनन्यत्व** का अभिप्राय रहता है, शाब्दिक एकता का नहीं। अर्थात् ससारी जीव और ब्रह्म शब्दार्थ से एक हैं यह हमारा सिद्धान्त ही नहीं है।

छान्दोग्य उपनिषद् ६-३-२ के भाष्य में भगवान् **शङ्कर** लिखते हैं — 'सर्वं च नाम रूपादि सदात्मना एव सत्यम्, विकारजातम् स्वतस्तु **अनृत** मेव। वाचारम्भणं विकारो नामधेयम् इत्युक्तत्वात् **तथा जीवो**ऽपि। यक्षानुरूपो बलिरिति न्याय सिद्धि।' जीवात्मा के अब्रह्म, अवक्तव्य, अनात्म, होने के सम्बन्ध में, अनेक आधार प्रकरण (४७) से (४९) तक दिये गए हैं। परन्तु इसके विरोध में अपने ही विचित्र हेत्वाभास के सिद्धयर्थ अनेक पण्डितों ने मान लिया है कि, निर्गुण निराकार निरवयव नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव ब्रह्म के टुकड़े होते हैं, वे भ्रान्त होते हैं, और अनन्त जन्मों के अनन्तर यदि उनकी भ्रान्ति, नष्ट हो, तो फिर वे परब्रह्म म मिल जाते हैं! मानों परब्रह्म भी कुछ सुसूक्ष्म द्रव्य वाली वस्तु है, जिसके अश भी होते हैं, और वे उसमे निकलते हैं, और फिर जा कर उसमें सम्मिलित भी होते रहते हैं! इसी को भेदाभेद वाद कहते हैं, जिसका यथेष्ट खण्डन श्रीशङ्कराचार्य और श्रीसुरेश्वराचार्य ने अपने ग्रन्थों मे भूरिश कर रखा है। परमात्मतत्व में तनिक भी भेद नहीं हो सकता, यह तो **अद्वैत विज्ञान** का मौलिक सिद्धान्त है। और परमात्मा को कभी भी भ्रान्ति हो नहीं सकती, वह **अखण्ड नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव** है, यह उतना ही मौलिक और अकाट्य सिद्धान्त है। परन्त बड़ी शोचनीय दशा है, कि इन भद्र पुरुषों न परब्रह्म म, भेद तथा

भ्राति द नों ने ही स्पष्टतया मान लिया है !! फिर कहते हैं कि यही शङ्कराचार्यजी का भी मत है। ऐसा असम्बद्ध मत यदि महान् से महान् पण्डित का भी हो तो वह मान्य नहीं किया जा सकता। परन्तु इसमें मर्म वाली बात यहा है, कि श्रीशङ्कराचार्यजी का आशय ही इन पण्डितों की समझ में नहीं उतरा है। इसके अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

देखिये 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति (बृ ४ ४ ६) का शाङ्कर भाष्य, जो बहुत विस्तृत होने से यहा उसका केवल तात्पर्य दिया जाता है। दृष्टान्त रूप से, उपनिषदों में बताया गया है, कि अज्ञानी जीवात्मा प्रतिदिन अपनी सुषुप्तावस्था में ब्रह्म में ही लीन हो जाता है। यानि उसके लिए 'अब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' यह एक मानों तथ्य बात है। परन्तु सम्यग्ज्ञानी पुरुष, अपनी सभी अवस्थाओं में ब्रह्मरूप है, और ब्रह्म में ही लीन है अर्थात् उसके लिए 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' यह सिद्धान्त है। अतएव उसे पुनर्जन्म नहीं है। भाष्य के निरूपण में कहीं भी यह नहीं लिखा गया है, कि परब्रह्म ही प्राप्त होता है इत्यादि। मान्य है कि बृहदारण्यक १-४-१० के भाष्य में प्रथम शरीरी हिरण्यगर्भ अपने जन्म के पहले ब्रह्म रूप था बाद में ब्रह्म ज्ञान होने से उसे **सर्वात्म भाव** प्राप्त हुआ, और आज भी यदि कोई जीवात्मा, ब्रह्मविद्या प्राप्त कर ले तो उसे भी यह फल मिल सकता है, इत्यादि इत्यादि समूचा प्रतिपादन किया गया है। पर इससे परब्रह्म ही प्राप्त होता है यह विपरीत आशय कैसे निकलता है, समझ में नहीं आता! हमें भूलना नहीं चाहिए कि ब्रह्मविद्या का एक महत्व का फल **सर्वात्म भाव** निर्धारित किया गया है। इस सम्बन्ध में बृहदारण्यक (४ ४-३) के भाष्य के महत्व वाले शब्द ऐसे हैं—आत्मनि एव स्वे कार्यकरण संघात आत्मानम् **प्रत्यक्चेतयितारम्** पश्यति नान्यदात्मव्यतिरिक्त वालाग्रमात्रमपि अस्ति इत्येव पश्यति एष ब्रह्म लोको निरुपचरित सर्वात्मभाव लक्षण' इसी को ब्रह्म होना कहते हैं। अब्रह्म रूप जीवात्मा कुछ ज्ञानमता से तो ब्रह्म नहीं बन सकता, अर्थात् उस सर्वात्मभाव की विशाल **ज्ञान दृष्टि** प्राप्त होती है जिसका विवरण पीछे पृष्ठ ४०० पर किया गया है।

इसी प्रकार 'विमुक्तश्च विमुच्यते' (कठ ५-१) इसका शांकर भाष्य, बहुत ही स्पष्ट है, उससे ऊपर के विवेचन पर विशेष प्रकाश डाला जा सकता है। मन्त्र और भाष्य के शब्द ऐसे है -

। पुरमेकादशद्वारम् अजस्यावक्रचेतस
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते। एतद्वै तत्।

भाष्यः । पुनरपि ब्रह्मतत्व निर्धारणार्थोऽयमारम्भ ।.. इदं शरीराख्यं पुरम्।...कस्य ? अजस्य अवक्र चेतस प्रकाशवन् नित्यस्य राजस्था नीयस्य ब्रह्मण त सर्वे भनस्थ सर्वैषणा मुक्त (जीवात्मा) ध्यात्वा न शोचति . ..इहैव अविद्याकृत कामकर्मबन्धनैर्विमुक्तो भवति। विमुक्तश्च मन् बिमुच्यते, पुन शरीरं न गृह्णातीत्यर्थ।

इससे सुस्पष्ट होगा, कि इन दोनों श्रुतियों में ज्ञानी पुरुष सर्वात्मदर्शी होता है और उसे देहान्तर प्राप्ति होती नहीं, यही रहस्य बताया गया है। जीवात्मा पहले परब्रह्म होता है, फिर वही भ्रान्त होता है, और फिर वह परब्रह्म बनता है इत्यादि बातों का यहाँ नाम तक नहीं है।

'न हि स्वभावो भावानां व्यावर्तेत औष्ण्यवद्रवे' 'स्वभावो दुरितक्रम' 'स्वभावो मूर्ध्न वर्तते' ये कहावते अपनी सीमा तक ठीक ही है। परन्तु वे अद्वैत सिद्धान्त की विरोधी नहीं मानी जा सकतीं। इन सज्जनों का कहना है कि जब वेदान्त शास्त्र आघोषित कर रहा है, कि समारी भ्रान्त जीव ब्रह्मविद्या से ब्रह्म बनता है, तो उपर्युक्त कहावतों के अनुसार उसे पहले ही ब्रह्म रहना आवश्यक है! परन्तु यह तो, 'एक झूठ से दूसरे झूठ के जन्म' का उदाहरण है! इससे यही अभिप्राय निकलता है कि नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव वाला ब्रह्म अपने स्वभाव का परित्याग करता है, मूढ होता है और असीम दुःखों का अनुभव करता है! यह तो 'विनायक प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्' वाली बात है! ऐसा प्रमादशाली ब्रह्म, किसी तत्त्वज्ञान का उद्देश्य नहीं

हो सकता। जिस विचार प्रणाली से, परमात्मा ही भ्रान्त हो कर संसारी बनते हैं, इत्यादि इत्यादि मानने पर अद्वैतियों को बाध्य होना पड़ रहा है, प्रकट है, कि यह प्रणाली ही नितान्त भ्रम रूप है। अर्थात् 'जीवो ब्रह्मैवनापरः' इसके रहस्य को ही हमने नहीं जाना है। इस सिद्धान्त का विवरण पीछे, पृष्ठ २०८ पर किया गया है। देखिये न, व्युत्क्रम से, यह नहीं कहा जा सकता कि 'ब्रह्म जीव एव नापरः'। ब्र. सू. ४-१-३ 'आत्मेति तु उपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च' के भाष्य में **शंकर** भगवान् लिखते हैं:- न हि ईश्वरस्य संसारायात्मत्वं प्रतिपाद्यते...... संसारिणः संसारित्वापोहेन ईश्वरात्मत्वम् प्रतिपादयिषितमिति । एवं च सति अद्वैतेश्वरस्य अपहतपाप्मत्वादि गुणता, विपरीत गुणता तु इतरस्य-मिथ्येति व्यवतिष्ठते।

'अन्योऽसौ अन्योऽहमस्मीति न स वेद' (बृ. १-४-१०) इसमें अन्य भाव वाली उपासना की निन्दा की गई है। अर्थात् ब्रह्मोपासना में अनन्य भाव की आवश्यकता है, शाब्दिक या पर्याय रूप ऐक्यभाव की नहीं। अन्य उद्धृत श्रुतिवचन भी सत्कार्य वाद की ही सिद्धि करते हैं, कोई भ्रान्तिवाला विपरीत अर्थ नहीं बता रहे हैं।'

इस प्रकरण को समाप्त करने के पहले **ज्ञान** के सम्बन्ध में कुछ विशेष विवरण देना उचित मालूम होता है। कहा जाता है कि परमात्मा केवल निर्विशेष निराकार **ज्ञप्ति** स्वरूप या **ज्ञान** स्वरूप हैं, उनमें न कोई ज्ञातृत्व है, न कुछ ज्ञेय, और न कुछ समझना ही! और फिर कहा जाता है कि यही **शांकर** सिद्धान्त है! ऐसी विचित्र धारणा प्रस्थान त्रयी में कहीं नहीं है। ज्ञान के सम्बन्ध में यथेष्ट विवेचन पहले प्र. (२८)पृष्ठ ४१ पर किया है।

विचार करने की बात है कि जिस **ज्ञान स्वरूप नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त**, परमात्मा में ज्ञातृता नहीं, और कुछ समझना भी नहीं, उसे **ज्ञान** स्वरूप और बुद्ध कहेगा कौन! **ज्ञान** कोई पत्थर जैसी तो वस्तु नहीं है। उसे ट्रं

साश्रय और सविषय होना अवश्यम्भावी है। इस शब्द का अर्थ ही इन दो बातों का संकेत करता है। बिना इनके, वह शब्द ही व्यर्थ हो जाता है। आश्चर्य की बात है कि **अज्ञान** के सम्बन्ध में साश्रयता और सविषयता का स्वीकार हमारे वेदान्त ग्रन्थों में किया गया है, पर **ज्ञान** स्वरूपता के सम्बन्ध में मात्र कतिपय ग्रन्थकारों को बड़ा विरोध है क्यों कि उन को यह डर लगता है, कि ज्ञातृत्व मानते ही परमात्मा की 'एकमेवाद्वितीयता' नष्ट भ्रष्ट हो जाएगी। प्रकट है, कि आपने मोटी संख्या वाली एकात्मकता को ही बुद्धि में दृढ़ कर लिया है, और दार्शनिक तथ्यों की ओर से अपनी दृष्टि फेर ली है।

ज्ञातव्य यह है कि व्यवहार के दृष्टान्त परब्रह्म को नहीं लगाए जा सकते। हमको, देखने के लिये आँखों का होना आवश्यक है, परन्तु परमात्मा 'पश्यत्य चक्षुः स शृणोत्यकर्णः' (श्वे ३-१९) इत्यादि शतश श्रुति प्रमाण दिये जा सकते हैं। व्यवहार में हमको पाँच इन्द्रियों से काम लेना पड़ता है, परन्तु परमात्मा को एक भी नहीं है, इस लिये उनको ज्ञान ही नहीं यह कैसे कहा जाए? व्यवहार में उपादान कारण अलग और निमित्त कारण अलग होते हैं, परन्तु हमारे सिद्धांतों से परमात्मा ही इस विराट् प्रपञ्च के अभिन्न निमित्तोपादान कारण प्रमाणित किये गये हैं। **सत् चित् और आनन्द** इनके अर्थ व्यवहार में नितान्त अलग हैं, पर परमात्मा में जो **सत् है** वही **चित्** है और वही आनन्द है। ठीक इसी प्रकार व्यवहार में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय, भले ही अलग हों, परमात्मा जो ज्ञातृस्वरूप हैं वही ज्ञान स्वरूप हैं और स्वसंवेद्यता की दृष्टि से ज्ञेय भी हैं, और ज्ञान भी हैं वही। इससे उनके अखण्डत्व को कण भर भी ठेस नहीं पहुँचती। हाँ, मान्य है, कि उनके लिये त्रिलोक में कुछ भी ज्ञातव्य नहीं है। परन्तु उनको कुछ ज्ञात ही नहीं होता, यह कहना श्रौत सिद्धान्त को खो बैठना है! जैसे दीप प्रभा में प्रकाशक प्रकाशन और प्रकाश तीनों एक ही हैं, उनमें कर्ता कर्म और क्रिया का सम्बन्ध नहीं है, और इनमें से एक भी उड़ाया जाए, तो तीनों नष्ट हो जाते हैं। ठीक इसी प्रकार, परमात्मा में ज्ञातृत्व, भावरूप ज्ञान और धात्वर्थ ज्ञान, तीनों एक ही एक हैं, उनमें कर्ता कर्म और क्रिया अथवा आश्रय आश्रयी और विषय वाला पृथक् भाव नहीं है। अर्थात् इन में से एक को

भी उड़ा देने की कल्पना अत्यन्त हास्यास्पद है। दीपक में से प्रकाश ही निकाल दिया जाए तो अन्धेरा ही शेष रहेगा। परन्तु बड़े आश्चर्य और दुःख की बात है कि परमात्मा में ज्ञातृत्व और ज्ञान है ही नहीं ऐसा हमारे कतिपय पण्डित गण लिख देते हैं, और स्पष्टतया प्रतिपादन भी करते हैं, कि परमात्मा का केवल अस्तित्व मात्र है। फिर उनको **नित्य शुद्ध बुद्ध** क्यों कहा गया है ? जिस अस्तित्व मात्र में **ज्ञातृत्व** ही नहीं और दूसरी कुछ भी विशेषता नहीं, वह **शून्यता** के कितना निकटतम है, विज्ञ पाठक जान सकते हैं।

प्रकरण (६३) विभाग (२) परिशिष्ट (ई)

भारत वर्ष के दार्शनिक तथा
अन्य मतवादों का
विवरण-पत्रक

[इस पत्रक के पृष्ठ, ३०५ से आगे, अन्त में अलग सम्पुट में रखे गये हैं]

[पृष्ठ ३०५ से ३०८, अन्त में अलग सम्पुट में रखे गये हैं]

प्रकरण (६३) विभाग (३) परिशिष्ट (उ)

भारतवर्ष के दार्शनिक तथा अन्य मतवादों के तत्त्व और अन्य विशेष

क्रमाङ्क (१) और (२) पूर्व मीमांसा सम्प्रदाय

(१) भाट्टमत	(२) प्राभाकर मत
पदार्थ :— द्रव्य गुण कर्म सामान्य समवाय शक्ति और अभाव ऐसे सात	द्रव्य गुण कर्म सामान्य समवाय सख्या शक्ति और सादृश्य ऐसे आठ
१ द्रव्य :—पृथिवी, आप, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा, मन, तम और वर्ण ऐसे ग्यारह	(१) भाट्टमत के समान, किन्तु तम और शब्द को द्रव्य नहीं मानते और तम को तेजाभाव रूप मानते हैं।

२ गुण —गन्ध रस, रूप, स्पर्श, परिणाम, सयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेहसस्कार, अदृष्ट, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न ऐसे २०	(२) भाट्ट मत के समान—
३ कर्म —चलन रूप प्रत्यक्ष	(३) चलन रूप किन्तु प्रत्यक्ष नहीं अनुमेय मानत हैं।
४ सामान्य —पर और अपर	(४) एक ही अपर सामान्य घटत्व गोत्वादि मानत हैं पर याने सत्ता सामान्य नहीं मानत।
५ समवाय —एक	(५) भाट्ट मत के अनुसार
६ शक्ति —सहज, आधेय और पद शक्ति	(६) ,, ,,
७ अभाव —ध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अनुपलब्धि रूप अभाव,	अभाव को पदार्थ नहीं मानते उसको अधिकरण रूप ही मानते हैं।
(सख्या को गुण मानते हैं)	(७) सख्या को द्रव्य मानते हैं।
(सादृश्य को गुण मानत हैं)	(८) सादृश्य को भी द्रव्य मानते हैं।
शब्दों क उत्पत्ति सिद्ध अर्थो से ही ज्ञान होता है, ऐसा मानत हैं। इस लिये इनको अभिहितान्वय वादी कहते हैं।	शब्दों का अर्थ, कार्य से सिद्ध होता है ऐसा मानते हैं। अत इनको अन्विताभिधान वादी कहते हैं।

जैमिनि महर्षि की अभिमति थी, कि केवल बोध लक्षण ज्ञान से, परब्रह्म का साक्षात् नहीं हो सकता, अपितु औपासन विधियों की आवश्यकता है। (देखिये ब्र सू ४–३–१२ और १३)

उपर्युक्त वेदालोचक महर्षि केवल जड़वादी अथवा अब्रह्मवादी नहीं थे। श्रीसुरेश्वराचार्य ने अपनी सुविख्यात 'नैष्कर्म्य सिद्धि' में इस विषय पर प्रकाश डाला है। इस ग्रन्थ के पहले अध्याय के ९० वें श्लोक का विवरण करते हुए वे लिखते हैं।

"। ज्ञानात् फले ध्रुवाप्ते ऽस्मिन्प्रत्यक्षे भवघातिनि
उपकाराय तन्नेति न न्याय्यं भाति नो वच ॥९०॥

"यदपि जैमिनीय वचनमुद्घाटयसि–तदपि तद्विवक्षा ऽपरिज्ञानादुद्भाव्यते। किं कारणम्। यतो न जैमिनेरयमभिप्राय आम्नाय् सर्व एव क्रियार्थ इति। यदिह्ययमभिप्रायो ऽभविष्यत् 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा। जन्माद्यस्य यत' इत्येवमादि ब्रह्मवस्तु स्वरूपमात्र याथात्म्य प्रकाशनपर गम्भीरन्याय सदृब्ध सववेदान्तार्थ मीमांसन श्रीमच्छारीरक नामसूत्रथि'यत्। असूत्रयंचनत्। तस्माज्जैमिनेरेवायमभिप्रायो यथैव विधिवाक्याना स्वार्थमात्रे प्रामाण्यमेवमैकात्म्य वाक्यानामप्यनधिगत वस्तुपरिच्छेदवस्तुसाम्यादिति।"

इससे प्रतीत होता है, कि जैमिनि महर्षि की जैसी कर्म काण्डात्मक द्वादशाध्यायी है और उपासना प्रतिपादक सङ्कर्षण अथवा देवता काण्ड की चतुरध्यायी है, वैसी ही ज्ञान काण्डात्मक चतुरध्यायी भी थी। जिसमें 'ज्ञान कर्म समुच्चय' पक्ष का समर्थन था। अथवा सम्भव है कि सब उपलब्ध वेदान्त सूत्र, महर्षि जैमिनि तथा महातपा बादरायण दोनों के प्रणीत हैं पर उनका समुच्चयवादी भाष्य आज लुप्त है। शकर भगवान् ने अपने ब्र सू ३-३-५३ के भाष्य में आचार्य उपवर्ष के ब्रह्मसूत्र भाष्य का उल्लेख किया है, जिसमें सम्भवत यह 'समुच्चयवादी भाष्य था।

अर्थात् अति प्राचीन काल में कर्म काण्ड उपासना काण्ड और ज्ञान काण्ड तीनों मिलकर एक ही मीमांसा दर्शन था जिसके उपर्युक्त ने प्रणेता थे और जिसके पूर्व और उत्तर ऐसे दो विभाग थे जो आज भी प्रसिद्ध हैं और वे भिन्नता दर्शक नहीं हैं।

क्रमांक (२) उत्तर मीमांसा या अद्वैत विज्ञान।

इसके तत्त्वों का पर्याप्त विवरण प्रकरण (३०) परिच्छेद (१) पृष्ठ ५७ पर किया गया है। इस दर्शन में आकाश को निरंश द्रव्य रूप दिशाओं को आकाश रूप अन्धकार को आलोकाभाव रूप और काल को परमात्मशक्ति रूप माना गया है।

इस सम्प्रदाय के नाम पर इतने विचित्र मत मतान्तर उत्पन्न हुए हैं कि सम्भवतः किसी दूसरे सम्प्रदाय में न हुए हों। इसका कारण गीर्वाण भाषा का लोप और प्रधान ग्रंथों के सुचारु अध्ययन का अभाव। इस सम्प्रदाय की प्रधान भित्ति ब्रह्म कारणता सिद्धान्त है। परन्तु उसी के सम्बन्ध में कैसी कैसी उलझन उत्पन्न हुई हैं इसका पर्याप्त विवरण इस पुस्तक में यत्र तत्र किया गया है। अपि च कुछ मर्म की बातें उपोद्घात पृष्ठ क २५ पर दिखाई गई हैं। अब और भी मौलिक प्रमाण दिखाकर कुछ अधिक विवेचन यहाँ किया जाता है।

इन्द्रो मायाभिः पुरु रूप ईयते (ऋ ६-४७-१८) इस ऋचा में माया शब्द का प्रयोग परमात्मा के अद्भुत सामर्थ्य को बताने के लिये किया गया है न किसी अस्वाभाविकी मिथ्या शक्ति को या भ्रान्ति को। फिर यहाँ **'मायाभिः'** ऐसा तृतीया विभक्ति का बहु वचन है जो निर्विवादतया परब्रह्म की नानाविध अचिन्त्य शक्तियों की ओर संकेत कर रहा है। सायण भाष्य में 'मायाभिः, ज्ञान नाम एतत् ज्ञानैः आत्मीयैः सङ्कल्पैः' ऐसा स्पष्ट अर्थ दिया गया है। अतः यह ब्रह्म स्वरूपा शक्ति है भ्रमरूपा कदापि नहीं है। हाँ उसकी अघट मट महिमा अल्पज्ञ जीवों को यथार्थता से ज्ञात न होने से उनका सम्भ्रम अवश्य रहता है पर इसलिये उसको भ्रान्त नहीं कहा जा सकता।

थोड़े ही विमर्श से स्पष्ट हो सकता है, कि इस संसार की किसी भी शक्ति को, चाहे वह विद्युत हो या रासायनिक शक्ति हो या गुरुत्वाकर्षण रूप शक्ति हो, भ्रान्त नहीं कहा जा सकता। इन शक्तियों का उपयोग करनेवाला पुरुष ही भ्रान्त या निर्भ्रान्त हो सकता है। यहाँ तो परब्रह्म परमात्मा की महिमा वर्णित की गई है। अत यह मायावाद किसी दृष्टि से भ्रान्ति वाद नहीं है, प्रत्युत अति प्राचीन वैदिक 'मायावी' कारणता का सिद्धान्त है, एव शकर भगवान् का कपोल कल्पित वाद नहीं है। दे पृ ५०। श्वे० उ० में परमात्मा के अचिन्त्य सामर्थ्य का नि सदिग्ध वर्णन किया गया है। अ ५ म १

। द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते ऽ विद्या विद्ये निहिते यत्र गूढे
क्षरं त्वविद्या ह्यमृत तु विद्या विद्याऽविद्ये इशते यस्तु सोऽन्य ।

इस प्रकार इसी सामर्थ्य का **अविद्या** और **विद्या** ऐसा द्विविध स्वरूप बताया गया है। भाष्य में 'अविद्या क्षरणहेतु ससृति कारणम्' 'अमृत तु विद्या मोक्षहेतु' और इनका स्वामी परब्रह्म है ऐसा स्पष्ट किया गया है। यही तथ्य ब्र सू (१-४-३) के भाष्य में बताया गया है, दे पृ ६१ और ब्र सू. (२-१-१४) के भाष्य में इसी अविद्या शक्ति को 'सर्वज्ञस्य ईश्वरस्य मायाशक्ति प्रकृति इति चश्रुतिस्मृत्योरभिलप्येत' ऐसा स्पष्ट ही लिख कर, बताया है, कि **'नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वरूपात्सर्वज्ञात्सर्वशक्तेः ईश्वराज्जगज्जनिस्थितिप्रलयाः न अचेतनात्प्रधानात् अन्यस्मात् वा'**

परन्तु नितान्त आश्चर्य की बात है, कि कतिपय मध्यकालीन तथा अर्वाचीन पण्डितों ने एक नयी ही **अज्ञान कारणता** वाली कल्पना खोज निकाली, जो उपर्युक्त श्रुति प्रोक्त **अविद्या** कारणता से एकदम विभिन्न है। इसके धुरन्धर पुरस्कर्ता प्रकाशानन्द अपनी मुक्तावली पुस्तक में साफ मान्य करते हैं कि इस नयी कल्पना के लिये कोई वैदिक या लौकिक प्रमाण नहीं है, दे पृ १८३। यही कारण है कि इनको श्रुत्युक्त **अविद्या** शब्द को त्याग कर अपने नये सिद्धान्त के लिये **अज्ञान कारणता** शब्द का व्यवहार करना पड़ा है।

अद्वैत सिद्धान्त तो यह है, कि जब तक परब्रह्म परमात्मा अपने 'ईक्षण' अर्थात् इच्छा मात्र से, इस विश्व के अनन्त आभासिक परन्तु व्यवहार क्षम, पदार्थों के नाम रूपों का व्याकरण, अर्थात् अनिर्वचनीय उत्पत्ति न कर, तब तक कोई चीज बनने ही नहीं पाती, और न कुछ व्यवहार ही हो सकता है। यही तो सृष्टि की प्रक्रिया है। फिर इनके मत गढन्त 'अज्ञान कारणता' की आवश्यकता ही क्या रही। ब्रह्मसूत्र (४-४-१७) 'जगद् व्यापार वर्जम्' स्पष्टतया निर्णय दे रहा है कि महान् से महान् पुरुष को भी जगत के सृजन का अधिकार नहीं है। इसके विरोध में इनका परिच्छिन्न अनादि जड़ भाव रूप विनाशी **अज्ञान** या तदुद्भव कोई कल्पित जीव, बेचारा क्या करेगा ?

क्या वेदों में क्या उपनिषदों में, क्या भगवद्गीता में, क्या ब्रह्मसूत्रों में, और क्या स्मृति पुराणों में, **नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव सर्वज्ञ और सर्वशक्ति** परब्रह्म की ही कारणता प्रमाणित की गई है। परन्तु इन पण्डितों का कहना है कि उपर्युक्त सब वर्णन तथा सबल ब्रह्म, मायोपहित चैतन्य, या परमेश्वर ये सब सत्ताएं, इन्हीं के कपोल कल्पित जड़ भाव रूप **अज्ञान** से उत्पन्न किये हुए एक **जीव** विशेष की हैं, न कि परमात्मा परब्रह्म की !

प्रेमी भाइयो, आप जो धर्म कर्म भक्ति और उपासना द्वारा पूजा अर्चादि करते हैं, परमात्मा परब्रह्म की नहीं है, क्योंकि उसको आपसे उत्कट से उत्कट आराधना का ज्ञान होना ही नितान्त असम्भव है ! आश्चर्य की बात है, कि द्वैत सम्प्रदाय का खण्डन करते करते, देखिये इन भद्रपुरुषों ने परब्रह्म और परमेश्वर को नितान्त अलग मान कर, उनमें **द्वैत** भाव की एक अभेद्य दीवार खड़ी कर दी है, और इसी का निश्चय रूप ज्ञान, यही अपना अद्वैत तत्त्व-ज्ञान मान लिया है ! वैदिक धर्म की प्रशान्त छत्र छाया में रह कर, उससे पलते फूलते तथा समृद्धि पाते हुए, उसीके औपनिषदिक विज्ञान तथा सनातन आर्य संस्कृति के विरोध में, एक निरा जड़ भ्रम वाद का आडम्बर उठा रखना

इससे बढ़कर अर्थ का अनर्थ करनेवाला उदाहरण संसार भरमें नहीं मिलेगा।

इन पण्डितों में कतिपय, स्पष्टतया बता देते हैं, कि उनको ब्रह्मकारणता का सिद्धान्त नितान्त अमान्य है। परन्तु बहुत से, अपने को शांकर मतानुयायी दिखलाने के लिये प्रतिपादन करते हैं कि माया कारणता, अज्ञान कारणता, और ब्रह्म कारणता, तीनों पर्याय रूप शब्द हैं। परब्रह्म ही अनात्म माया द्वारा कारण होता है और सृष्टि की रचना करता है। परन्तु मजे की बात तो यह है, कि जब परब्रह्म में ज्ञातृता ही नहीं तो माया द्वारा सृज्यमान अनन्त पदार्थों की कौन कहे अनात्म माया रूप द्वार अर्थात् साधन ही उसको ज्ञात होना असम्भव है। जिस ब्रह्म को कारणता का संस्पर्श ही नहीं है, और जिसकी प्रेरकता ही अमान्य है, उसकी कारणता बताना, या तो उसको जड़ समझना है, या दूसरों को केवल वंचित करना है।

फिर जिस परब्रह्म में ज्ञातृता ही नहीं, ऐसा ये पण्डित माने बैठे हैं, उसमें, वे कहते हैं, कि **अनादि अज्ञान** के कारण **ज्ञातृता** (?) उत्पन्न होती है। वह संसारी जीव बनता है, अनन्त जन्म मरणों के भँवर में फँसता है, और अन्त में सद्गुरु मिल जाने पर, मुक्ति को प्राप्त कर लेता है, और फिर जैसे के वैसा **ज्ञातृत्व विहीन** होकर रहता है।। यह भी परि कल्पनाओं की एक विचित्र खिलवाड़ है, जिसके सम्बन्ध में इस पुस्तक में पर्याप्त

क्रमांक [२४] बौद्ध विज्ञान

इस सम्प्रदाय के चार विभाग हैं —

(१) वैभाषिक
(२) सौत्रांतिक } इनको हीनयान पथ कहते हैं।

(३) योगाचार
(४) माध्यमिक } इनको महायान पथ कहते हैं।

(१) वैभाषिकों के मत में, दृश्य जगत् सत्य है, और पदार्थों की प्रतीती मानव को यथार्थता से हो सकती है ऐसा स्वीकार किया गया है।

(२) सौत्रांतिकों के मत में, दृश्य जगत् सत्य है, परन्तु उसकी यथार्थ प्रतीति मानव को नहीं हो सकती, क्योंकि हमें जो ज्ञान होता है, वह हमारे मनो और संस्कार दूषित मन में, जो पदार्थों का प्रतिबिम्ब होता है, उसीसे होता है। अर्थात् वह सत्य नहीं है।

(३) योगाचारों के मत में मनके अन्दर जो हमें विज्ञान होता है, वही सत्य है। बाहर के पदार्थ सत्य नहीं हैं, प्रतिभास मात्र है।

(४) माध्यमिकों के मत में, मन का विज्ञान भी आभास मात्र है। अन्दर बाहर कुछ भी सत्य पदार्थ नहीं हैं, शून्य ही केवल सत्य है।

हीनयान पंथ के अनुसार पदार्थों का प्रपच और लोक व्यवहार की उपपत्ति निम्न प्रकार है —
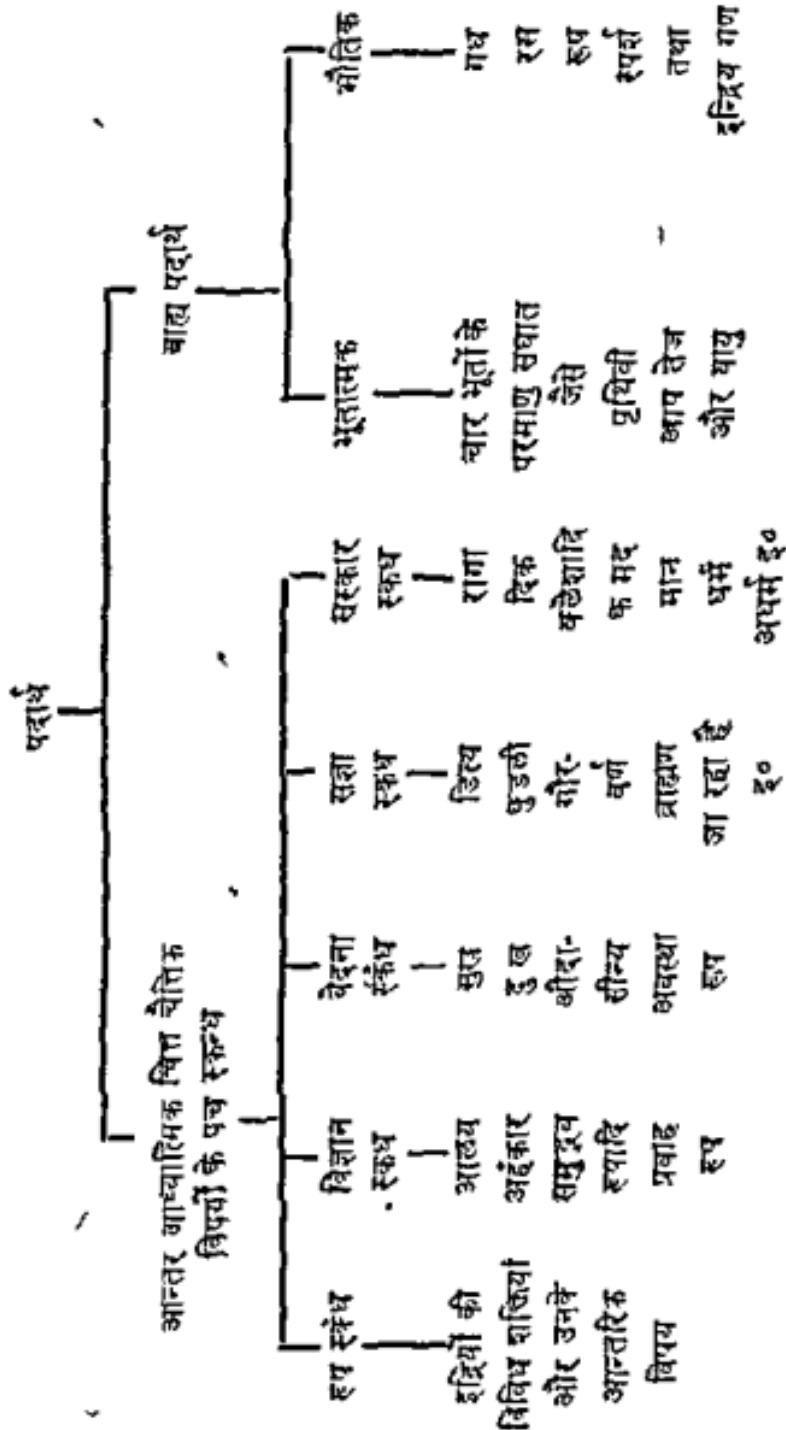
ऊपर कथित पदार्थों की उत्पत्ति और विस्तार तथा लौकिक व्यवहारों की सिद्धि, अविद्या दि सनद् हेतु हेतुमद्भावों के द्वारा होती है, जिसकी प्रणाली इस प्रकार बताई गयी है —अविद्या, सस्कार, विज्ञान, नाम, रूप, षडायतन स्पर्श वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति, जरा मरण शोक, परिदेवना, दु ख, और दुर्मनस्ता। इस कार्यकारण सम्बन्ध को प्रतीत्य समुत्पाद ऐसी पारिभाषिक सज्ञा है। 'प्रतीत्य = कारणानि प्राप्य, कार्यस्य उत्पाद' ऐसी इसकी व्युत्पत्ति है। इसके भी दो विभाग माने गये हैं, जिनके नाम (१) हेतूपनिबधन प्रतीत्य समुत्पाद और (२) प्रत्ययोपनिबधन प्रतीत्य समुत्पाद हैं। पहला साक्षात् कारण रूप है और दूसरा सहकारि या पर्याय से कारण रूप माना गय है।

इस सम्प्रदाय मे चार 'आर्यसत्यों' पर और अष्टांगिक मध्यम मार्ग पर बड़ा ही जोर दिया गया है। चार आर्य सत्य ये हैं —

(१) दु ख सत्य — सांसारिक प्रतिकूल प्रत्यय।

(२) समुदाय सत्य — इन दु खों का कारण तृष्णा है।

(३) निरोध सत्य — इस तृष्णा का और सब दु खों का आत्यतिक नाश यही निर्वाण अवस्था है।

(४) मार्ग सत्य — निर्वाण प्राप्त करने का उपाय।

इसी को अष्टांगिक मध्यम मार्ग कहते हैं जो निम्न में दिया गया है —

(१) सम्यक् दृष्टि — सब दु ख क्षणिक भ्रम रूप हैं, ऐसी दृढ भावना।

(२) ,, संकल्प — कर्म त्याग और प्राणिमात्र पर प्रेम।

(३) ,, वाचा — सच्चा और प्रिय भाषण।

(४) सम्यक् कर्म — निष्पाप आचरण।

(५) „ आजीव — अपनी जीविका, बिना किसी को क्लेश दिये, बनाना।

(६) „ व्यायाम —दुराचार का त्याग और सत्कर्मों का आचरण।

(७) „ स्मृति — हर बात में सावधानता रखना।

(८) „ समाधि — एकाग्रता साध्य करने के लिये ध्यान योग का साधन। इसी को 'अधिचित्त शिक्षा' अथवा 'कुशल समाधि' कहा गया है।

ऐसी एकाग्रता की सिद्धि के अनतर 'अधिप्रज्ञा शिक्षा' याने प्रज्ञालाभ के *लिये प्रयत्न होना अवश्य है जिसके उपरान्त निर्वाण का लाभ बन सकता है।*

क्रमाङ्क (२९) वीर शैव पथ इनके तत्व ऐसे हैं।
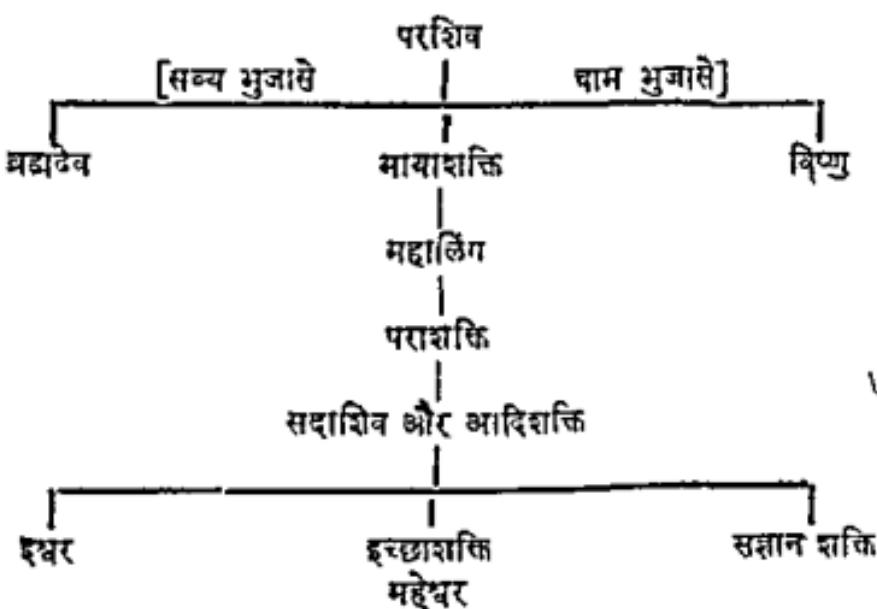
परशिव

[सव्य भुजासे | वाम भुजासे]

ब्रह्मदेव — मायाशक्ति — विष्णु

मायाशक्ति

महालिंग

पराशक्ति

सदाशिव और आदिशक्ति

ईश्वर — इच्छाशक्ति महेश्वर — सज्ञान शक्ति

(पूर्व पृष्ट से अनुवृत्त)

इच्छाशक्ति
महेश्वर

रुद्रब्रह्म
नव प्रजापति -
मरीचि, अत्रि, अंगिरा
पुलस्त्य, पलाश, क्रतु
भृगु, वशिष्ठ और दक्ष

प्रकृति
महत्तत्व
अहंकार
त्रिगुण
पंच महाभूत

इच्छाशक्ति महेश्वर का ही विराट-स्वरूप, स्वर्ग पाताल और चराचर प्रपंच है।

यह एक भक्ति प्रधान सम्प्रदाय है जिसमे शिवार्चना और उपासना का मार्ग ही प्रमुख बताया गया है, जिसके अष्टावरण नामक आठ साधन हैं :- (१) गुर्वाज्ञा परिपालन (२) लिंगपूजा (३) जंगमों का आदर (४) विभूति लेपन (५) रुद्राक्ष धारण (६) पादोदक सेवन (७) प्रसाद भक्षण और (८) 'नमः शिवाय' यह पंचाक्षरी जप। मोक्ष प्राप्ति की छ अवस्थाएँ है, जिनको षट् स्थल कहते हैं जैसे —(१) भक्त (२) महेश (३) प्रसादि (४) प्राणलिंग (५) शरण और (६) ऐक्य, अथवा सायुज्य प्राप्ति।

क्रमाङ्क (३०) भौतिक विज्ञान वादी :

इन पदार्थ विज्ञान शास्त्रियों की गवेषणाएँ, ई० सन के सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से हो रहीं हैं। ई० सन के उन्नीसवीं शताब्दि के आरम्भ तक

मूलतत्त्वों की सख्या लग भग २० ही समझी जाती थी, किन्तु इसी शताब्दि के अन्त में यह सख्या ९२ तक पहुँच गई। तदनन्तर २० वीं शताब्दि के आरम्भ में एक ही विद्युच्छक्ति तत्त्व माना गया है। कुछ ही दिन हुए पश्चिम जगत् के विद्वन्मूर्धन्य गणित शास्त्रज्ञ प्रोफेसर आइनस्टाइन का अनुशोधन है कि इस विश्व को व्यापने वाला एक (Unified Electro-Magneto Field) एकरम विद्युच्चुम्बकीय क्षेत्र है, जिसके ज्वार हिल्लोल, वीचि, तरंग और लहरें ही हमको अनन्त पदार्थों के रूपों से दिखाई दे रही हैं। अणु परमाणु पंच महाभूत, सब उसीके बने हैं। परमाणुओं के भीतर, आश्चर्यकारी विस्फोट शक्ति रहती है, यह बात तो अब बच्चों बच्चों को ज्ञात होगयी है। नित्य वर्धिष्णु ज्ञान के नित्य दूर भागने वाले क्षितिज का उल्लेख उपोद्घात के पृष्ठ क. ४० पर किया गया है। अब प्रश्न यहाँ होता है, कि क्या इन शक्तियों और अनन्त घटनाओं का भी कोइ नियामक एवं प्रशासक है या नहीं? यदि है, तो किस कारण वह अपने कोछु पाता है और उसके ज्ञान से हमें वचित रखता है? इस समस्या पर जगत् के विद्वद्‌ग्रणी अभी निराश नहीं हुए हैं।

आगे भौतिक विज्ञान की गवेषणाओं का एक संक्षिप्त पत्रक, दिया गया है। और अन्त में ज्योतिर्गणित विद्या में पश्चिम के विद्वानों ने अब तक जो प्रगति की है, और हमारे सूर्य मण्डल के जो विशेष खोज निकाले हैं, उसका एक पत्रक आगे जोड़ दिया है, जिसे देख प्रेमी पाठकों को आश्चर्य और प्रसन्नता होगी।

भौतिक-विज्ञान शास्त्र की गवेषणाएँ और सिद्धान्त

प्रमुख गवेषणा पंडितों के कार्य

गवेषणा काल	अनुशोधन या अविष्कार का विषय	गवेषक का नाम, काल, देश और अधिकार
ई. स. १५१५	सूर्य केन्द्र सिद्धान्त	कोपर्निकस (१४७३-१५४३) पोलंड के प्रख्यात ज्योतिर्विद्।
१६३०	बृहस्पति के उपग्रहों तथा सूर्यग्रह पर के काले दागों का शोध। सूर्य केन्द्र सिद्धान्त को भी इन्होंने दोहराया।	गॅलिलियो (१५६४-१६४२) इटली के ख्यात नाम ज्योतिर्विद्।
१६८४	गुरुत्वाकर्षण और उसके नियम।	सर आइजक् न्यूटन (१६४२-१७२७) इंग्लैंड के बड़े गणितज्ञ ज्योतिर्वित् और तत्त्वज्ञ
१६८४	गणित शास्त्र (कॅल्क्युलस) की पद्धति में नया आविष्कार।	जी डब्ल्यु लिबनिट्झ (१६४६ १७१६) जर्मन गणितज्ञ।
१७४३-१७९४	जड़ तत्त्वों की अविनाशिता का सिद्धान्त।	लेव्हॉसिए (१७४३-१७९४) फ्रान्सीसी शास्त्रज्ञ।
१७७४	भाप या इन्जेन और गवर्नर का आविष्कार।	जेम्स वॅाट (१७५४-१८१९) अंगरेज गणितज्ञ।

गवेषणा काल	अनुशोधन या अविष्कार का विषय	गवेषक का नाम, काल, देश और अधिकार
१७८१	'यूरेनस' ग्रह का अनुशोधन।	सर फ्रेड्रिक विलियम हर्शेल (१७३८ १८२२) अंग्रेज ज्योतिर्विद्।
१७९१	प्राणिगत विद्युत् का अनुशोधन।	लिव्हिगी गॅल्व्हनी (१७३७–१७९८) इटली के विज्ञान शास्त्रज्ञ
१८००	परमाणु सिद्धान्त।	डाल्टन (१७६६–१८४४) इग्लैंड के रसायन शास्त्रज्ञ।
१८४०	डायनेमो यन्त्र का शोध।	फॅरडे (१७९१ १८६१) इग्लैंड के बड़े विज्ञान शास्त्रज्ञ।
१८४३	निर्वात नलिका प्रयोग से परमाणू के घटक ऋण विद्युत्कणों का शोध।	सर विल्यम् क्रुक्स (१८३२–१९१९) इग्लॅंड के बड़े भौतिक शास्त्रज्ञ।
१८४६	नेपच्यून ग्रह का अनुशोधन।	इसका अनुशोधन ज्योति शास्त्रज्ञ गैले ने बर्लिन के आवजर्वेटरी में किया।
१८५९	मानव वंश की उत्पत्ति की कल्पना।	चार्लस डार्विन (१८०९–१८८२) इग्लॅंड के निसर्ग शास्त्रज्ञ।
१८६८	डायनामैट का शोध।	आल्फ्रेड बर्नार्ड नोबेल (१८३३–१८९६)।
१८६९	मूल तत्वों का गुरुत्वापेक्ष चक्रिय रूप वर्गीकरण।	मॅंडेलेएफ् (१८३४ – १९०७) रशिया के शास्त्रज्ञ।

[गवे]षणा काल	अनुशोधन या अविष्कार का विषय	गवेषक का नाम, काल, देश और अधिकार
१८७०	प्रकाश औष्ण्य विद्युत और अय स्कांत के गूढ धर्म।	जेम्स क्लार्क मैक्स्वेल (१८३१ १८७९) स्कॉटलैंड के गणितज्ञ वैज्ञानिक। इनकी सूक्ष्म आलोचना भौतिक विज्ञान में फलदायी हुई है।
१८८५	विद्युत्वीचिसंचार, जिसको 'हर्ट्ज़ियन् वेव्ज़' कहते हैं। इससे बिनातार विद्युत्संदेश भेजने का उपक्रम हुआ।	एच आर हर्ट्ज़ (१८५७ १८९४) जर्मन वैज्ञानिक।
१८९५	'क्ष' किरणों का शोध।	रटजेन (१८४५-१९२३) विख्यात जर्मन वैज्ञानिक।
१८९५	मूलद्रव्य युरेनियम् युक्त पदार्थों से 'क्ष' किरणों का निकलना।	हेन्री बेकरेल, पॅरिस विश्व-विद्यालय के प्राध्यापक।
१८९६	बिना तार के विद्युत्संदेश भेजने का आविष्कार। १९०१ में पहला ऐसा सन्देश, न्यूफौन्डलैन्ड और कॉर्नवाल से भेजा गया।	इटली के विद्वान् अन्वेषक जी मार्कोनी (१८७४ .)
१८९७	विद्युत्कणों का अनुशोधन (कहा जाता है कि इन का वजन हाइड्रोजन के परमाणु के $\frac{१}{२०००}$ अंश होता है।	सर जोसेफ थॉम (१८५६ .. ..) इंग्लैंड के वैज्ञानिक।

गवेषणा काल	अनुशोधन या अविष्कार का विषय	गवेषक का नाम, काल, देश और अधिकार
१८९८	रेडियम धातु का शोध।	मॅडेम क्यूरी (......१९३४) तथा उनके पति पियेरे क्यूरी (१८५९-१९०६) फ्रान्स के बड़े वैज्ञानिक।
१९००	परमाणुओं की विद्युन्मय घटना और 'क्ष' किरणों के निकलने से मूल द्रव्य में परिवर्तन की प्रक्रिया।	सर अर्नेस्ट रुदर फोर्ड (१८७१-१९३७) इंग्लैंड के प्रथित यश वैज्ञानिक।
१९०५	'Relativity' अर्थात् सापेक्षता सिद्धान्त, देखिये पृष्ठ १३३ तथा १५०।	आलबर्ट आइन-स्टाइन (जन्म १८७९) जर्मन, गणित शास्त्र विशारद और वैज्ञानिक।
१९१०	विद्युत् कणों का शोध जिनका वजन, हैड्रोजन के १/२००० अंश रहता है।	रॉबर्ट मिलिकॅन अमेरिका के वैज्ञानिक।
१९२५	प्राणि और वनस्पति की जीवन क्रिया में साम्यता की सिद्धि।	सर जगदीश चद्र बोस (१८५८) भारत के वैज्ञानिक।
१९३०	प्लूटो नामक ग्रहका अनुशोधन।	यह अनुशोधन लोवेल आवजर-वेटरी फ्लॅगस्टाफ, ऐरीज़ोना में किया गया।

गवेषणा काल	अनुशोधन या अविष्कार का विषय	गवेषक का नाम, काल, देश और अधिकार
१९३०	पोलोनियम् धातु से उत्पन्न किये हुए हीलियम् धातु कण अथवा आल्फा किरणों से बेरिलियम् धातु पर बम्बारी करने से कृत्रिम किरणों की उत्पत्ति।	बोथ और बेक्कर जर्मन वैज्ञानिक।
१९३२	Heavy Hydrogen or Decoterium, गुरु हैड्रोजन।	डॉ हॅरोल्ड सी यूरे अमेरिका के वैज्ञानिक।
१९३२	लिथियम् परमाणु का दो हीलियम परमाणुओं में विभाजन।	सर अर्नेस्ट रुदर फोर्ड (१८७१-१९३७) इंग्लंड के ख्यातनाम वैज्ञानिक।
१९३२	न्यूट्रॉन का आविष्कार।	केम्ब्रिज की रसायन शाला के वैज्ञानिक चॅडविक्।
१९३३	ऊपर दर्शित प्रकार बोरॉन मग्नीशियम् और ॲल्युमिनियम् की बम्बारी से कृत्रिम किरणों की उत्पत्ति।	मॅडेम क्यूरी की बेटी आयरीनी और उसका पति फ्रेड्रिक जोलियो फ्रान्स के वैज्ञानिक।
१९३५	U-235. विशिष्ट प्रकारके यूरेनियम धातु का शोध।	आर्थर जे डेम्प्स्टर अमेरिका के वैज्ञानिक।
१९३९	यूरेनियम् परमाणु का विदारण और तद् द्वारा अद्भुत शक्ति का आविष्कार।	व्हॉन मीटर फ्रीश और स्ट्रास मन दो जर्मन वैज्ञानिकों का अनुशोधन।

गवेषणा काल	अनुशोधन या अविष्कार का विषय	गवेषक का नाम, काल देश और अधिकार
१९३९	U 235 यूरेनियम् के विशिष्ट प्रकार का अलग करना	डॉ आल्फ्रड ओनेर, अमेरिकन मिनेसोटा विश्व विद्यालय के प्राध्यापक।
१९३९	थोरियम् यूरेनियम् धातुओं की केन्द्रों में बम्बारी Discovery of carriers of Radio activity, 2 Barium	एमिरो फर्मी इटली के वैज्ञानिक।
१९४२	U 239 प्लूटोनियम् की निर्मिति।	न्यूयार्क निवासी अमेरिकन वैज्ञानिकों की सभा।
१९४४	ॲटम बम।	ज आर ओपेन् हीमर कॅलिफोर्निया विश्व वि के प्राध्यापक।
१६ जून १९४५	ॲटमबम् का पहला प्रयोग इसके भयानक स्फोट का धमाका २०० मील तक पहुंचा और उसकी ज्वालाएँ सौ मील तक दिखाई दीं।	अमेरिकन वैज्ञानिकों की सभा ने (लॉस ॲमेलॉस यू मक्सिको स जिसका मुख्य ठिकाना है) यह प्रयोग किया।
६ अगस्त १९४५	ऐटम बम् द्वारा जापानी शहर हिरोशीमा का अधिकांश से ध्वंस।	
१० अगस्त १९४५	ऐटम् बम् द्वारा जापानी शहर नागासाकी का उसी प्रकार ध्वंस।	

हमारा सूर्य मण्डल

इस विशाल ब्रह्माण्ड म कितने सूर्य तथा सूर्य मण्डल हैं, मानव बुद्धि को अभी कोई पता नहीं चला है, और न आगे चलने की कुछ आशा दिखाई देती है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं, कि हमारे सूर्य मण्डल के सम्बन्ध में पश्चिम के ज्योतिर्विदों ने जो अनेक आश्चर्य भरी बातें खोज निकाली हैं, उन्हे देख, कोई भी पुरुष दांतों तले अगुली दबाए रह जाएगा। उनके विषय म अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं। यहाँ पर कुछ थोड़ी ही बातें दिखाई जाती हैं।

हमारे सौर परिवार के प्रमुख ग्रह दस हैं, जैसे —सूर्य, बुध, शुक्र, पृथिवी, मगल, बृहस्पति, शनि, युरे।स, नेप्चून और प्लूटो। छोटे बड़े उपग्रह कितने हैं अभी निश्चय नहीं हुआ है, परन्तु मुख्य उपग्रह सत्ताईस हैं, जैसे - पृथिवी का एक, चन्द्रमा, मगल के दो, बृहस्पति के ग्यारह, शनि के दस, यूरेनस के चार और नप्चून का एक। एव हमारी पारिवारिक प्रधान मण्डली की सख्या सैंतीस होती है।

वर्तमान अनुशोधन से ज्ञात होता है कि मगल और बृहस्पति की कक्षाओं के अन्तराल में, छोटे छोटे उपग्रह हजारों की सख्या में भ्रमण कर रहे हैं। ई सन् १९३६ तक इनकी परिगणना कोई ४४००० तक पहुँच गयी थी। ज्ञात नहीं होता कि इसमें परमात्मा ने क्या रहस्य भर रखा है। अब हमसे निकट सम्बन्ध रखने वाले सौर परिवार की कुछ विशेषताएँ निम्न तालिका म दी जाती हैं —

(६४) सूची पत्र

प्रत्येक महत्व के ग्रन्थ को, और विशेषत वेदान्त जैसे गम्भीर विचार प्रवर्तक ग्रन्थ को, विस्तृत और सम्पूर्णांग सूची पत्र का रहना एक अनिवार्य बात है। इससे अध्ययन शील पाठकों को बडी सहायता मिलती है। परन्तु इस पुस्तक की ऐसी रचना है, कि जिससे सूची पत्र का बहुत सा काम सहज निकल आया है। क्योंकि प्रथम अनुक्रमणिका देखने से ही, ग्रन्थगत अनेक विषयों की अच्छी कल्पना हो सकती है। अथ च ग्रन्थ को चार परिशिष्ट जोड दिये गये हैं, जिससे जिज्ञास्य विषय को ढूँढ लेना बहुत सुकर हो गया है। विशेषत देखिये परिशिष्ट (ई), इस देश में, इतने विविध सम्प्रदाय और पन्थ हुए हैं, और उनके विचारों में इतने मत मतान्तर रहे हैं, कि बिना विस्तृत तालिकाओं के, उनका यथार्थ और तुलनात्मक आकलन नहीं हो सकता। उनके मूल प्रवर्तक ऋषि, मुनि, समर्थक आचार्य, उनके समय, सम्प्रदायों के ग्रन्थ तथा ग्रन्थकार, इत्यादि यथेष्ट विवरण और विश्लेषण, इस परिशिष्ट में किया गया है। साथ ही एक "प्राक्कथन" परिशिष्ट (इ) भी लगाया है। विभिन्न दर्शनों के विशिष्ट तत्त्वों का विवेचन परिशिष्ट (उ) में किया गया है। अत एव इस पुस्तक को बृहत्काय सूची पत्र की आवश्यकता नहीं रही है। तथापि अन्य अनेक विशेषताएँ रहती हैं, जैसे प्रथगत श्रुति स्मृतियों तथा अन्य ग्रन्थों के प्रमाण वचन, उल्लेखनीय विशेष व्यक्तियों के नाम, विविध सिद्धान्त, तथा अनेक पारिभाषिक शब्द, इत्यादि इत्यादि, इनके निमित्त एक पर्याप्त सूची पत्र आगे दिया जाता है। आँकडे पृष्ठ संख्या बताते हैं।